Ph.D THESIS

“समकालीन हिन्दी कविता में बदलते मानवीय संबन्ध : नब्बे के बाद की कविताओं के विशेष संदर्भ में”

SAMAKALEEN HINDI KAVITA MEIN BADALTE MANVIY SANBANDH: NABBE KE BAAD KI KAVITAON KE VISHESH SANDARBH MEIN

Thesis Submitted to

Cochin University of Science and Technology

For the Degree of

DOCTOR OF PHILOSOPHY

In

HINDI

Under the Faculty of Humanities

By

महेष.एस

MAHESH.S

Prof. (Dr.) K. AJITHA

Supervising Teacher

Professor

Department of Hindi

Cochin University of Science and Technology

Kochi-682 022

NOVEMBER 2019

“समकालीन हिन्दी कविता में बदलते मानवीय संबन्ध : नब्बे के बाद की कविताओं के विशेष संदर्भ में”

SAMAKALEEN HINDI KAVITA MEIN BADALTE MANVIY SANBANDH: NABBE KE BAAD KI KAVITAON KE VISHESH SANDARBH MEIN

Thesis Submitted to

Cochin University of Science and Technology

For the Degree of

DOCTOR OF PHILOSOPHY

In

HINDI

Under the Faculty of Humanities

By

महेष.एस

MAHESH.S

Prof. (Dr.) K. AJITHA

Supervising Teacher

Professor

Department of Hindi

Cochin University of Science and Technology

Kochi-682 022

NOVEMBER 2019

DECLARATION

I hereby declare that the work presented in this thesis is entitled **"SAMAKALEEN HINDI KAVITA MEIN BADALTE MANVIY SANBANDH: NABBE KE BAAD KI KAVITAON KE VISHESH SANDARBH MEIN"** based on the original work done by me under the guidance of Dr. K Ajitha, Professor, Department of Hindi, Cochin University of Science and Technology, Cochin-682022 and no part of this dissertation has been included in any other thesis submitted Previously for the award of any degree in any University.

DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE
AND TECHNOLOGY, KOCHI- 682022

MAHESH.S
Research Scholar

Place : Kochi

Date :

CERTIFICATE

This is to certify that this thesis entitled **"SAMAKALEEN HINDI KAVITA MEIN BADALTE MANVIY SANBANDH: NABBE KE BAAD KI KAVITAON KE VISHESH SANDARBH MEIN"** is a bonafide record of work carried out by Mr.MAHESH.S under my supervision for the award of the Degree of Doctor of philosophy of the Cochin University of Science and Technology, Kochi and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any other university. All the relevant corrections and modifications suggested by the audience during the pre-synopsis seminar and recommended by the Doctoral committee of the candidate has been incorporated in the thesis.

Department of Hindi
Cochin University of Science
& Technology
Kochi – 682 022

Prof. (Dr.) K. AJITHA
(Supervising Teacher)

Place: Kochi
Date:

भूमिका

जीव जगत का सर्वाधिक सशक्त व जटिल संबन्ध मानवीय संबन्ध ही है । इतिहास इसका गवाह है कि समय के साथ मानवीय संबन्ध भी बदलता आ रहा है । जहाँ इतिहास इस बदलाव का यथातथ्य वर्णन करता है वहाँ कविता संवेदनात्मक धरातल पर बदलते संबन्धों की बुनियाद को टटोलती है । देखा जाए तो मानवीय संबन्धों के बनते-बिगड़ते विभिन्न संदर्भों व परिदृश्यों से हो कर गुज़रने वाली कविता मानवीय संबन्धों की जटिलता की सशक्त अभिव्यक्ति देती है । कविता की इसी क्षमता के कारण ही उसे कालयात्री कहा जाता है । पर सवाल यह उठता है कि क्या काल के साथ चलने की कविता की यह क्षमता आज भी बिलकुल वैसी है जैसे दो दशक पहले थी ? बहुत ही अहम इस सवाल का जवाब मिलना समकालीन कविता में बदलते मानवीय संबन्धों की अभिव्यक्ति को परखने के लिए नितान्त ज़रूरी है । नब्बे के बाद बुनियादी स्तर पर ही मानवीय संबन्धों का स्वरूप नये सिरे से परिभाषित होना शुरू हुआ था । नब्बे के आसपास रूपायित जटिल वैश्विक परिदृश्य ने मनुष्य के बुनियादी संघीय ढाँचे को तहस नहस कर उसे एक कृत्रिम वस्तुबोध के बीच लाकर खडा कर दिया था । मनुष्य के बुनियादी वस्तुबोध में हुए इस परिवर्तन को समझना समकालीन कविता को समझने की कसौटी है ।

लगातार निर्मित और विनिर्मित हो रहे आभासी यथार्थ के बीच साँस लेने के लिए अभिशप्त मनुष्य के सामने नकली की असलियत कभी उद्‌घाटित न होने की स्थिति लगातार पैदा हो रही है । त्रीजी, फॉरजी कम्यूनिकेशन के चक्कर में पडे उनके सामने प्रस्तुत हो रही कविता की मात्रा में किसी भी युग के मुकाबले इजाफ़ा हुआ है ।

लगातार नये नये काव्य संग्रह निकल रहे हैं और नये कवि परिदृश्य में आ रहे हैं पर समकाल में लिखते हुए भी उन में से कितने कवि और संग्रह समकालिक है इसे पहचानना बेहद ज़रूरी है । प्रस्तुत शोध कार्य में मानवीय संबन्धों में हुए इस जटिल परिवर्तन को समकालीन कविता किस प्रकार मुखातिब करती है उसे समझने का प्रयास किया गया है ।

सबसे पहले समकालीन कविता के बेहद जटिल हो रहे इस संदर्भ की ओर मेरा ध्यान पूज्य गुरुवर डॉ. एम.षण्मुखन जी ने आकृष्ट किया था । अन्य जीव जन्तुओं की अपेक्षा मानवीय संबन्धों के मिथकीय आधार को गहराई से समझने और उसके लगातार कृत्रिम हो रहे परिदृश्य को पूरी विविधता के साथ परखने का वैज्ञानिक आधार उन्होंने ही मुझे प्रदान किया था और पुस्तकें उपलब्ध कराई थी, पर अकस्मात वे हमारे बीच से चले गये । उनके निधन ने जो गहरा खालीपन पैदा किया था वह बहुत समय के बाद भी नहीं भर पाया था । बाद में डॉ. अजिता जी ने मुझे संबल प्रदान किया और उन्हीं के मार्ग दर्शन में आज यह शोधकार्य पूर्ण हो रहा है ।

शोध-प्रबन्ध का पहला अध्याय **"मानवीय संबन्धों का परिदृश्य"** है । प्रस्तुत अध्याय में मानवीय संबन्धों के मिथकीय आधार को विश्लेषित करने के उपरान्त मानवीय संबन्ध मूल रूप से मातृसत्तात्मक रहा है या पितृसत्तात्मक इसका विवेचन करने का प्रयास किया गया है । इसके उपरान्त मातृसत्ता से पितृसत्तात्मक समाज की ओर जो संक्रमण हुआ, उस दौर के मानवीय संबन्धों में हुए उलट फेर को भी रेखांकित किया गया है । अंत में आधुनिक सभ्यता के कारण मानवीय संबन्धों की जैविक स्थिति में दृश्यमान जो गंभीर परिवर्तन है, जिसे कृत्रिम व मौकापरस्ती कहना समीचीन होगा, उसका अध्ययन भी किया गया है । समकालीन समय में मनुष्य की बुनियादी जैविक संवेदनात्मक क्षमतायें जीवन से लगातार बेदखल हो रही हैं और

प्रायोजित संवेदनायें मनुष्य के यथार्थ और अयथार्थ के बीच फर्क करने की क्षमता को लगातार ख़ारिज करती जा रही है। ऐसे में मानवीय संबन्धों के मूलभूत स्वरूप को पहचानना नितान्त ज़रूरी है । धरती में सर्वाधिक जटिल सामाजिक संबन्ध को बनाए रखने वाली मानव प्रजाति की सांस्कृतिक विविधताओं एवं पेचीदगियों को उसकी बुनियादी जैविक सत्तात्मक स्थिति से लेकर व्याख्यायित करने का प्रयास ही प्रस्तुत अध्याय में हुआ है ।

शोध प्रबन्ध का दूसरा अध्याय **"उत्तर औपनिवेशिक संदर्भ और समकालीन हिन्दी कविता"** है । प्रस्तुत अध्याय के प्रारंभ में आधुनिकता, यूरोकेन्द्रित आधुनिकता, एकाधिक आधुनिकता तथा 'पर' की रणनीति के तहत समकालीन उत्तर औपनिवेशिक संदर्भ की जटिलताओं को परखा गया है । समकालीनता को आधुनिकता के रैखिक विकास क्रम के रूप में पहचानने के बरअक्स उसे आधुनिकता के केन्द्रीकरण को विच्छिन्न करने वाले प्रतिवर्चस्व के रूप में पहचानना समकालीनता को सही मायने में समझने के लिए बेहद ज़रूरी है । इस के उपरान्त समकालीन कविता की परिभाषा एवं स्वरूप, नब्बे के बाद की कविता, प्रमुख कवि और समकालीन हिन्दी कविता की बहुस्वरता की चर्चा के तहत समकालीन कविता के विशाल परिदृश्य को समग्रता में समझने का प्रयास किया गया है ।

शोध प्रबन्ध का तीसरा अध्याय **"समकालीन हिन्दी कविता में बदलते पारिवारिक संबन्ध"** है । प्रस्तुत अध्याय में बदल रहे पारिवारिक संबन्धों को समकालीन कविता किस प्रकार अभिव्यक्ति दे रही है उसी की पडताल की गयी है । समकालीन कविता में अभिव्यक्त घर के स्मृति बोध से ले कर घर का आधा सच, माँ-बाप , स्त्री -पुरुष संबन्ध , पति-पत्नी , बेटा-बेटी , भाई-बहन , दोस्त और अनाम संबन्धों के तहत पारिवारिक संदर्भ में हुए परिवर्तनों को रेखांकित करने का प्रयास किया गया

है । समकालीन कविता बेहद सजगता से पारिवारिक संबन्धों में हुए बदलाव के विभिन्न आयामों को अभिव्यक्ति दे रही है। घर के स्मृतिबोध से लेकर परिवार की हर इकाई को दिनोंदिन जटिल हो रही सामाजिक संरचना के बीच से मनुष्यता को पूरी ऊष्मा के साथ समकालीन कविता संवेदित कर रही है। परिवर्तन के इस विशाल मुहिम में मूलभूत संवेदनाओं से बेदखल हो रहे मनुष्य के सामने समकालीन कविता स्मृति बोध का विकल्प प्रस्तुत कर रही है । समकालीन कविता की इसी संदर्भ को गहराई से समझने का प्रयास ही प्रस्तुत अध्याय में किया गया है ।

शोध प्रबन्ध का चौथा अध्याय **"समकालीन हिन्दी कविता में बदलते सामाजिक संबन्ध"** है । प्रस्तुत अध्याय में वर्चस्वशाली कृत्रिम छवियों के बीच अपनी सामूहिकता खोकर भीड में तब्दील हो रहे समकालीन मनुष्य के सामाजिक संबन्धों की त्रासदी को कविता किस प्रकार अभिव्यक्ति दे रही है, उसी की पड़ताल की गई है । समकालीन सामाजिक संबन्ध इस कदर पेचीदा हो चुका है कि उसे समग्रता में उद्घाटित करना लगभग नामुमकिन-सा हो गया है । एक आभासी यथार्थ मनुष्य को यथार्थ और अयथार्थ के बीच लगातार गुमराह करता जा रहा है । प्रौद्योगिकी विकास के साथ उत्तरोत्तर जटिल होती मानवीय सामाजिक संरचना ने आज अपने भीतर अनगिनत वर्चस्ववादी कृत्रिम छवियाँ समेट कर रखी हैं जिसे पहचानना लगातार नामुमकिन भी होता चला जा रहा है, पर कविता जिस धरातल से उठती है वह आज तक कृत्रिम नहीं हो पायी है । इसी कारण समकालीन कविता में वह चेतना शेष है जो मानवता को संबल प्रदान करती है । प्रस्तुत अध्याय में समकालीन कविता को बदलते राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक संदर्भों के तहत विश्लेषित कर कविता की इसी जीवट को पहचानने की कोशिश की गई है ।

शोध प्रबन्ध का पाँचवाँ व अंतिम अध्याय **"समकालीन हिन्दी कविता में लिंगभाव का बदलता स्वरूप"** है । लिंगभाव दरअसल जैविकता के बहाने गठित एक सामाजिक निर्मिति है । मानवीय संबन्धों का मिथकीय स्वरूप सामाजिक जीवन में पुरुष वर्चस्व द्वारा निर्मित पाठों से आधार ग्रहण करता रहता है । इसी कारण उभय लैंगिकता प्रायः सब को सहज प्रतीत होती है । पर यौन संबन्धों में सहज और असहज की कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है । ऐसे में हमारी सहज बुद्धि को प्रश्नांकित करना बहुत ज़रूरी हो जाता है । समकालीन कविता आज यही कर रही है । स्त्री देह की सांस्कृतिक निर्मिति से लेकर किन्नर तथा समलैंगिक संबन्धों तक को जिस हीन दृष्टि से देखने के लिए समाज अभ्यस्त हुआ है उसकी सारहीनता को उजागर करती हुई समकालीन कविता गहरी संवेदनात्मक धरातल पर इन यौन विविधताओं को आवाज़ प्रदान कर रही है । प्रस्तुत अध्याय में इसी लिंगभाव के बदलते स्वरूप को उजागर करने का प्रयास किया गया है ।

इसके उपरान्त उपसंहार है जहाँ लगातार बदल रहे मानवीय संबन्धों को कविता किस प्रकार संवेदित कर रही है उसका निचोड़ प्रस्तुत किया गया है ।

अंत में ग्रन्थ सूची के तहत उन सभी ग्रन्थों, पत्र-पत्रिकाओं तथा ऑन लाईन स्रोतों का उल्लेख है जिनका उपयोग प्रस्तुत शोध कार्य के लिए किया गया है ।

शोध यात्रा के इस आखिरी मुकाम में मन में सुख-दुख की सम्मिश्र भावनायें उठ रही हैं । पता नहीं उन सब के प्रति कैसे कृतज्ञता ज्ञापित करूँ जिन्होंने ऐन वक्त पर हाथ बढ़ाकर तथा साथ देकर प्रस्तुत शोध कार्य को पूर्ण होने का अवसर प्रदान किया है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की आचार्या डॉ. के अजिता जी के निर्देशन में संपन्न हुआ है । षण्मुखन जी के चले

जाने के बाद मेरे अव्यवस्थित मन को उन्होंने ही संबल प्रदान करते हुए फिर से शोध कार्य की ओर प्रवृत्त किया था । उनकी लगातार प्रेरणा, सांत्वना और दिशा निर्देश के परिणाम स्वरूप ही यह अध्ययन पूर्ण हुआ है । मैं उनके प्रति हमेशा आभारी रहूँगा ।

'डॉक्टरल कम्मिट्टी' के विषय विशेषज्ञ डॉ .आर शशिधरन जी का बहुमूल्य सुझाव और प्यार भी मुझे बराबर मिलता रहा । उन्होंने ही मुझे मानवीय संबन्ध को सिद्धान्त की बैसाखियों से हटाकर अपने मूल रूप में पहचानने का सबक सिखाया था। इस अवसर पर मैं उनके प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ ।

आगे विभाग के अन्य सभी गुरुजनों के प्रति मैं आभार प्रकट करता हूँ जिनकी प्रेरणा मुझे सतत मिलती रही है ।

कोच्चिन विश्वविद्यालय तथा श्री शंकराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के सज्जनों के प्रति भी इस अवसर पर मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ । साथ ही कोच्चिन विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के कर्मचारियों के प्रति भी मैं इस अवसर पर कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ ।

जिन पुस्तकों व लेखों ने मुझे प्रस्तुत शोध कार्य को अंजाम देने का काबिल बनाया है उन पुस्तकों व लेखों के रचनाकारों के प्रति भी इस अवसर पर कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ ।

इस शोध कार्य के दौरान मानवीय संबन्धों में दोस्ती की अहमियत को नज़दीकी से महसूसने का अनेक असुलभ अवसर भी मिला है । इस अवसर पर विशेष रूप से मेरे दोस्त धन्या जी का नाम लेना चाहूँगा । समकालीन कविता पर उनसे की गई बहस ने कविता को हर बार नई दृष्टि से देखने की क़ूवत मुझ में जगाई है । उनके प्रति इस अवसर पर मैं आभार प्रकट करता हूँ । साथ ही मेरे अन्य दोस्त षैजा, शरत , विष्णु

और कृष्णप्रिया को भी मैं इस अवसर पर याद करता हूँ । इन सब ने हर हालत में मेरा साथ दिया है उनकी सतत प्रेरणा और प्रोत्साहन हमेशा मुझे मिलता भी रहा है ।

मेरे परिवार के सभी सदस्यों के सामने नतमस्तक हूँ । उनकी कृपा और प्रोत्साहन के प्रति आभार प्रकट कर मैं उऋण होना नहीं चाहता । चाहता हूँ कि यह ऋण हमेशा बना रहे।

अंत में विनम्रता के साथ मैं यह शोध प्रबन्ध "समकालीन हिन्दी कविता में बदलते मानवीय संबन्ध: नब्बे के बाद की कविताओं के विशेष संदर्भ में " सहृदय विद्वानों के समक्ष पी.एच.डी की उपाधि के लिए समर्पित करता हूँ ।

सविनय,

महेष. एस
शोधार्थी
हिन्दी विभाग
कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी
विश्वविद्यालय
कोच्चिन -682022

तारीख :

अनुक्रमणिका

अध्याय एक **1-62**

मानवीय संबन्धों का परिदृश्य

1.1 मानवीय संबन्धों का जैविक आधार

1.1.1 मानवीय संबन्धों की दिमागी जडें

1.1.2 करुणार्द्रता की दिमागी जडें (गाँधी तंत्रिका)

1.1.3 नृशंसता की दिमागी जडें

1.1.4 दिमाग ने जिनोम (Genome) को बाइपास किया

1.1.5 प्रेम का मस्तिष्क पक्ष

1.1.5.1 स्वच्छंद प्रेम (Romantic Love)

1.1.5.2 मातृ-शिशु सहसंबन्ध सिद्धान्त (Attachment theory)

1.2 संस्कृति का रूपायन

1.2.1 संस्कृति : अर्थ एवं स्वरूप

1.2.2 लेवी स्त्रोस के संरचनात्मक नृतत्व शास्त्र के अनुसार संस्कृति का उद्भव

1.2.3 मातृसत्तात्मक समाज और संस्कृति का उद्भव

1.2.3.1 मातृसत्तात्मक समाज का जैविक आधार

1.2.3.2 मानव संबन्ध : प्रभुता का सवाल

1.2.3.3 भारत में मातृसत्तात्मक समाज

1.3 पितृसत्तात्मक समाज

1.3.1 मातृसत्तात्मक समाज से पितृसत्तात्मक समाज की ओर

1.3.2 कृषि समाज का रूपायन

1.3.3 उपासना पद्धतियाँ

1.3.3 1 उपासना पद्धतियों का संस्थानीकरण

1.3.4 सरदारी संप्रदाय

1.3.5 जनपद राज्यों का उदय

1.3.6 साम्राज्यवाद

1.4 नवजागरण

1.5 समकालीन समय और बदलते मानवीय संबन्ध

1.5.1 राष्ट्र-राज्य और समसामयिकता

1.5.2 संस्कृति का उत्तर संदर्भ

1.5.3 तकनीकी क्रान्ति और मानवीय संबन्ध

निष्कर्ष

अध्याय दो **63-122**

उत्तर औपनिवेशिक संदर्भ और समकालीन हिन्दी कविता

2.1 उत्तर औपनिवेशिक संदर्भ और भारतीय समकालीनता

2.1.1 आधुनिकता

2.1.2 एकाधिक आधुनिकता

2.1.3 यूरो केन्द्रित आधुनिकता

2.1.4 आधुनिकीकरण और 'पर' की रणनीति

2.1.4.1 भूमंडलीकरण और 'पर' की रणनीति

2.2 समकालीन हिन्दी कविता

2.2.1 समकालीन हिन्दी कविता : परिभाषा एवं स्वरूप

2.2.2 समकालीन हिन्दी कविता की समय सीमा

2.2.3 नब्बे के बाद की कविता

2.3 समकालीन हिन्दी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर

2.3.1 केदारनाथ सिंह

2.3.2 चंद्रकान्त देवताले

2.3.3 लीलाधर जगूड़ी

2.3.4 भगवत रावत

2.3.5 अशोक वाजपेयी

2.3.6 विनोद कुमार शुक्ल

2.3.7 राजेश जोशी

2.3.8 मंगलेश डबराल

2.3.9 वीरेन डंगवाल

2.3.10 ज्ञानेंद्रपति

2.3.11 आलोकधन्वा

2.3.12 मनमोहन

2.3.13 उदय प्रकाश

2.3.14 अरुण कमल

2.3.15 एकांत श्रीवास्तव

2.3.16 कुमार अंबुज

2.3.17 अग्निशेखर

2.3.18 पवन करण

2.3.19 विष्णु नागर

2.3.20 अनामिका

2.3.21 कात्यायनी

2.3.22 नीलेश रघुवंशी

2.3.23 निर्मला पुतुल

2.3.24 ओमप्रकाश वाल्मीकि

2.4 समकालीन हिन्दी कविता की बहुस्वरता

2.4.1 कविता के राजनीतिक सरोकार

2.4.2 स्त्री कविता

2.4.3 दलित कविता

2.4.4 आदिवासी कविता

2.4.5 कविता में पारिस्थितिकी

निष्कर्ष

अध्याय तीन **123-200**

समकालीन हिन्दी कविता में बदलते पारिवारिक संबन्ध

3.1 परिवार का बदलता स्वरूप

3.1.1 समकालीन कविता में घर का बदलता स्वरूप

3.1.2 समकालीन कविता में घर का स्मृति बोध

3.1.3 समकालीन कविता में घर का आधा सच

3.2 समकालीन कविता में माँ

3.2.1 स्मृति बोध में माँ

3.3 समकालीन कविता में पिता

3.3.1 समकालीन कविता में पिता की घिसती घड़ी

3.4 समकालीन कविता में स्त्री-पुरुष संबन्ध

3.4.1 समकालीन कविता में प्रेम और कामुकता

3.5 समकालीन कविता में पति-पत्नी संबन्ध

3.5.1 पति-पत्नी संबन्धों के बीच बढ़ती खाली जगह

3.5.2 समकालीन कविता में संबन्धों के जायज़ का सवाल

3.6 समकालीन कविता में बेटी

3.6.1 'बेटी' संवेदनाओं का पुंज

3.6.2 'बेटी' वर्जनाओं के बीच

3.6.3 समय से लड़ती 'बेटी'

3.7 समकालीन कविता में भाई-बहन

3.8 समकालीन कविता में दोस्त

3.9 समकालीन कविता में अनाम मानवीय संबन्ध

निष्कर्ष

अध्याय चार **201-271**

समकालीन हिन्दी कविता में बदलते सामाजिक संबन्ध

4.1 समकालीन कविता में बदलते राजनीतिक संदर्भ

4.1.1 मनुष्य का इत्यादि में बदलने की राजनीतिक समझ

4.1.2 राजनीति और बाज़ार की मिलीभगत का प्रतिरोध

4.1.3 सांप्रदायिक राजनीति का प्रतिरोध

4.2 उदारीकरण के दौर में बदलते मानवीय संबन्ध

4.2.1 कविता में वैश्वीकरण का यथार्थ

4.2.2 बाज़ार हिंसा का स्थल

4.2.3 अमेरिकीकरण का हौआ

4.2.4 बाज़ार और पर्यावरण

4.3 समकालीन कविता में बदलते सांस्कृतिक संदर्भ

4.3.1 समकालीन कविता में सांस्कृतिक संकट

4.3.2 आभासी यथार्थ और समकालीन कविता

4.3.3 विज्ञापन और समकालीन कविता

4.3.4 समकालीन कविता में जनप्रिय संस्कृति और लोक संस्कृति

निष्कर्ष

अध्याय पाँच **272-305**

समकालीन हिन्दी कविता में लिंगभाव का बदलता स्वरूप

5.1 समकालीन कविता में स्त्री देह की राजनीति

5.1.1 बाज़ार और स्त्री देह

5.2 लिंगभाव का बदलता स्वरूप

5.3 समकालीन कविता में किन्नर जीवन का यथार्थ

5.4 समकालीन कविता में समलैंगिक संबन्ध

निष्कर्ष

उपसंहार **306-319**

परिशिष्ट **320-322**

संदर्भ ग्रन्थ सूची **323-351**

अध्याय एक

मानवीय संबन्धों का परिदृश्य

आदिम मानव समाज से लेकर समकालीन मानव समाज तक के मानवीय संबन्धों का इतिहास सरलता से निरंतर जटिल बनते जाने की महा-गाथा है । जीव-जगत में मानवेतर प्राणियों की सामाजिक संरचना प्रमुख रूप से "जीनों" द्वारा निर्धारित होती है । संज्ञानात्मक क्रान्ति (Cognitive Revolution) के बाद मनुष्य मस्तिष्क ने वह क्षमता अर्जित की जिसके चलते मनुष्य ने जीनों के उसूलों के बाहर अपने सामाजिक संबन्धों को लचीले ढंग से रूपायित करने की दक्षता प्राप्त की। इसके लिए 'मिथक' मानव मस्तिष्क का कारगर औजार साबित हुआ । संज्ञानात्मक क्रान्ति के बाद मनुष्य के दिमाग ने जिन मिथकीय परिकल्पनाओं का आविष्कार किया उन परिकल्पनाओं ने जीव जगत के सारे उसूलों को अपने हिसाब से पूनर्व्याख्यायित करने की क्षमता उसे प्रदान की, जिसके चलते मानवीय संबन्ध विश्वपटल पर पर्याप्त विविधताओं के साथ आविष्कृत होने लगा । कल्पना पर आधारित मिथकों से मनुष्य अपने सामाजिक संबन्धों में क्रांतिकारी परिवर्तन लाया। सामाजिक संरचना की यह मिथकीय परिकल्पना समय के साथ जटिलतर रूप धारण करती गयी । बुनियादी तौर पर इन मिथकीय परिकल्पनाओं के रूपायन में मनुष्य के अंतरंग संबन्धों की महत्ती भूमिका रही थी। धीरे-धीरे वह प्रतीक एवं बिम्ब विधानात्मक प्रणाली के चलते कृत्रिम रूप धारण करता गया । पर्याप्त विविधताओं के साथ विश्व रंगमंच पर प्रस्तुत हो रही मानवीय संस्कृति आज बहुत सारी गुँथियों को अपने में समाहित की हुई है। मानवीय संबन्धों की इस जटिल रूप को समझने के लिए उसे बुनियादी जैविक आधार से लेकर विश्लेषित करना अनिवार्य है ।

1.1 मानवीय संबन्धों का जैविक आधार

पृथ्वी पर मानव का आविर्भाव अनुमानतः पच्चीस लाख साल पहले हुआ था । (यहाँ मानव से मतलब पूरे मानव प्रजातियों से है) पूरे विश्व के इतिहास में यह पच्चीस लाख साल अन्य जीव जन्तुओं को अपने नस्ल विकसित करने के लिए उपलब्ध सालों

की अपेक्षा बहुत कम रहा है । फिर भी इस कम समय-सीमा के तहत मानव दुनिया की आहार श्रेणी में सबसे ऊपर का स्थान ग्रहण कर सका है । मानव के त्वरित व वैविध्यपूर्ण विकास प्रक्रिया का इतिहास विश्व के इतिहास में सबसे बेजोड है । मानव-इतिहास में प्रारंभिक 20 लाख साल अपने अस्तित्व को बनाये रखने एवं स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका रखते हैं । फिर भी वे वन मानुष की विभिन्न प्रजातियों के रूप में अन्य जीव जन्तुओं से संघर्ष करते हुए आहार श्रेणी के निम्नतर स्थान पर बने रहे । अब तक प्राप्त जानकारियों के अनुसार मानवप्रजातियों में प्रमुख रहे हैं- आसत्रेलिऑपित्तकस, होमोनिएंडरथाल्स, होमो इरेक्टस, होमो सॉलाइनसीस, होमो फ्लॉराइसीस, होमो डेनिसॉआ, होमो सेपियन्स आदि । इन प्रजातियों को एक के बाद एक करके श्रेणीबद्ध विकास प्रणाली के तहत समझने की भूल प्रायः सभी करते हैं । लेकिन सच्चाई यह है कि इन विभिन्न प्रजातियाँ 20 लाख सालों तक दुनिया के विभिन्न स्थानों पर अधिक समय सीमा के अंतराल के बिना गुज़ारा करती रहीं । युवल नोआ हरारी के अनुसार -"यह एक आम भ्रान्ति है, जिसके तहत इन प्रजातियों की एक सीधी वंशावली के रूप में कल्पना की जाती है, और माना जाता है कि एर्गस्टर ने इरेक्टस को जन्म दिया, इरेक्टस ने निएंडरथल्स को जन्म दिया और निएंडरथल्स हमारे रूप में विकसित हुए । यह एकरैखिक मॉडल इस ग़लत धारणा को जन्म देता है कि किसी एक ख़ास क्षण में सिर्फ किसी एक ही क़िस्म के मनुष्य पृथ्वी पर रहते थे।"[1]

धीरे-धीरे 'योग्य जन जीता है' सिद्धान्त (Survival of the fittest) के अनुसार होमो सेपियन उत्तरजीवित (Survive) रह सका और अन्य मानव प्रजातियाँ अब से 10,000 साल पहले के करीब पृथ्वी से पूर्णरूप से ही विलुप्त हो गयीं। होमो सेपियन के उत्तरजीवित रहने के कारणों में सर्वाधिक प्रमुख रहा है उनकी अतुलनीय सामाजिक क्षमता । युवाल नोआ हरारी के अनुसार "बच्चों को बडा करने में परिवार

[1] युवाल नोआ हरारी (अनु.मदन सोनी) - सेपियन्स मानव-जाती का संक्षिप्त इतिहास –पृ.सं 16

के अन्य सदस्यों और पडोसियों की निरन्तर मदद जरूरी होती थी । मनुष्य को बडा करने में एक पूरा कुटुम्ब लगता है । इस तरह विकास ने उन लोगों का साथ दिया, जो मजबूत सामाजिक बन्धन गढ़ने में सक्षम थे।"[1] इस प्रकार मानव शिशु परिवार के अन्य सदस्यों से लगातार परवरिश की अपेक्षा रखती है और इसी कारण से उत्परिवर्तन ने उन्हीं मानव जातियों का पक्ष लिया जो सशक्त सामाजिक संबन्धों को रूपायित कर सके। सशक्त सामाजिक संबन्धों के अनुकूल आनुवांशिक उत्परिवर्तन (Genetic Mutation) होमोसेपियन के उत्तरजीवित रहने का प्रमुख कारण है। इस आनुवांशिक उत्परिवर्तन के मूल कारण युवाल नोआ हरारी के अनुसार अब तक अज्ञात है । वे इसे 'ज्ञान-वृक्ष परिवर्तन' की संज्ञा देते हैं (ट्री ऑफ नोलड्ज म्यूटेशन) उनके अनुसार "आकस्मिक जेनेटिक उत्परिवर्तनों (म्यूटेशन्स) ने सेपियन्स के मस्तिष्क की अन्दरूनी वायरिंग को बदलकर उनको अपूर्व ढंग से सोचने और सर्वथा नई भाषा का इस्तेमाल करते हुए सम्प्रेषण करने में सक्षम बना दिया। हम इसे ज्ञान-वृक्ष परिवर्तन की संज्ञा दे सकते हैं।"[2] इस आकस्मिक जनेटिक उत्परिवर्तन का सर्वाधिक असर मानव मस्तिष्क पर ही पडा है । मानव शिशु का मस्तिष्क जन्म से ही इतना अधकच्चा और लचीला रहता है कि उसे किसी भी तरह परिवर्तित किया जा सकता है । जहाँ अन्य जीव जन्तुओं का सामाजिक संबन्ध उनके जिनोम (Genome) पर लगभग पूर्ण रूप से आधारित होते हैं वहीं मानव के सामाजिक संबन्ध जैविक उद्विकास क्रम में अधिकांशतः परवरिश और सामाजीकरण प्रक्रिया पर आधारित हो कर रूपायित होने लगे । इस प्रकार उद्विकास क्रम के दौरान मानव अन्य जीव-जन्तुओं से अलग होकर बहुत सारी अद्वितीय क्षमताओं को अर्जित कर सका । ये अद्वितीय क्षमतायें मानव अपने विशिष्ट मस्तिष्क संरचना के बदौलत ही अर्जित कर सका है ।

[1] युवाल नोआ हरारी (अनु.मदन सोनी) - सेपियन्स मानव-जाती का संक्षिप्त इतिहास –पृ.सं 19
[2] युवाल नोआ हरारी (अनु.मदन सोनी) - सेपियन्स मानव-जाती का संक्षिप्त इतिहास –पृ.सं 29

1.1.1 मानवीय संबन्धों की दिमागी जडें

विश्व के अन्य जीव-जन्तुओं की अपेक्षा शरीर और खोपडी के अनुपात में सर्वाधिक अंतर मनुष्य में पाया जाता है। 20 लाख साल पहले पृथ्वी पर रहने वाले हमारे पूर्वज होमो इरक्टस के मस्तिष्क से दुगुना बडा है हमारा मस्तिक। मस्तिष्क का यह जटिल विकास ही मानव संस्कृति के विकास का आधार है। मस्तिष्क के इस प्रकार बडे होने की प्रक्रिया ने एक प्रजाति होने के नाते मनुष्य के उत्तरजीवित होने की संभावनाओं के सामने सर्वाधिक चुनौती ख़डी की। शरीर के अनुपात से बडी खोपडी और दोनों पैरों पर उठ कर सीधे चलने की क्षमता (उदग्रचारिता और द्विपदीयता) ने मानव 'क्रम विकास' के इतिहास में एक बेहद जटिल समस्या उत्पन्न की। दोनों पैरों पर चलने वाली जीव जन्तुओं की कमर का विस्तार सीमित होता है। गर्भवती स्त्री के गर्भ से बडी खोपडी वाले बच्चे को बाहर निकालने के लिए मौजूद छिद्र खोपडी के अनुसार विकसित नहीं हो पाया। छिद्र का विकास एक अनुपात से अधिक होना भी समस्या खडी करती है । गर्भपात्र में मौजूद बच्चे के वजन से शरीर में जो दबाव उत्पन्न होता है वह दोनों पैरों पर सीधे चलने वाले जीवियों पर सबसे अधिक होता है । गुरुत्वाकर्षण शक्ति को रोकने के लिए गर्भपात्र के अंदर की परत ही पर्याप्त नहीं । अगर कमर की हड्डी का छिद्र बडा हो तो समय से पहले ही बच्चे के बाहर आने की संभावना है।[1] किसी भी जीव जन्तु के प्रसव तथा उससे जुडी समस्याओं का गंभीर होना उस जीव जन्तु की प्रजाति का हमेशा केलिए लुप्त हो जाने का सबसे प्रमुख कारण हो सकता है। "जैविक विकास क्रम के इतिहास में इस से पहले कभी न उत्पन्न होने वाली एक समस्या मानव प्रसव प्रक्रिया की जटिलता ने खडी की। प्रसव के साथ माँ और बच्चे की मौत की स्थिति को सबसे विचित्र घटना क्रम के रुप में देखा जा

[1] जीवन जॉब थॉमस - रतिरहस्यम् - पृ.सं 147

सकता है।"[1] उत्तरजीवित रहने केलिए इस संदर्भ में आनुवांशिक उत्परिवर्तन अवश्यमभावि थी। अन्य प्रजातियों की अपेक्षा मानव में यह उत्परिवर्तन एक अलग तरह से संघटित हुआ। मनुष्य के मस्तिष्क में सर्वाधिक विकास फ्रांटल लॉब (Frontal Lobe) का हुआ है, यही फ्रांटल लॉब मनुष्य के संज्ञानात्मक क्षमता (Cognitive ability) का आधार है। यानि मनुष्य के सोचने- समझने और निर्णय लेने की क्षमता मूल रुप से फ्रांटल लॉब के माध्यम से संपन्न होती है। एक तरफ फ्रांटल लॉब के विकास ने प्रसव को जटिल बनाया वहीं फ्रांटल लॉब ने प्रकारान्तर से मानव संबन्धों को तीव्र और गहन बना दिया।

मनुष्य में संज्ञानात्मक क्रान्ति कब से शुरु हुई यह लगभग निश्चित हुआ है । युवाल नोआ हरारी के अनुसार 70,000 साल पूर्व से लेकर 30,000 साल पूर्व के दर्मियान संज्ञानात्मक क्रांति घटित हुई है। युवाल नोआ हरारी इसे 'ट्री ऑफ नॉलड्ज म्यूटेशन' पुकारते हैं । (Tree of Knowledge mutation) भारतीय मूल के प्रसिद्ध तंत्रिका वैज्ञानिक (Neuroscientists) विलयनर एस रामचन्द्रन ने भी संज्ञानात्मक क्षमताओं में हुए परिवर्तन की समय सीमा को लगभग यहीं निशचित किया है ।[2] उन्होंने मनुष्य के मस्तिष्क में हुए संज्ञानात्मक क्षमता के इस परिवर्तन को प्रतिरूप तंत्रिकाओं के (Mirror Neurons) उद्भव से जोडकर व्याखायित किया है। उनके अनुसार प्रतिरूप तंत्रिकाओं का उद्भव ही मानवीय सामजिक संबन्ध प्रगाढ होने का कारण बना है । वे इन प्रतिरूप तंत्रिकाओं को 'गाँधी तंत्रिका' नाम से अभिहित करते हैं ।

[1] जीवन जॉब थॉमस – रतिरहस्यम् पृ.सं 148

[2] http://www.ted.com/talks/vsramachandran the neurons that shaped civilization

1.1.2 करुणार्द्रता की दिमागी जडें (गाँधी तंत्रिका)

विलयनर एस रामचन्द्रन के अनुसार 'गाँधी तंत्रिका' या प्रतिरूप तंत्रिका ही मानवीय संबन्धों का मूल आधार है । मनुष्य के क्रम विकास में प्रतिरूप तंत्रिकाओं के रूपायन ने ही मानवीय संबन्धों को प्रगाढ बनाया है।[1] प्रसन्न कुमार चौधरी कहते हैं - "प्रतिरूप-तंत्रिकाओं के भी कई रूप हैं और ये मस्तिष्क के कई हिस्सों में पाई जाती हैं । एक ऐसी ही तंत्रिका है संवेदी पीडा तंत्रिका। यह तंत्रिका ना सिर्फ अपने शरीर की त्वचा से प्राप्त पीडा-संवेदनाओं पर क्रियाशील होती है, बल्कि दर्द से पीड़ित किसी दूसरे व्यक्ति को देखने पर भी सक्रिय हो उठती है । रामचंद्रन इसे गाँधी तंत्रिका की संज्ञा देते हैं, क्योंकि इस स्थिति में स्वयं और अन्य का भेद रूपक के तौर पर ही नहीं, बल्कि सचमुच, वस्तुगत रूप से भी मिट जाता है।"[2] प्रतिरूप तंत्रिका दूसरे व्यक्ति की पीडा से सहानुभूति और समानुभूति का मूलभूत कारण है। उदाहरण के तौर पर देखा जाये तो किसी दूसरे को चोट आने पर हमें भी वह दर्द महसूस होता है । कवि इसी लिए कहते हैं - वियोगी होगा पहला कवि / आह से उपजा होगा गान / निकल कर आँखों से चुपचाप / बही होगी कविता अनजान ।[3] इसी कारण ही रामचंद्र शुक्ल भाव और मनोविकारों में करुणा को प्रथम गणनीय स्थान दिया है । इसी करण ही कवि को रुदितानुसारी कहा गया है । साहित्य कला और सौंदर्य का मूल करुणा अकारण नहीं बनी है । मानवीय जैविक क्रम विकास में प्रतिरूप तंत्रिका के संवेदी पीडा तंत्रिका से मस्तिष्क में करुणा का आविर्भाव और उससे मानवीय संबन्धो में आये प्रगाढ संबन्ध अब स्पष्ट रूप से हमारे सामने है।

---

[1] http://www.ted.com/talks/vsramachandran the neurons that shaped civilization

[2] प्रसन्न कुमार चौधरी – अतिक्रमण की अंतर्यात्रा - पृ.सं 68

[3] सुमित्रनंदन पंत

1.1.3 नृशंसता की दिमागी जडें

मनुष्य मूलतः करुणार्द्र है या नृशंस यह बेहद वाद विवाद का विषय है । टेरी ईगल्टन जैसे विद्वान मानव प्रकृति को मूलतः नृशंस करार देते हैं उनके अनुसार " In a broader sense of the world, to be sure, terrorism is as old as humanity itself. Human beings have flaying and butchering one another since the dawn of time" [1] अर्थात विशाल परिप्रेक्ष्य में आतंक मानवीयता तक पुराना है । मनुष्य ने एक दूसरे की खाल उतारने और टुकडे-टुकडे करने की प्रक्रिया मानवता के शुरुआती दौर में ही प्रारंभ की थी । गाँधी तंत्रिका की बात करने वाले वी एस रामचंद्रन भी प्रतिरूप तंत्रिकाओं की क्रियाशीलता को निरस्त करने की दिमाग की क्षमता को कम करके नहीं देखते हैं । वी एस रामचंद्रन की हवाला देते हुए प्रसन्न कुमार चौधरी कहते है -"अगर हम किसी व्यक्ति को घुटने के दर्द से (या किसी अन्य दर्द से) पीडित देखते हैं, तो हमारे मस्तिष्क के सम्बन्धित क्षेत्र में स्थित प्रतिरूप तंत्रिकाएँ भी क्रियाशील हो उठती हैं मानों हमारे घुटनों में ही दर्द हो रहा हो, यहाँ स्व और अन्य का भेद मिट जाता है । बहरहाल, हमारे घुटनों पर स्थित ग्राही संवेदकों से मस्तिष्क के उच्चतर क्षेत्रों को यह सूचना संप्रेषित होती है कि वहाँ सब ठीक है, दर्द जैसी कोई बात नहीं । घुटनों से दर्द की सूचना का अभाव प्रतिरूप तंत्रिकाओं की क्रियाशीलता को निरस्त कर देता है -मानो मस्तिष्क के उच्चतर निर्णायक क्षेत्र प्रतिरूप तंत्रिकाओं से कह रहे हों, ठीक है, पीडित व्यक्ति के दर्द से सहानुभूति प्रकट करो, लेकिन उस दर्द को खुद महसूस करने की जरूरत नहीं , क्योंकि तुम्हारे घुटने सही-सलामत हैं।"[2] किसी जीव जंतु की हत्या करते हुए सहज रूप से हमारे हाथ-पाँव अगर काँपते हैं तो उस के पीछे यहीं प्रतिरूप तंत्रिकाएँ काम करती हैं। पर हत्या करने का ठान लेने पर तथा दो तीन बार हत्या करने पर हाँथ फिर नहीं काँपेगा। उसी प्रकार किसी पर गोली दाग़ना हमारे

[1] Eagelton Terry - Holy Terror - kindle edition - Page 1
[2] प्रसन्न कुमार चौधरी – अतिक्रमण की अंतर्यात्रा - पृ.सं .68-69

दिमाग की सहज प्रवृत्ति न होने पर भी प्रशिक्षण तथा परिवेश से दिमाग की प्रतिरूप तंत्रिकाओं को निरस्त करने में हम माहिर हो सकते हैं । कहने का तात्पर्य यही है कि मानवीय उद्विकास क्रम में मानव मस्तिष्क किसी एक मुश्त ढाँचे में नहीं ढला है । उसे बेहद विरुद्ध प्रणालियों के तहत विकसित किया जा सकता है। जिनोम (Genome) द्वारा निर्धारित चारित्रिक विशेषताओं को पार करने की मानव मस्तिष्क की यही क्षमता विभिन्न प्रकार के मानवीय संबन्धों का मूल आधार है।

1.1.4 दिमाग ने जिनोम (Genome) को बाइपास किया

जीव जगत की चारित्रिक विशेषताओं का मूल आधार जिनोम होता है । जिनोम के डीएनए ही प्राणी की चारित्रिक विशेषताओं को परिवेश के अनुरूप सहज रूप से प्रस्फुटित कराते हैं । मनुष्य से इतर हर प्राणियों का सामाजिक संबन्ध लगभग पूर्ण रूप से ही जिनोम द्वारा नियंत्रित है। इसका मतलब यह नहीं कि जिनोम एक तानाशाह है। परिवेश के अनुरूप जिनोम में उत्परिवर्तन घटित होते रहते हैं पर उसकी गति बहुत धीमी होती है । युवाल नोआ हरारी कहते हैं-"अन्य सामाजिक प्राणियों का व्यवहार काफी हद तक उनके जीन से निर्धारित होता है डीएनए कोई तानाशाह नहीं है । प्राणियों का व्यवहार पर्यावरण सम्बन्धी कारकों और वैयक्तिक विशिष्टताओं से भी प्रभावित होता है । तब भी, एक प्रदत्त परिवेश में एक प्रजाति के प्राणी समान ढंग से आचरण करने की ओर प्रवृत्त होंगे । सामाजिक आचरण में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन, सामान्य तौर पर, आनुवांशिक परिवर्तनों (म्यूटेशनों) के बगैर घटित नहीं हो सकते।"[1] कल्पना पर आधारित मिथकों के बदौलत मनुष्य ने अपने सामाजिक संबन्धों में जिनोम के उसूलों के परे क्रांतिकारी परिवर्तन लाया। युवाल नोआ हरारी के शब्दों में - "संज्ञानात्मक क्रान्ति के बाद होमो सेपियन्स बदली हुई ज़रूरतों के मुताबिक, अपने व्यवहार में तेज़ी से बदलाव लाने में सक्षम हुए हैं । इस चीज़ ने सांस्कृतिक विकास का

[1] युवाल नोआ हरारी (अनु.मदन सोनी) - सेपियन्स मानव-जाती का संक्षिप्त इतिहास –पृ.सं 42

एक तेज़ रास्ता खोल दिया, जिस पर जेनेटिक विकास के ट्रैफ़िक जाम को बाइपास करते हुए चला जा सकता था। इस तेज़ मार्ग पर चलते हुए होमो सेपियन्स ने परस्पर सहयोग की अपनी योग्यता में दूसरे मानवों और अन्य प्राणियों को पीछे छोड दिया।"[1] निष्कर्षतः कह सकते हैं कि संज्ञानात्मक क्रान्ति के बाद मनुष्य के दिमाग ने जिस मिथकीय परिकल्पनाओं का आविष्कार किया असने जीव जगत के सारे उसूलों को अपने हिसाब से पूनर्व्याख्यायित करने की क्षमता मनुष्य को प्रदान किया, जिस के चलते मानवीय संबन्ध विश्वपटल पर पर्याप्त विविधताओं के साथ आविष्कृत होने लगा।

1.1.5 प्रेम का मस्तिष्क पक्ष

तीव्र और गहन संबन्ध प्रेम युग्मों के बीच स्थायी होना मानव की उत्तरजीविता के लिए नितान्त अनिवार्य है। दूसरे जीव जन्तुओं की तरह स्त्री के गर्भ धारण के बाद पुरुष अन्य स्त्रियों की तलाश में चले जायेंगे तो नितान्त असहाय होकर जनमने वाले मानव शिशु और प्रसव की जटिलता के चलते स्त्री की उत्तरजीविता का दर बहुत कम हो जायेगा। इसी कारण उत्तरजीविता के लिए प्रेम युग्मों में संबन्धों की तीव्रता एक आनुवांशिक उत्परिवर्तन के रूप में मानव में संघटित हुआ। जहाँ अन्य जीव जन्तुओं का प्रेम संबन्ध जैविक धरातल की बुनियादी उसूलों पर आधारित है वहाँ मानवीय प्रेम संबन्ध जैविक धरातल को पार कर विकसित हुआ।

इस प्रकार प्रेम युग्मों के संबन्धों की तीव्रता के लिए संपन्न उत्परिवर्तन ने प्रकारान्तर से मानव संबन्धों के प्रत्येक स्तर को प्रभावित किया। मशहूर नृतत्वशास्त्री हेलन फिशर मानव मस्तिष्क में अंकुरित प्रेम के तीन स्तर मानती हैं –'काम, रतिजन्य आकर्षण और प्रतिबद्धता' (Lust, Romantic attraction and attachment),

[1] युवाल नोआ हरारी (अनु.मदन सोनी) - सेपियन्स मानव-जाती का संक्षिप्त इतिहास –पृ.सं 42

मस्तिष्क में प्रेम के ये तीन घटक ही प्रकारांतर से अन्य प्रेम संबन्धों का रूप धारण करते हैं। उनके अनुसार "When nature makes a good design, she uses it over and over. And it is possible that almost all types of human love from love of god to maternal love to brotherly love to all the other subtle varieties of human love are variations of these three basic brain system mixing in myriad ways with one another and with other brain network."[1] अर्थात जब कुदरत एक अच्छा डिजाइन बनाती है तो उसे बार बार दोहराती भी है । इसी कारण पूरी संभावना है कि सभी मानवीय प्रेम संबन्ध जैसे ईश्वर प्रेम से लेकर मातृ प्रेम, भ्रातृ प्रेम और-कहे तो सभी प्रकार के प्रेम संबन्ध मानव मस्तिष्क के इन तीन बुनियादी घटकों पर आधारित हैं जो विभिन्न प्रकार के संबन्धों को विभिन्न स्तरों पर संभव बनाता है ।

1.1.5.1 स्वच्छंद प्रेम (Romantic Love)

प्रेमियों के बीच के संबन्ध जो लगाव और जुनून पर आधारित है, स्वच्छंद प्रेम कहा जाता है। मानव प्रेम संबन्धों के उत्परिवर्तन से जुडी बहुत सारी गुंथियाँ स्वच्छंद प्रेम में समाहित है । मनुष्य के अन्य कोई भी प्रेम संबन्ध स्वच्छंद प्रेम की तरह जटिल नहीं है । सदियों से स्वछंद प्रेम मानव मन को मथता चला आ रहा है । साहित्य ,कला और संस्कृति के ढेर सारे पृष्ठ स्वछंद प्रेम से भरे पडे हैं । फिर भी स्वच्छंद प्रेम के वैज्ञानिक अध्ययन का प्रयास हाल ही में हुआ है । हेलन फिशर कहती हैं- "Despite the hundreds of thousand of poems, songs, books, operas, dramas, ballets, myths, and legends that have portrayed romantic love since before the time of Christ, despite the countless time a man or woman has deserted family and friends, committed suicide or homicide, or pined away because of love, few

[1] BBC INTERNATIONAL MAGAZINE - ON AIR- JULY 2004 Page 31

scientist have given this passion the study it deserves-until recently"[1] अर्थात ईसा मसीहा के पूर्व स्वच्छन्द प्रेम को अभिव्यक्ति देनेवाले सैकडों कविता, गीत, पुस्तक, नाटक, बल्लाड, ओपेरा आदी मौजूद रहे थे । इसके बावजूद लाखों-करोडों बार प्रेम के खातिर परिवार उजड गए । प्रेम के खातिर अनगिनत आत्महत्याएँ और कत्ल के बाद स्वच्छन्द प्रेम को अध्ययन का वाँछित दर्जा कुछ वैज्ञानिकों ने हाल ही में प्रदान किया है।

मानव मन में स्वछंद प्रेम की तीव्र अनुभूति का प्रस्फुटन यौवनारंभ से होता है । मानव मस्तिष्क का त्वरित व वैविध्य पूर्ण विकास भी इसी समय होता है । स्वच्छंद प्रेम की प्रारंभिक दशा से ही मानव मस्तिष्क की संरचना थोडी बदलने लगती है । प्रेम होने के साथ एक व्यक्ति की ज़िदगी में होने वाले परिवर्तनों का आभास बुनियादी तौर पर इन मानसिक स्थितियों को निर्मित करने वाली मस्तिष्क व्यवस्था पर आधारित है । मस्तिष्क की क्रियाशीलता को नियंत्रित रखने में भारी मात्रा में सहायता पहुंचाने वाले कुछ न्यूरो ट्रान्समिट्टर (डोप्पोमिन, नोरएप्पिनेफ्रिन, सेराटोनिन, फिनैल ईथैल अमीन आदि) स्वच्छंद प्रेम को निर्मित करने वाली मस्तिष्क की क्रियाशीलता को काफी हद तक प्रभावित करते हैं। ऊपर कहे गये न्यूरो ट्रान्समिट्टरों की अधिक मात्रा में मौजूदगी के चलते नियंत्रित होनेवाली संवेदनात्मक स्थिति है स्वच्छंद प्रेम ।[2] स्वच्छंद प्रेम मनुष्य के तन और मन को पूरी तरह झकझोर देता है । सदियों से मानव द्वारा अर्जित सारी क्षमतायें स्वछंद प्रेम के सामने लाचार सी नज़र आती हैं । स्थूल शरीर से लेकर सूक्ष्म मानसिक धरातल तक के कोई भी कोना स्वच्छंद प्रेम की अनुभूतियों से अछूता नहीं रहता । शारीरिक धरातल पर होने वाले परिवर्तनों का विवरण देते हुए हेलन फिशर कहती हैं -"Intense energy (hypomania) is another central trait of romantic

[1] Fisher Helen, - Anatomy Of Love - Page 19
[2] जीवन जॉब थॉमस - रतिरहस्यम् पृ.सं 149

love. Smitten lovers report trembling, pallor, flushing, a general weakness, overwhelming sensations of awkwardness and stammering, as well as one or more sympathetic nervous system reactions, including sweating, butterflies in the stomach, a pounding heart, and/or difficulty eating or sleeping" [1] अर्थात तीव्र ऊर्जा का प्रस्फुटन (हैपॉमानिआ) स्वच्छन्द प्रेम की प्रमुख विशेषता है । इस अवस्था में प्रेमी-प्रेमिका विभिन्न प्रकार के मानसिक एवं शारीरिक उतार चढ़ावों से तरंगायित रहते हैं। जैसे सिहरन, पीलापन, सुर्ख चेहरा, शारीरिक ढीलापन, तीव्र संवेदनात्मकता के कारण भद्दापन और हकलाहट, साथ ही स्नायु संबन्धित कुछ अन्य विकार भी जैसे पसीना छूटना, पेट में गुदगुदी, तेज़ दडकता दिल, खाने और सोने में दिक्कत आदि ।

मानसिक धरातल पर स्वच्छंद प्रेम विशेष रूप से स्वामित्व बोध पर आधारित है। प्रेमी प्रेमिका एक दूसरे पर इतने खोये रहते हैं कि उन्हें बाहरी दुनिया का पता ही नहीं रहता। प्रेम युग्मों की एक अलग मानसिक दुनिया उन्हें दिवाना बना देती हैं । इन सघन संवेदनात्मक क्षणों में प्रेम युग्मों का आपसी संबन्ध तीव्र स्वामित्व बोध पर आधारित होता है -"As the obsession grew they spent from 85 to almost 100% of their days and night in sustained mental attentiveness, doting on this single individual. Indeed, along with this fixation, lovers lose some ability to focus on other things such as daily tasks, work, and school; they become easily distracted."[2] अर्थात प्रेम संबन्ध के तीव्र होने के साथ 85 प्रतिशत से लेकर 100 प्रतिशत तक दिन-रात प्रेमी-प्रेमिका एक दूसरे में खोये रहकर बिताते हैं । एक व्यक्ति पर इस तरह खोये रहना प्रेमी-प्रेमिका के दैनिक जीवन को प्रभावित करता है । स्वच्छंद प्रेम में स्वामित्व बोध मात्र धनात्मक रूप में नहीं रहता, प्रेमी प्रेमिका प्रत्यक्ष या

[1] Fisher Helen - Anatomy Of Love - Page. 22

[2] Fisher Helen, - Anatomy Of Love - Page. 21

अप्रत्यक्ष रूप से अपने प्रेम पात्र के खोने के डर से आतंकित रहते हैं । हेलन फिशर इसे "Frustration Attraction"[3] कहती हैं। जिस प्रकार स्वच्छद प्रेम मानव मन को आनंद विभोर कर के दिवाना बना देता है उसी प्रकार प्रेम भंग मानव के तन मन को तहस नहस कर देता है। प्रेम के बिखराव की स्थिति से बचना मानव के उत्तरजीवन का अंग ही है। मनुष्य के प्रेम संबन्धों को स्थायी रखने की कुदरत की युक्ति ही इस के पीछे काम कर रही है। स्वच्छद प्रेम मनुष्य को अपने जोडे के साथ मात्र यौन संबन्ध के परे होकर युग्मप्रेम संबन्ध को दीर्घकाल तक बनाये रखने के लिए मददगार होता है । मानव शिशु का पालन-पोषण प्रकृति का सबसे जद्दोजहद भरा मातृत्वपूर्ण कार्य है । अपने जीवन काल में सबसे ज़्यादा संरक्षण की आवश्यकता मानव शिशु को है । दो पैरों में उठकर चलने के लिए उसको एक साल लगता है, फिर भी उसको लगातार परवरिश की ज़रूरत है । उसके रख-रखाव में पिता को अपना दायित्व संभालने की बुनियादी ज़रूरत है । यौन संबन्ध के बाद दूसरी स्त्री से संबन्ध रखनेवाले पुरुष इस दायित्व से विमुख हो जाता है माँ के साथ पिता का स्वच्छंद प्रेम बच्चे के बडे होते समय उसका साथ देने में उसे मज़बूर बनाता है । मात्र रति संबन्ध से परे होकर मनुष्य-प्रेम के विकसित होने के पीछे इस प्रकार का उद्विकास परक ज़रूरत काम करती है।[1] इस प्रकार प्रेम युग्मों के संबन्ध को स्थायी बनाकर दुनिया में सबसे असहाय होकर जन्मने वाले मानव शिशु के परवरिश के लिए माता और पिता को उपलब्ध कराने की कुदरत की अनुपम योजना ही स्वच्छंद प्रेम है ।

1.1.5.2 मातृ-शिशु सहसंबन्ध सिद्धान्त (Attachment theory)

फ्रॉयड के समय से लेकर मातृ–शिशु संबन्धों का मनोवैज्ञानिक स्तर पर अध्ययन शुरू हुआ था । "The affectional bond between mother and child is not in and of itself a new concept for study. Psychoanalytic theorists from the

[1] जीवन जॉब थॉमस – रतिरहस्यम् पृ.सं 205

time of Freud have dealt with the notion of object relations"[1] अर्थात माँ और बच्चे के बीच का संबन्ध अपने आप में कोई नया अध्ययन क्षेत्र नहीं है । फ्रॉयड के समय से लेकर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ने मातृ-शिशु संबन्ध को ऑबजक्ट रिलेशन यानि 'वस्तु संबन्ध' सिद्धान्त के तहत व्याख्यायित करने का प्रयास किया है । 'वस्तु संबन्ध' (Object Relation) के सैद्धान्तिक आधार के तहत मातृ -शिशु संबन्ध का मूल आधार स्तन और स्तन-पान है । इस सिद्धान्त का प्रथम प्रयोक्ता ओटो ऐसक्कोऑर (Otto Isakower) हैं। उनके अनुसार-"Object relations are a psychoanalytical concept in which the psychic energy of an individual is invested in an "Object" initially outside the person. The object is characterized by its ability to satisfy an instinctual aim, and the investment of energy in that object is termed 'cathexis' The earliest cathexis was thought to be toward the mother's breast which eventually leads to an object relationship with the mother."[2] अर्थात 'वस्तु संबन्ध' सिद्धान्त एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है इस में मनोवैज्ञानिक ऊर्जा प्रथमतः व्यक्ति के बाहर के किसी चीज़ में निवेशित होता है । फिर वह चीज़ व्यक्ति के जैविक संवेदना को शान्त करने के क्रम में विशेषतायें अर्जित करती रहती है। उस विशेष चीज़ में निवेशित ऊर्जा को 'कैथेसिक्स' कहा जाता है । प्रारंभिक रूप से कैथेसिक्स का रूपायन माँ के स्तन में होता है जो क्रमशः शिशु का माँ के साथ वस्तु-संबन्ध रूपायित करताहै । इस को ऐसक्कोऑर फिनॉमिनन (Isakower Phenomenon) भी कहा जाता है । इस प्रकार व्यक्ति को संतुष्ट करने योग्य बाहरी वस्तु में निवेशित ऊर्जा जिसे 'कैथेसिक्स' (cathexis) कहा जाता है प्रारंभिक रूप में स्तन-पान के साथ जुडा हुआ होता है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के तहत रूपायित अन्य सिद्धान्त भी विशेषकर शिक्षा से जुडे हुए सिद्धान्त भी उद्दीपन-अनुक्रिया के द्वारा

---

[1] Best , Elizabeth Kirkley - Foundations of Attachment:Theories& Models - Page.10

[2] Best , Elizabeth Kirkley - Foundations of Attachment:Theories& Models - Page 11

होने वाले मातृ-शिशु संबन्धों के केन्द्र में स्तन-पान की स्थिति को प्रतिष्ठित करते हैं - "A great majority of psychoanalytic thinkers both early and late have place the feeding situation as central to the mother-infant relationship"[1] अर्थात प्रायः सभी मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञों ने मातृ-शिशु संबन्ध के केन्द्र में स्तन-पान को प्रतिष्ठित किया है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ने प्रमुख रूप से व्यक्ति के बाहर वस्तु जगत के विभिन्न संदर्भों में व्यक्ति की तुष्टि का मनोवैज्ञानिक आधार आरोपित करके मातृ-शिशु संबन्ध की बुनियाद को ढूंढने का प्रयास किया है ।

सन् 1988 तक मातृ-शिशु संबन्धों को विशेष रूप से मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के तहत ही व्याख्यायित किया गया । जो प्रमुखतः संबन्धों की बाहरी स्थिति पर आधारित था। सर्वप्रथम जोन बॉलबि (Edward John Mostyn Bowlby) ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से अलग होकर मानव के उद्विकास क्रम के रूप में मातृ-शिशु संबन्ध को परखा और सन् 1988 में अपनी रचना 'ए सेक्युअर बेइस' (A secure Base) में अपना 'मातृ-शिशु संबन्ध सिद्धान्त' (Attachment theory) प्रस्तुत किया । उन के अनुसार -"Attachment, or the enduring bond between mother and child, is based in the evolution of the human species, in which attachment evolved as a species-specific system having survival value not for individuals but for the species as well."[2] अर्थात सहसम्बन्ध या चिरस्थायी मातृ-शिशु संबन्ध मनव प्रजाति के उद्विकास क्रम के साथ जुडा हुआ है । उसमें सहसंबन्ध का रूपायन किसी व्यक्ति विशेष के संदर्भ में न होकर पूरी मानव प्रजाति के उत्तरजीवन के क्रमविकास के रूप में संपन्न हुआ है । जोन बॉलबि के सिद्धान्त के फलस्वरूप मातृ-शिशु संबन्धों की बाहरी उद्दीपन-अनुक्रिया और अनुबन्धन से आगे उसके आन्तरिक

[1] Best , Elizabeth Kirkley - Foundations of Attachment:Theories& Models Page.12

[2] Best , Elizabeth Kirkley - Foundations of Attachment:Theories& Models Page.12

और जैविक आधारों पर प्रकाश पडने लगा । उनके अनुसार शिशु जन्म के बाद उद्दीपन-अनुक्रिया रूप में ही सब कुछ नही सीखता, जन्म से पहले ही उत्तरजीवित रहने का विशिष्ट गुण आनुवंशिक रूप में शिशु में समाहित रहता है । यही विशिष्ट गुण शिशु के सामाजिक संबन्धों के स्वरूप को निर्मित करता है "The evolutionary theory of attachment suggests that children come into the world biologically pre-programmed to form attachments with others, because this will help them to survive. The infant produces innate 'social releaser' behaviours such as crying and smiling that stimulate innate care giving responses from adults. The determinant of attachment is not food" but care and responsiveness."[1] अर्थात क्रमविकास सिद्धान्त के अनुसार बच्चों का जन्म सहसम्बन्ध को रूपायित करने की मस्तिष्क व्यवस्था के साथ होता है, क्योंकि इसी से उनकी उत्तरजीवन की संभावनायें जुडी होती हैं । इस कारण बच्चा जन्म से ही कुछ सामाजिक जीवन के अनुरूप व्यवहार प्रदर्शित करता है जिसे जोन बॉलबि सोशियल रिलीज़र कहते हैं, जैसे रोना और हँसना । ये व्यवहार माँ-बाँप में बच्चों के रख-रखाव की जैविक संवेदना को उत्तेजित करता है । सहसंबन्ध का निर्धारक तत्व भोजन न होकर बच्चों के प्रति ध्यान और वाँछित अनुक्रिया है । इस प्रकार मातृ-शिशु संबन्ध स्तन-पान की केन्द्रियता से मुक्त होकर विस्तृत जैविक परिदृश्य में परखा जाने लगा । जन्मजात रूप से संबन्धों को रूपायित करने की यह प्रणाली यन्त्रवत संरचना जैसी नहीं है । बाहरी उद्दीपन से यह विशेष रूप से प्रभावित होती है। शिशु के व्यक्तित्व को रूपयित करने में कुदरत और परवरिश दोंनों का समान योगदान है ।

जोन बॉलबि शिशु में जन्मजात रूप से समाहित सह-संबन्ध के रूपायन की एक विशेष प्रणाली का ज़िक्र करते हैं । उनके अनुसार इस प्रणाली का क्रमशः

1 https://www.simplypsychology.org/attachment

विकास शिशु के व्यक्तित्व को रूपायित करता है । "Bowlby suggested that a child would initially from only one primary attachment (Monotropy) and that the attachment figure acted as a secure base for exploring the world. The attachment relationship acts as a prototype for all future social relationship so disrupting it can have severe consequences."[1] अर्थात बॉलबी के अनुसार शिशु में प्रथमतः सहसंबन्ध की एक ही प्रणाली विकसित होती है जिसे वे 'मॉनोट्रोफी' कहते हैं। यह प्रणाली शिशु में दुनिया को समझने की नज़रिया विकसित कराती है। भविष्य के सारे सामाजिक संबन्धों का प्रारूप यही है । इसी कारण इस पर पडने वाली कोई अडचन दूरगामी परिणाम वाली होगी । साथ ही जोन बॉलबि मातृ-शिशु संबन्धों के रूपायन की एक विशेष अवधि भी निर्धारित करते हैं। यदि मातृ-शिशु संबन्ध इस अवधि की सीमा में रूपायित नही हो पायेगा तो शिशु को मानसिक असंतुलन का खतरा उठाना पडेगा । "This theory also suggest that there is a critical period for developing an attachment (about 0-5 years) If an attachment has not developed during this period, then the child will suffer from irreversible developmental consequences, such as reduced intelligence and increased aggression."[2] अर्थात इस सिद्धान्त के अनुसार सहसंबन्ध रूपायित होने की अवधि (0 से 5 साल के बीच) निश्चित है इस दरमियान सहसंबन्ध रूपायित नहीं होता तो शिशु अपसमायोजित विकास का शिकार होगा, जैसे बुद्धि का कम होना या आक्रामक होना आदि ।

इस प्रकार मनुष्य की उद्विकास प्रणाली में मातृ-शिशु संबन्ध का बुनियादि योगदान है। युग्म प्रेम संबन्ध को स्थायी रखकर शिशु को सामाजिक समायोजन के लिए तैय्यार करने का, कुदरत का यह अनुपम वरदान ही मनुष्य के उत्तरजीवित होने

[1] https://www.simplypsychology.org/attachment

[2] https://www.simplypsychology.org/attachment

का प्रमुख कारण है । दोनों पैरों पर उठकर चलने से मानव प्रजाति में जो उत्तरजीवन की समस्यायें रूपायित हुई उन सब को मनुष्य में क्रम विकास के रूप में संपन्न सामाजिक जीवन की इन्हीं सब क्षमताओं ने पाट ली। मनुष्य की संवेदनात्मक क्षमताओं की यही विविधता अन्य जीव-जन्तुओं की अपेक्षा उसे एक सांस्कृतिक प्राणी बनाती है ।

1.2 संस्कृति का रूपायन

संस्कृति के उद्भव के मूलभूत कारणों को लेकर विद्वानों के बीच मतभेद है फिर भी हम देख सकते हैं कि सभी विद्वान इस बात पर सहमत है कि अन्य जीव जन्तुओं की अपेक्षा मनुष्य की कुछ विशिष्ट क्षमताएँ ही संस्कृति के उद्भव का कारण बनी थीं । अन्य जीव जन्तुओं का सामाजिक जीवन उनके जैविक धरातल पर काफी नियंत्रित होता है । उदाहरण के लिए मधुमक्खियों को लिया जा सकता है । मधुमक्खियों में राणी मधुमक्खी एक सामाजिक संरचना न होकर एक जैविक संरचना है । उनका सामाजिक जीवन जैविक उसूलों को कभी पार नहीं करता है, पर मनुष्य ने यह क्षमता अर्जित की और उसने अपने सामाजिक संबन्ध को जैविक उसूलों के बाहर विभिन्न प्रकार के मिथकों के आधार पर रूपायित किया । मनुष्य की इस क्षमता को संज्ञानात्मक क्रान्ति के नाम से अभिहित किया जाता है । हम कह सकते हैं कि संज्ञानात्मक क्रान्ति ही मानव संस्कृति के उद्भव का मूलभूत कारण बनी थी । कृषि क्रान्ति तक आते-आते मानवीय सामाजिक संबन्ध कल्पित व्यवस्था पर आधारित होकर विशाल परिप्रेक्ष्य में पर्याप्त विविधताओं के साथ विश्व पटल पर संघटित होना शुरू हुआ था और कृषि समाज से उत्तरोत्तर विकास के चरण में मनुष्य ने अपने जीवन को व्यवस्थित और सुखमय बनाने के बहुत सारे संसाधन अर्जित भी कर लिया। मानवीय सामाजिक संबन्धों में आये भौतिक और मानसिक विकास के इन चरणों को हम 'सभ्यता' और 'संस्कृति' के तहत विश्लेषित कर सकते हैं । धीरेन्द्र वर्मा कहते हैं

–"हमारी समझ में संस्कृति और सभ्यता में अंतर किया जाना चाहिए । सभ्यता से तात्पर्य उन आविष्कारों, उत्पादन के साधनों एवं सामाजिक, राजनीतिक संस्थाओं से समझना चाहिए, जिनके द्वारा मनुष्य की जीवन-यात्रा सरल एवं स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त करती है । इसके विपरीत संस्कृति का अर्थ चिंतन तथा कलात्मक सर्जन की वे क्रियायें समझनी चाहिए, जो मानव व्यक्तित्व और जीवन के लिए साक्षात् उपयोगी न होते हुए भी उसे समृद्ध बनानेवाली है।"[1] इस प्रकार संस्कृति बुनियादी स्तर पर ही मनुष्य के चिंतन और और मनन के व्यापक संदर्भ के साथ जुडकर उसकी मानवीयता को सार्थकता प्रदान करती है ।

1.2.1 संस्कृति : अर्थ एवं स्वरूप

विद्वानों ने संस्कृति को कई तरह से परिभाषित किया है । डॉ मंगलदेव शास्त्री के अनुसार " किसी देश या समाज के विभिन्न जीवन व्यापारों या सामाजिक संबन्धों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले उन-उन आदर्शों की समष्टि को ही संस्कृति समझना चाहिए।"[2] पूरनचन्द्र जोशी के अनुसार -"मूल्य, मान्यता, चेतना, विश्वास, विचार, भावना, रिवाज़, ज्ञान, कला, धर्म, जादू-टोना आदि के वे सभी मूर्त अमूर्त स्वरूप संस्कृति में शामिल है जिनको मानव-सृजित भौतिक जगत महत्ता और सार्थकता पाता है, जिसके कारण ही मनुष्य पशु योनी से ऊपर उठकर वास्तव में मानव कहलाने का अधिकारी बनता है । और जिनके द्वारा मानव के प्रकृति के साथ और मानव मानव के बीच भिन्न भिन्न प्रकार के संबन्धों की रचना और फलस्वरूप मानव समाज का संगठन और संचालन होता है।"[3] संस्कृति के चार अध्याय' की प्रस्तावना में विभिन्न परिभाषाओं को समेटकर जवहरलाल नेहरु कहते हैं "संस्कृति है

[1] धीरेन्द्र वर्मा - हिन्दी साहित्य कोश –epustakalay.com- पृ.सं 712
[2] मंगल देव शास्त्रि - भारतीय संस्कृति का विकास (वैदिक धारा) पृ.सं 4
[3] पूरनचन्द्र जोशी - परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम - भूमिका

क्या ? शब्दकोश उलटने पर इसकी अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं । एक बडे लेखक का कहना है कि 'संसार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गई हैं उनसे अपने आप को परिचित कराना संस्कृति है।' एक दूसरी परिभाषा में यह कहा गया है कि 'संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है' यह 'मन आचार अथवा रुचियों की परिष्कृति या शुद्धि है। यह सभ्यता के भीतर से प्रकाशित हो उठता है । 'इस अर्थ में संस्कृति कुछ ऐसी चीज़ का नाम हो जाता है, जो बुनियादी और अन्तर्राष्ट्रीय है । फिर संस्कृति के कुछ राष्ट्रीय पहलु भी होते हैं । और इनमें कोइ संदेह नहीं कि अनेक राष्ट्रों ने अपना कुछ विशिष्ट व्यक्तित्व तथा अपने भीतर कुछ खास ढंग के मौलिक गुण विकसित कर लिये हैं।"[1] इस प्रकार विभिन्न दृष्टियों से संस्कृति को परिभाषित किया जा सकता है । पर संस्कृति की संकीर्णता को कोई भी परिभाषा के चौखटे में नहीं बाँधा जा सकता । इसी करण से रेमणड विलियम्स कल्चर को अंग्रेज़ी भाषा के दो-तीन सबसे संकीर्ण शब्दों में एक गिनते हैं । फिर भी ये परिभाषायें संस्कृति को समझने के लिए हमें रूबरू ज़रूर कराता है।

1.2.2 लेवी स्त्रोस के संरचनात्मक नृतत्वशास्त्र के अनुसार संस्कृति का उद्भव

सबसे पहले मनुष्य के उद्विकास क्रम के इतिहास के तहत संस्कृति के उद्गम को संरचनात्मक नृतत्वशास्त्र के अनुसार व्याख्यायित करने का श्रेय आधुनिक नृतत्वशास्त्र के पिता के रूप में प्रसिद्ध लेवी स्त्रोस को जाता है । उनके अनुसार - "Too many Darwinian and sociobiological contributions are in cultural terms simply uninformed. They explain various thing, but they do not explain culture. No theory can do this, unless it is based on a broad cross-cultural understanding of the kinship systems, rituals, myth and other institutions of

[1] जवहर लाल नेहरु - उद्धरण - प्रस्तावना - संस्कृति के चार अध्याय - पृ सं 11

hunter-gatherers and other traditionally organised peoples."[1] अर्थात बहुत सारे डारवेनियन और सामाजिक जीववैज्ञानिक अवधारणायें सांस्कृति के व्याख्यान में समरूपी है । वे बहुत सारे तथ्यों की व्याख्या तो देते हैं पर वे संस्कृति की मुकम्मल व्याख्या नही दे पाते हैं। संस्कृति के इस बुनियादी स्वरूप की अवधारणा को लिवाई स्त्रोस ने अपने संरचनात्मक नृतत्वशास्त्रीय (Structural Anthropology) सिद्धान्तों के तहत व्यख्यियित किया । अपनी 'The Elementary Structure 'नामक पुस्तक में उन्होंने पत्नी और बहन को अलग- अलग पहचानने की मानसिक क्षमता और अन्य गोत्र समूहों में अपनी बहनों को पत्नियों के रूप में दे कर उनकी बहनों को पत्नियों के रूप में स्वीकार करने की प्रणाली के चलते संस्कृति के प्रदुर्भूत होने का सिद्धान्त सामने रखा। क्रिस नाइट कहते हैं - "In it the author presented his theory that the exchange of woman – resting upon men's conceptual ability to distinguish between 'sister' and 'wife'–gave rise to human culture "[2] अर्थात अपनी पुस्तक में लेवी स्त्रोस ने यह सिद्धान्त सामने रखा कि स्त्रियों का आदान-प्रदान जो विशेष रूप से बहन और पत्नी में अंतर करने की पुरुषों की विशेष चिंतन क्षमता पर आधारित है, यही संस्कृति के उद्भव का कारण बना है । इस के बाद उन्होने मिथकों के संरचनात्मक स्वरूप तथा बिंबविधान के तहत संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला, अपनी पुस्तक 'Mythologiques' में उन्होंने मिथकों के इसी संरचनात्मक एवं बिंबविधानात्मक स्वरूप की सार्वभौमिकता और सार्वकालिकता को व्यख्यायित करने का प्रयास किया। "Mythologiques attempted to prove that the deepest recurrent structures of cultural symbolism are universal because they reflect the genetic

[1] Knight Chris - Blood Relations Menstruation and the origin of culture Page.71

[2] Knight Chris - Blood Relations Menstruation and the origin of culture Page 72

constitution and internal organisation of the uniquely human mind"[1] अर्थात मिथोलॉगिक्यूज यह स्थापित करने का प्रयत्न करता है कि गहराई में संस्कृतिक बिंबविधान की पुनरावर्तक संरचना सार्वभौमिक है क्योंकि वह मानव मन के जैविक संविधान तथा आंतरिक व्यवस्था को समान रूप से प्रतिबिंबित कराता है ।

लेवी स्त्रोस ने मनुष्य के मस्तिष्क में उल्लिखित बिंबविधान के अनुरूप रूपायित मिथकीय परिकल्पनाओं के रूप में संस्कृति को देखा । उन्होंने बिंब विधान की इस प्रणाली को द्वन्द्वात्मकता के तहत व्याख्यायित किया। उनके अनुसार दो विरुद्ध तत्वों के बिंबविधानात्मक मस्तिष्क की प्रणाली के तहत मिथक रूपायित होता है अर्थात रात और सुबह, पका खाना और अनपका खाना, आदि विरुद्धों के बिंबविधानात्मक मिथकीय स्वरूप ही प्रकारान्तर से बहन और पत्नी को अलग-अलग पहचानने का मानसिक बिंबात्मक मिथकीय रूप प्रस्तुत करता है, जो संस्कृति के उद्गम का मूल भूत कारण बनता है । उन का यह सिद्धान्त भ्रान्तियों से मुक्त नही रहा है। बहुत सारे बुनियादी प्रश्नों का समाधान भी यह सिद्धान्त नही दे पाया है । प्रथमतः पुरुष को संस्कृति के केन्द्र में प्रतिष्ठित करना और स्त्री को हाशिए पर उपभोग की वस्तु के रूप में हस्तान्तरण करने की स्थिति में रखना तर्क संगत प्रतीत नही होता । साथ ही मिथक के रूपायन का मस्तिष्क की बिंबविधानात्मक प्रणाली का कोई वैज्ञानिक आधार भी वह प्रस्तुत नही कर पाया । सारी खामीयों के बावजूद संस्कृति के उद्भव को उद्विकास क्रम के रूप में प्रस्तुत कर संस्कृति के अध्ययन की एक विशाल परिदृश्य सामने रखना लेवी स्त्रोस का सबसे महत्वपूर्ण योगदान है ।

[1] Knight Chris - Blood Relations Menstruation and the origin of culture Page.73

1.2.3 मातृसत्तात्मक समाज और संस्कृति का उद्भव

मातृसत्तात्मक समाज से संस्कृति का उद्भव संबन्धी सिद्धान्त नृतत्वशास्त्र के केन्द्रीय सिद्धान्तों में से एक है। मातृसत्तात्मक समाज से संस्कृति के उद्भव संबन्धी सिद्धान्त का वैज्ञानिक आधार अब पहले से कहीं स्पष्ट रूप से हमारे सामने है। सबसे पहले मातृसत्तात्मक समाज से मानवीय संबन्धों के रूपयन संबन्धी बात अंग्रेज़ साहसी यात्रिक 'जॉन लेडैडर' ने सन् 1672 में प्रस्तुत की थी "The English adventurer John Lederer seems to have been the first to describe matrilineal exogamy accurately in print." [1] जॉन लेडैडर के लगभग बावन साल बाद पातिरि लफ़ित्तु 'Father Lafitau' ने इरोकोई वंश के मातृसत्तात्मक समाज की वीशेषताओं की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए लिखा-"Nothing...is more real than this superiority of the women. It is essentially the women whoembody the Nation, the nobility of blood, the genealogical tree, the sequence of generations and the continuity of families. It is in them that all real authority resides: the land, the fields and all their produce belongs to them: they are the soul of the councils, the arbiters of peace and war:"[2] अर्थात समाज में नारियों की स्थिति सर्वोत्तम एवं श्रेष्ट थी । राष्ट्र वा अधिकार, रक्त की शुद्धता, पारंपरिक वृक्ष परंपरा, पीढ़ीयों की निरंतरता, परिवार की सातत्यता सब कुछ नारीयों पर आधारित थी । सारा अधिकार उन्हीं के हाथों में थे । खेत खलिहान और उसका सारा उत्पाद उन्हीं के वश में थे । सभा वा पंचायत की वे आत्मा थी, युद्ध और शान्ति के बीच वे मध्यस्थ थी । इस प्रकार इरोकोई गोत्र वंश में नारियों की सर्वश्रेष्ठ स्थिति को पातिरि लफ़ितु ने स्पष्ट शब्दों में उकेरा उन्होने सामाजिक जीवन के हर स्तर के नियामक तत्व के रूप में मातृसत्ता को स्वीकार किया। यहाँ तक की युद्ध और शान्ति के मामले में भी निर्णय स्त्रियाँ ही लेती थीं ।

---

[1] http://radicalanthropologygroup.org/

[2] http://radicalanthropologygroup.org/

लफ़ित्तु के बाद कई ईसाई मिशनरियों ने भी ईरोकोई गोत्र के मातृसत्ता की विशिष्टताओं को प्रकाश में लायें । फिर सन् 1767 में पातिरि लफ़ित्तु के विचार और अन्य मिशनरियों से प्राप्त जानकारियों के सामान्यीकरण करते हुए स्कोटलैन्ट के मशहूर इतिहासकार 'आदम फ़ेरग्यूज़न' (Adam Ferguson) ने कहा "As the domestic cares are committed to the women, so the property of the household seems likewise to be vested in them. The children are considered as pertaining to the mother, with little regard to descent on the father's side."[1] अर्थात गृहस्थी का भार नारीयों के ज़िम्मे होने के कारण परिवार की संपत्ती भी उन्हीं के हाथों में थी। बच्चों का संबन्ध विशेष रूप से माता से जुडा हुआ होता है । पिता के वंशक्रम से उनका संबन्ध ना के बरारबर था । आदम फ़ेरग्यूज़न आदिम समाज के सामाजिक जीवन को उस समय तक प्राप्त जानकारीयों के आधार पर मातृसत्तात्मक होने की बात कही । पितृसत्ता का कोई स्पष्ट उदाहरण उन्हें कहीं दिखाई नहीं पडा था । घरेलु जीवन से लेकर सामाजिक जीवन के हर स्तर पर हावी स्त्रीसत्ता को उन्होने दर्शाया । उनके बाद सन् 1861 में स्विट्ज़रलैन्ड के मशहूर इतिहासकार 'जोहान जेक्कब बाखोफ़ेन' (Johann Jakob Bachofen) ने अपनी पुस्तक "Mother-Right" में मातृसत्ता की बात सामने रखी । उन्होने विशेष रूप से प्राचीन यवन संस्कृति, इतिहास एवं मिथक के आधार पर मानव संस्कृति का मातृसत्तातमक होने की बात कही । "Johann Jakob Bachofen published his ' *Mutterechi'* in 1861. Drawing on ancient Greek historical texts and myths, he advanced the following propositions: 1) humanity once lived in a state of sexual promiscuity; 2) there could be no certainty of paternity; 3) kinship was traced originally through females alone; 4) women's status was correspondingly high; 5) paternity

[1] A. Ferguson (1767) *An Essay on the History of Civil Society* पृ.सं 126.

certainty through monogamous marriage emerged relatively late in history."[1] अर्थात बाखोफ़ेन स्पष्ट रूप से आदिम समाज की सामाजिक जीवन स्थितियों को क्रमवार प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि 1 आदिम मानवीय यौन संबन्ध बहु पत्नीत्व और बहु पतित्व के चलते संकीर्ण था । 2 संतानों के पिता कौन है यह निश्चित नही था । 3 रक्त संबन्धों की पहचान मात्र मातृ-धारा से पहचानी जा सक्ती थी । 4 समाज में स्त्रियों की स्थिति पुरुषों की अपेक्षा उत्कृष्ट थी । 5 एकपतित्व और एकपत्नीत्व के माध्यम से पितृसत्ता की स्थापना इतिहीस में बहुत बाद की घटना है । फिर बाखोफ़ेनने जे एफ मक्कलैलेन' (J. F. McLellan) के साथ मिलकर 'Primitive Marriage' नामक पुस्तक लिखी जो स्पष्ट रूप से मानवीय संबन्धों के रूपायन का मातृसत्तात्मक स्वरूप रेखांकित कराती है। "kinship through females as the more archaic system."[2] बखोफेन के बारे में फेडरिक ऐंगल्स कहते हैं- "उसने साबित कर दिखाया कि शुरू में चूंकि बच्चों का केवल माता के बारे में निश्चय हो सकता था इसलिए माता का और आम तौर पर स्त्रीयों का समाज में इतना ऊचा स्थान था, जितना कि उनको बाद में कभी नही मिला "[3]

बाखोफ़ेन और जे एफ मक्कलैलेन' का संस्कृति के मातृसत्तात्मक होने के सिद्धान्त को वैज्ञानिक पुष्टि लगभग चालीस वर्ष के गंभीर अध्ययन के बाद लूईस हेन्री मॉरगन 'Lewis Henry Morgan' से प्राप्त हुई । उन्होने लैटिन अमेरिका के इरोकॉई गोत्र वंश का विशद आध्ययन कर संस्कृति के मातृसत्तात्मक होने के सिद्धान्त को वैज्ञानिक धरातल पर सर्व प्रथम अपनी पुस्तक "Systems of Consanguinity and Affinity of the Human Family (1871) में प्रस्तुत किया । लूईस हेन्री मोर्गन का यह अध्ययन प्रकारान्तर से सामाजिक नृतत्वशास्त्र का प्रस्थान बिन्दु भी हो गया -

[1] http://radicalanthropologygroup.org/
[2] J. F. McLennan (1865) - *Primitive Marriage*, Page. 123
[3] डॉ अमर नाथ - हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली - पृ.सं 274

"Systems of Consanguinity and Affinity of the Human Family (1871) marked the birth of the scholarly study of kinship."[1] 'Systems of Consanguinity and Affinity of the Human Family' के बाद मोर्गन की सर्वाधिक चर्चित और ऐतिहासिक महत्व रखने वाली रचना 'Ancient Society' सन् 1877 में सामने आयी जो फेडरिक ऐंगलस जैसे बहुत सारे प्राचीन संस्कृति के आध्येताओं के लिए पथ प्रदर्शक सिद्ध हुई । मोर्गन की 'Ancient Society' के आधार पर ही ऐंगलस ने अपने 'परिवार, निजी संप्पत्ति और राज्य का उद्भव' 'Origin of family private property and the state' नामक पुस्तक लिखी, जिस में उन्होने स्पष्ट शब्दों में मोर्गन के महत्व को रेखांकित करते हुए कहा "Morgan was the first person with expert knowledge to attempt to introduce a definite order into the history of primitive man; so long as no important additional material makes changes necessary, his classification will undoubtedly remain in force."[2] अर्थात मोर्गन आदिम मानव के इतिहास को क्रमवार प्रस्तुत करने वाला प्रथम विशेषज्ञ था। जब तक कोई उल्लेखनीय अतिरिक्त ज्ञान इस संदर्भ में परिवर्तन नहीं लायेगा तब तक मोर्गन की स्थापना अक्षुण्ण रहेगी । बाखोफ़ेन और मोर्गन के मॉडल के आधार पर ही ऐंग्ल्स ने अपने परिवार के उद्भव संबन्धी सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। उन्होने मातृसत्तात्मक समाज की युक्ति पर प्रकाश डालते हुए अन्य स्तनधारी जीवियों के यौन संबन्धों से मनुष्य के यौन संबन्ध के अलगाव को दर्शाया । अन्य स्तनधारी जीवियों के समान मनुष्य में यौन संबन्ध के समय झुण्ड बिखर नही जाता । पुरुष की जन्मजात ईर्ष्या काबू में आये बगैर यह संभव नही था - "Mutual toleration among the adult males, freedom from jealousy, was the first condition for the formation of those

[1] http://radicalanthropologygroup.org/

[2] Engels ,Friedrich. - The Origin of the Family, Private Property and the State Kindle Edition Page 51

larger, permanent groups in which alone animals could become men."[1] अर्थात वयस्क नर मानव में पारस्परिक सहकारिता और ईर्ष्या भावना का अभाव बृहत् एवं स्थाई मानव समूह के रूपायन के लिए सबसे पहली शर्त थी और जिसके बदौलत ही पशु मानव बन सकता था । पुरुष की काम वासना को काबू में लाकर झुण्ड के बिखराव को रोकने की मातृसत्ता की क्षमता की ओर ऐंग्ल्स ने संकेत भर किया था । उनके बाद इस दिशा में हुए बहुत सारे अनुसंधानों की वजह संस्कृति के मातृसत्तात्मक होने के जैविक आधार निस्तर्क रूप से प्रतिष्ठित हुआ है ।

1.2.3.1 मातृसत्तात्मक समाज का जैविक आधार

मनुष्य के उद्विकास क्रम में सर्वाधिक परिवर्तन स्त्री शरीर में ही संघटित हुआ । स्त्री शरीर ही सब से पहले नर वानरों के अन्य प्रजातियों की अपेक्षा अपने प्रजनन की प्रणाली को एकदम उलट दिया । अन्य नर वानर जो विशेषकर पेड पर नही रहते, उनके प्रजनन व्यवस्था में मादा का 'मद-चक्र' केन्द्र में होता है । 'मद-चक्र' के समय मादा के अण्डोत्सर्ग का पता नर वानरों को लगजाता है । और इसी के आधार पर प्रजनन की व्यवस्था की शुरुआत इन प्रैमेटों में संघटित होती है । इस प्रकार जैविक आधार के तहत इन प्रैमेटों में एक तरफ मात्र एक आल्फा मेल केन्द्रित प्रजनन व्यवस्था रूपायित होती है तो दूसरी तरफ अनेक नर वानरों द्वारा मादा को प्राप्त करने की होड द्वारा प्रजनन व्यवस्था रूपायित होती है- "Non-arboreal, non-forest-dwelling primate mating systems are stretched out between two opposite conceptual poles, so-called 'one male' harem system on the one hand, multi-male system on the other hand"[2] अर्थात गैर वृक्षवासी वनवासी प्रैमेट

---

[1] Engels, Friedrich. - The Origin of the Family, Private Property and the State Kindle Edition. Page. 64

[2] Knight Chris - Blood Relations, Menstruation and the origin of culture Page. 203

के यौन संबन्ध प्रणाली विशेश रूप से दो विरुध प्रणालियों पर आधारित होते हैं एक तरफ एक नर वानर तथा अनेकों मादा वानरों वाला 'हरम'यौन संबन्ध प्रणाली है तो दूसरी तरफ इसके विरुध अनेकों नर वानर के लिए एक मादा वानर वाली प्रणाली है ।

मानव नारी के शरीर ने उद्विकास की इन दोनों प्रणालियों से परे जैविक विविधता को बरकरार रखने की एक नायाब उद्विकास तरकीब को ही अपनाया । अपने मद चक्र की व्यवस्था को छिपाकर मानव नारी ने अपने अण्डोत्सर्ग की सूचना पुरुषों से सर्वथा गुप्त रखी और दूसरी तरफ अण्डोत्सर्ग के परिसमाप्ति पर उसकी सूचना अन्य किसी भी स्तनधारी जीवियों की अपेक्षा स्पष्ट रक्त-स्राव की मासिक धर्म द्वारा प्रकट की । "In fact the human female dose not signal 'yes' with her genitals at all. Instead of being externally marked as a public display, ovulation has evolved in the reverse direction."[1] अर्थात मानव नारी अपने यौन अवयवों को प्रदर्शित कर अन्य स्तनपायी जन्तुओं की तरह कभी भी हाँ नहीं कहती, प्रत्युत मानव नारी में अण्डोत्सर्ग सामाजिक प्रदर्शनी होने के विरुद्ध ही रूपायित हुई है। इस प्रकार मानव नारी ने अण्डोत्सर्ग की सूचना को छिपाकर तथ दूसरी तरफ अण्डोत्सर्ग की परिसमाप्ति की सशक्त सूचना मासिक धर्म द्वारा प्रकट करके पुरुष की लैंगिक अभिवांछाओं को नियंत्रित की । 'मासिक धर्म' ने मानव नारी के सामाजिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया । इसी मासिक धर्म के चाक्रिक स्तिथि को केन्द्र में रखकर मानव नारी ने अपने 'स्थल' और 'काल'को अंकित की । "वैज्ञानिकों के अनुसार धरती में लगभग दस करोड से लेकर बीस करोड तक जीवजातियाँ मौजूद है। उसमें से लगभग चार हज़ार जीव जातियाँ स्तनधारी है अर्थात बच्चों को प्रसूति से जन्म देने वाली है । इतनी बडी जैव विविधता वाली दुनिया में सिर्फ एक ही जीव जाती में

[1] Knight Chris - Blood Relations, Menstruation and the origin of culture Page. 204

दृष्टिगोचर सबसे अनोखी विशेषता है 'मासिक धर्म' । मासिक धर्म की स्वाभाविक प्रक्रिया अर्थात गर्भाशय में अण्डाणु के पहुचने के बाद बीज संयोग न होने की वजह अण्डाणु के नाश हेतु गर्भाशय की रक्त वाहिकाऐं टूटकर अण्डाणु रक्त के साथ बाहर निकलने की प्रक्रिया सबसे तीव्र रक्त हानी के साथ एक बडी घटना के रूप में मात्र मनुष्य स्त्री में विद्यमान है ।[1]

पूरे विश्व में संस्कृति का विकास मानव समाज में ही संभव हुआ है । इस का प्रमुख कारण मानव मस्तिष्क ही है । हर जीव जन्तु में अपने 'स्थल' और 'काल' को पहचानने की एक विशेष क्षमता होती है जिसे जैविक घडी (Bio Clock) कहा जाता है। मुर्गे के सुबह होते ही बाँग देने के पीछे यह जैविक घडी ही काम करती है । पर मनव के अतिरिक्त अन्य जीव जन्तुओं में स्थल-काल को पहचानने की यह जैविक क्षमता वर्तमान की समय सीमा तक ही मर्यादित है जब कि मानव ने अपने इस जैविक क्षमता को मस्तिष्क के बल पर पूर्वीपार संबन्ध में नियोजित कर के संस्कृति को रूपायित की । अर्थात मानव ने अपने मेधा बल पर जैविक सीमा को पर कर के समय की चाक्रिक स्थिति के अनुसार अपनी जीवन प्रणालियों को निरंतर परिवर्तित किया । मानव शरीर में चाक्रिक स्थिति का सर्वाधिक मूर्त स्वरूप स्त्री शरीर का मासिक धर्म ही है । इसी कारण अपने शरीर की चाक्रिक स्थिति के अनुसार जीवन को व्यवस्थित करने का श्रेय स्त्रियों को ही जाता है । इस मासिक धर्म को पूर्ण चन्द्र की प्रत्यावर्तन से जोड कर अपने स्थल-काल को पहचानने की जो विशेष पद्धति रूपायित हुई वही दरअसल संस्कृति की प्रस्थान बिन्दु है । जीवन जॉब थॉमस कहते हैं- "मासिक धर्म का प्रत्यावर्तन पूर्ण चन्द्र के प्रत्यावर्तनों से अद्‌भुत तरीके से जुडा हुआ है । एक स्त्री केलिए पूर्ण चन्द्र के दिन प्रारंभित 'मासिक धर्म' अगली बार कब शुरु होगा इसे पहचानने के लिए चाँद को देखना भर काफी है । मानव जीवन के सर्वाधिक रंगीला

[1] जीवन जॉब थॉमस - रतिरहस्यम् - पृ.सं 182

नज़रा है चाँद । मानव जीवन के अनुभवों के स्थायी स्मृति चिन्हों से घुल मिलकर चाँद का स्मृति बिंब रूपायित होता है।"[1] जंगल में रहने वाले आदिम मानव केलिए चाँद की हर स्थिति अब से कई गुना संवेदनात्मक थी इसी कारण साढ़े उनत्तीस दिन के अंतराल में प्रत्यावर्तित चाँदिनी के आधार पर अपने समय को पहचानने का क्रम विश्व के सभी आदिम संस्कृतियों में लगभग समान रूप से पाया जाता है । अपनी जैविक घडी को चाँद के प्रत्यावर्तनों से मिलाकर स्त्री ने प्रजनन की जैविक प्रणाली को व्यवस्थित की । इस प्रकार अपने स्थल-काल का सही बोध मनुष्य को स्त्री के जैविक चक्र के आधार पर पहचानने का मिथकीय आधार मिल गया और उसी के आधार पर मानवीय संबन्ध विभिन्न स्तरों पर रूपायित हुआ । जैविक उद्विकास क्रम में आन्य पशुओं से अलग होकर मानव स्त्री ने अण्डोत्सर्ग की सूचना को छिपाकर तथ मासिक धर्म को एककालिक करके समूह या कहे झुण्ड को बिखरने से बचायी । मैथुन –ऋतु आने पर नर पशुओं की ईर्ष्या भावना झुण्ड को बिखेर देती है । अन्य पशुओं की तरह बीच-बीच में झुण्ड का बिखरना मानव के लिए उत्तर जीवित रहने की संभावनाओं के सामने सर्वाधिक चुनौति खडी कर सकती थी । इस स्थिति को स्त्रियों ने संघटित होकर पराजित कर दी । स्त्रियों ने पुरुष कामनाओं को नियंत्रित रखने के साथ अपने शरीर की चाक्रिक स्थिति के आधार पर स्थल-काल की आवधारणा को रूपायित करते हुए बृहतर परिप्रेक्ष्य में मानवीय सामाजिक संबन्ध को रूपायित होने का आधार प्रदान किया।

1.2.3.2 मानव संबन्ध: प्रभुता का सवाल

मानवीय संबन्धों के आदिम स्वरूप को लेकर पर्याप्त वाद विवाद नृतत्वशास्त्र में समय समय पर उभरते रहे। प्रागेतिहास कालीन मानवीय संबन्ध पितृसत्तात्मक रहा है या मातृसत्तात्मक इस विवाद को नृतत्वशास्त्र 'माट्रिलीनिऑल पजिल'(Matrilineal

[1] जीवन जॉब थॉमस - रतिरहस्यम् - पृ.सं. 183

Puzzle) नाम से अभिहित करते है। 1980 तक आते–आते यह विवाद ज़ोर पकडने लगा[1] पुरुष की अदम्य जिजिविषा और बाहुबल को नैसर्गिक रूप से ही उसके वर्चस्व स्थापन के अनुकूल स्थापित करने के लिए सिद्धान्तों को रूपायित किया जाने लगा। फिर भी सभी नृतत्वशास्त्री यह मानते हैं कि अन्नसंग्राहक स्थिति में मानवीय संबन्ध बहुत हदों तक उन्मुक्त रहा होगा । इस संदर्भ को रेखांकित करते हुए युवाल नोआ हरारी कहते हैं -"जहाँ आधुनिक भोजन-खोजियों के मानवशास्त्रीय पर्यवेक्षण प्राचीन भोजन-खोजियों के लिए उपलब्ध कुछ सम्भावनाओं को समझने में हमारी मदद कर सकते हैं, वहीं सम्भावनाओं का प्राचीन क्षितिज* ज्यादा व्यापक था और इसका ज़्यादातर हिस्सा हमारी दृष्टि से ओझल है । होमो सेपियन्स की 'नैसर्गिक जीवन-शैली' को लेकर की जाने वाली उत्तेजित बहस से मुख्य मुद्दा नदारत है । (*'संभावनाओं का क्षितिज' का अर्थ है विश्वासों, रीति-रिवासों और अनुभवों का वह समूचा परिदृश्य, जो किसी समाज विशेष के समक्ष, उसकी पारिस्थितिकीय, प्रौद्योगिकीय और सांस्कृतिक सीमाओं के मद्देनज़र खुला होता है । हर समाज और हर व्यक्ति सामान्यतः सम्भावनाओं के अपने क्षितिज के एक छोटे-से अंश को टटोलते है)"[2] इसीलिए आदिम मानवीय संबन्ध को पूर्वग्रहों से मुक्त हो कर समझने की कोशिश करने पर यही व्यक्त होता है कि आदिम मानव समाज मातृस्तात्मक ही रहा है ।

1.2.3.3 भारत में मातृसत्तात्मक समाज

विश्व भर में कहीं भी मातृ सत्तात्मक समाज का कोई लिखित इतिहास उपलब्ध नहीं है । क्योंकि लिखित इतिहास का प्रारंभ तो पितृसत्तात्मक समाज से शुरू होता है। पितृसत्तात्मक समाज ने बहुत करीने से मातृसत्तात्मक समाज के इतिहास को आच्छादित रखा । सरसरी दृष्टि से देखने पर भले ही मातृसत्तात्मक समाज का कोई वजूद सदियों से वर्चस्व स्थापित करते आ रहे पितृसत्तात्मक समाज के बृहत साहित्य

[1] Knight Chirs - Blood Relations, Menstruation and the origin of culture Page. 154
[2] युवाल नोआ हरारी - (अनु.मदन सोनी) सेपियन्स मानव-जाती का संक्षिप्त इतिहास -पृ सं 55 ,56

के आगे दिखाई न दे फिर भी प्रागैतिहास कालीन मातृसत्तात्मक समाज का वजूद मिथकों एवं कई आदिवासी तथा द्राविड रिवाज़ों में भद्र रूप से सुरक्षित है । मिथकों की गहरी व्याख्या द्वारा कोसंबी मातृसत्तात्मक समाज से भारतीय संस्कृति के उद्गम के विभिन्न संदर्भों को स्पष्ट रूप से अपनी पुस्तक 'मिथक और यथार्थ' में उजागर किया है । कोसंबी ने विशेषकर भगवत गीता, उर्वशी–पुरूरवा, ऋग्वेद के विभिन्न संदर्भों तथा मातृ देवियों के पूजास्थलों के से जुडे मिथकों को गहरे गवेषण का विषय बनाया । इन मिथकों की व्याख्या करते हुए उन्होंने अकाट्य तर्कों द्वारा भारतीय संस्कृति के उद्गम को मातृसत्तात्मक स्थापित किया ।

कोसंबी अप्सराओं से जुडे भरतीय मिथक की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि अप्सरायें आदिम मातृसत्तात्मक समाज के स्त्री समाज का मिथकीय प्रतीक है, जो पुरुष सत्तात्मक समाज के आविर्भाव के साथ अपनी संघ शक्ति को खो दी थी।[1] उर्वशी की सहचरियों में प्रमुख उषा के ऋग्वेदीय प्रसंग को लेकर कोसंबी कहते हैं- "तय है कि किसी जादूगरनी को अथवा गणिका या रखैलिन के समान पेश आनेवाली को इतने ऊंचे दर्जे का आदर सुलभ नही हो सकता । अतः स्पष्ट है कि एक समय था जब इस भोर की देवी को उच्चतर पदस्थिति प्राप्त थी । इसे समझने के लिए हमें गवेषणपूर्वक उसकी व्याख्या करनी होगी जो हमारे पास बच रहा है।"[2] कोसंबी ऋग्वेद के विभिन्न संदर्भों में उषा देवी की महत्ता को दिखाने के बाद अग्नी को समर्पित एक सूक्त (4-2-15) की व्याखा दे कर पितृसत्तात्मक समाज द्वारा मातृसत्तात्मक समाज को पददलित करने की स्थिति की ओर इशारा करते हैं ।

"अधा मातृरूपसा सप्त विप्राः जयेमहि प्रथमा वेधसो नृन्

[1] दमोदर धर्मानंद कोसंबी (अनु. नंदकिशोर नवल) - मिथक और यथार्थ - पृ.सं. 76
[2] दमोदर धर्मानंद कोसंबी (अनु. नंदकिशोर नवल) - मिथक और यथार्थ - पृ.सं 82

दिवस पुत्रा अङ्गिरसो भवेम अद्रिं रूजेक धनिनं शुचन्तः "[1]

अर्थ को स्पष्ट करते हुए कोसंबी कहते हैं -"हम सात ऋषि, माता उषा से, प्रथम मानव यज्ञकत्ति पैदा करेंगे (या पैदा होंगे), हम स्वर्ग पुत्र अङ्गिरस बनेंगे, चमकते हुए हम लोग समृद्ध पर्वत को विदीर्ण करेंगे। अतः उषा एक श्रेष्ठ मातृदेवी थी, शब्दार्थतः प्रभात माता। ऐसी स्थिति से वह च्युत कैसे हो गई ।"[2] आगे मातृसत्ता को पद दलित करने की पितृसत्ता की साजिश की सफलता का ऋगवेद के विभिन्न संदर्भो को रेखांकित करते हुए कोसंबी कहते हैं -"वसिष्ठ की उक्ति है 'अमुदुषा इन्द्रतमा मधो (7.76-3) यहाँ क्रीयापद अद्यतन भूतकाल में है जिससे मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि एक समय था जब उषा इंद्र के समान सर्वोत्कृष्ट थी, लेकिन वैसी वह रही नहीं । मेरे इस विचार की पुष्टि इन दोनों देवताओं में हुए संघर्ष की कहानी से होती है । इसका उल्लेख एकलित रूप से न होकर कई जगह हुआ है कोसंबी ऋग्वेद की सूक्ति 4.30.8-11 को उद्दत करते हुए लिखते हैं -"ओ इंद्र तूने यह साहसिक और पुरुषोचित कर्म भी किया कि तूने अनिष्ट-चिंतन दिव-दुहिता को मार डाला । ओ इंद्र उस महान और महनीय उषा को, जो निश्चय ही दिव की दुहिता है, तूने रौंद डाला। जब वृष (इद्र) ने उसे समाहित किया तब चूर-चूर हुए अनस (गाडी) से उषा डरकर भाग गयी । विपाशा (नदी) पर उसकी गाडी बिलकुल टुकड़े-टुकड़े हो गई और वह (स्वयं) बहुत दूर भाग गई।"[3] इस प्रकार आदिम युग में सर्व शक्ति संपन्न मातृसत्ता को उलट देने की पितृसत्ता के हर प्रयास आगे किसी न किसी मिथक का रूप लेता गया जो ऋग्वेद से लेकर पौराणिक कथाओं तक के विभिन्न संदर्भों में कई प्रकार से उभर कर सामने आते हैं ।

मातृसत्ता को पितृसत्ता अपने में संश्लेषित करने के प्रयास के दौरान उभरे एक सशक्त मिथक है अर्धनारीशवर संकल्पना। कई मिथकों के अनुसार भारत का प्रथम

---

[1] दमोदर धर्मानंद कोसंबी (अनु. नंदकिशोर नवल) - मिथक और यथार्थ - पृ.सं 82
[2] दमोदर धर्मानंद कोसंबी (अनु. नंदकिशोर नवल) - मिथक और यथार्थ - पृ.सं 82
[3] दमोदर धर्मानंद कोसंबी (अनु. नंदकिशोर नवल) - मिथक और यथार्थ - पृ.सं 82

राजा मनु है जो स्वयं अर्धनारीशवर था। यानि मनु आधी स्त्री और आधा पुरुष मिलकर बना था । रोमिला थापर अपनी पुस्तक 'भारत का इतिहास' में कहती हैं -"कभी यह मान्यता थी कि भारत के प्रथम राजा मनु स्वयंभू थे। मनु का जन्म सीधे ब्रहमा से हुआ था और वह अर्ध-नारीश्वर थे "[1]इस मनु के वंश परंपरा में हुए दसवे मनु बहुत प्रसिद्ध हुए थे मिथक के अनुसार उन्ही के समय में महा प्रलय हुआ था। इस मनु के नौ पुत्रों में सबसे बडा पुत्र भी अर्धनारीश्वर था। रोमिला थापर कहती हैं -"मनु के नौ पुत्र थे, जिनमें से सबसे बडा पुत्र अर्धनारीश्वर था । इस लिए उनके दो नाम थे –'इल' और 'इला' । इस पुत्र से राजपरिवार की दो मुख्य शाखोओं का जन्म हुआ, इल से सूर्यवंश का और इला से चंद्रवंश का।"[2] इन्ही दो वंशों से आर्षभारत संस्कृति का प्रादुर्भाव माना जाता है । इला को पुरुष बनाये जाने की मिथकीय संकल्पना की व्याख्या करते हुए कोसंबी कहते हैं -"महाभारत कहता है कि इला इस वीर नायक की माता भी थी और पिता भी। बाद के विवरणों में जो लिंग परिवर्तन देखने में आता है उसका साफ मतलब है पुरूरवा का संबन्ध मनु से जोडना, बावजूद इसके कि इला के सिवा पुरूरवा के न कोई पिता था न कोई ज्ञात माँ-बाप। मातृतंत्र के अधिकार वंचित होने पर ऐसे परिवर्तनों का होना अनजानी बात नहीं है "[3] इस प्रकार इला को पुरुष वर्चस्व का प्रतीक बनाये जाने के उपक्रम में रूपायित मिथक आदिम युगीन शक्तिसंपन्न मातृतंत्र को संश्लेषित करते हुए अर्द्धनारीश्वर की विविध संकलपनाओं के रूप में आर्षभारत संस्कृति में अपनी उपस्थिति दर्ज करता है । शिव पार्वती के योग से बने अर्द्धनारीश्वर संकल्पना हिन्दू मिथक में सर्वाधिक प्रसिद्धि पाई है । इस मिथक का विखंडन करते हुए कोसंबी कहते हैं -"पत्नियां' मूलतः स्वाधिकारसंपन्न स्थानीय मातृदेवियां थीं। इस 'पति' ने अधिकार को आसानी से पितृसत्तात्मक जीवन में बदल दिया और मूल पूजा

[1] रोमिला थापर - भारत का इतिहास - Kindle edition - location- 718

[2] रोमिला थापर - भारत का इतिहास - Kindle edition location 737

[3] दमोदर धर्मानंद कोसंबी (अनु. नंदकिशोर नवल) - मिथक और यथार्थ - पृ.सं 77

पद्धतियों को निम्न स्तर पर गौण रूप से प्रचलित रहने दिया। इसका ज्वलंत उदाहरण शिव और पार्वती का विवाह है जिसकी अनुपूर्ति हुई उभयलिंगी अर्धनारीश्वर से [आधा अंग शिव आधा अंग पार्वती ताकि कोई बिलगाव न होने पाए]"[1]

भारत में मातृसत्तात्मक समाज का अस्तित्व मात्र मिथकीय संकल्पनाओं के भीतर ही नहीं है । भारत के बहुत सारी आदिम जीवन प्रणालियों के वर्तमान झलकियों में भी मूलभूत मातृसत्ता के अस्तित्व को पहचाना जा सकता है । जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण है मेघालया की खासी जनजाति।[2] वह वर्तमान समय में भी मातृसत्तात्मक संस्कृति के तहत अपनी सामाजिक जीवन प्रणालियों को व्यवस्थित कर रखती हैं । लक्षद्वीप में भी मातृवंशीय परंपरा की रिवाज़ें अब भी अक्षुण्ण हैं। बहुत सारी आदिवासी लोक साहित्य एवं आचारों में भी मातृसत्ता की धारा अनस्यूत है। पितृसत्ता की सर्वव्यापि वर्चस्व ने भले ही मातृसत्ता को दबाया हो फिर भी उसकी धारा विलुप्त नही हुई है ।

1.3 पितृसत्तात्मक समाज

दुनिया में वर्चस्ववादी प्रणाली की शुरुआत पितृसत्तात्मक समाज से हुई है। सहज जैविक विकास प्रणाली के तहत जिस सामाजिक संरचना को मातृसत्ता ने स्वरूप दिया उसके मूलभूत ढाँचे को ही पितृसत्तात्मक समाज ने तहस नहस किया । इस संदर्भ को रेखांकित करते हुए एंगेल्स कहते हैं " मातृसत्ता का विनाश स्त्री जाति की विश्व-ऐतिहासिक पराजय था । अब घर के अन्दर भी पुरुष ने अपना आधिपत्य जमा लिया । स्त्री अपने पद से वंचित कर दी गयी, जकड दी गयी, पुरुष की वासना की दासी, सन्तान उत्पन्न करने का एक यन्त्र मात्र बनकर रह गयी ।"[3] कृषी का प्रारंभ

[1] दमोदर धर्मानंद कोसंबी (अनु. नंदकिशोर नवल) - मिथक और यथार्थ - पृ.सं 38
[2] Theguardian.com online magazine - 18 jan 2011
[3] फ्रेड़रिख़ एंगेल्स (अनु.नरेश नदीम) - परिवार निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति - पृ.सं. 64

और निजी संपत्ति की उत्पत्ति पितृसत्ता के लिए वह कारगर हथियार स्थापित हुआ । जिसके बलबूते पर उन्होंने मातृसत्ता को अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए एकदम उलट दिया ।

1.3.1 मातृसत्तात्मक समाज से पितृसत्तात्मक समाज की ओर

जैविक उद्विकास क्रम में रूपायित मातृसत्तात्मक समाज का स्वरूप कृषि तथा पशुपालन के आरंभ होने के साथ-साथ धीरे –धीरे बदलने लगा । अदिम मानवीय संबन्धों को पितृसत्तात्मक मानने वाला डेज़मन्ड मॉरिस भी अपनी विशेष तार्किक दृष्टि से ही सही तात्विक रूप से कृषि तथा पशुपालन के आरंभ से पितृसत्ता की सामाजिक वर्चस्ववादी अवस्थिति संभव होता पाते हैं । सब कुछ अपने नियंत्रण में रखने की पुरुष की अभिवांछा तथा युद्ध एवं संघर्ष की लालसा कृषि क्रांति के बाद विशेष रूप से उभरने की स्थिति का ब्योरा वे अपनी पुस्तक 'नग्न पुरुष' में प्रस्तुत करते हैं ।[1] फ्रेडरिख़ एंगेल्स ने बहुत पहले ही कृषि के आरंभ से मातृसत्ता के ऊपर पुरुष सत्ता की वर्चस्व स्थापित होने की स्थिति के संबन्ध में अपनी पुस्तक परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति में विशद अध्ययन प्रस्तुत कर चुका था। उनके अनुसार "पशुपालन ने सम्पदा का एक ऐसा स्रोत पैदा कर दिया था जिसके पहले कल्पना भी नही की गयी थी, और पूरी तरह नये सामाजिक सम्बन्धों को जन्म दिया था । बर्बर युग की निम्न अवस्था तक मकान,कपडे अनगढ ज़ेवर और आहार उपलब्ध तथा तैयार करने के औजार : नाव, हथियार और बहुत मामूली ढंग के घरेलु बर्तन-भांडे ही स्थायी सम्पत्ति होते थे । आहार हर रोज़ नये सिरे से प्राप्त करना पडता था पर अब घोडों, गधों, गाय-बैलों, भेड़-बकरियों और सुवरों के रेवडे के रूप में गड़ेरियों का जीवन बितानेवाले उन्नत लोगों को भारत के पंचनद प्रदेश में तथा गंगा नदी के क्षेत्र में तथा आमू दरिया और सीर दरिया के पानी से खूब हरे-भरे, आज से कहीं ज़्यादा हरे-भरे

[1] Morris Desmond- The Naked Man - Kindle Edition location 172

घास के मैदानों में रहनेवाले आर्यों को तथा फारात और दलजा नदियों के किनारे रहने वाले सामी लोगों को –एक ऐसी संपदा मिल गयी थी, जिसकी केवल देख-रेख और अत्यन्त साधारण निगरानी करने से ही काम चल जाता था।"[1] इस प्रकार धीरे-धीरे मातृसत्तात्मक समाज पितृसत्तात्मक समाज में तब्दील होते गये । रेवडे की रखवाली तथा कृषि के औजार का स्वामित्व पुरुषों को अप्रत्याशित रूप से सामाजिक उत्पादन व्यवस्था के केन्द्र में ला खडा किया । पहले जिस संपत्ति पर गोत्र तथा उसके माध्यम से मातृसत्ता का अधिकार था वह नयी सामाजिक उत्पादन व्यवस्था के जन्म लेने के साथ स्त्रियों के हाथों से छूटता गया । ऐंगलस कहते हैं -"इस प्रकार जैसे–जैसे सम्पत्ति बढती गयी, इसके कारण एक ओर तो परिवार के अंतर स्त्री की तुलना में पुरुष का दर्जा वैसे–वैसे अधिक महत्वपूर्ण होता गया और दूसरी ओर, पुरुष के मन में यह इच्छा भी ज़ोर पकडती गयी कि वह अपनी मज़बूत हो चुकी स्थिति का फायदा उठाकर उत्तराधिकार की पुरानी प्रथा को उलट दे ताकि उसके अपने बच्चे हकदार हो सकें । परन्तु जब तक मातृसत्ता के अनुसार वंश चलता रहा, ऐसा करना असम्भव था । इसलिए आवश्क था कि मातृसत्ता को ही उलट दिया जाये और ऐसा ही किया भी गया। "[2]

इस तरह विभिन्न प्रकार के मानवीय संबन्धों को सहज रूप से वर्चस्व विहीन होकर स्वीकारने वाला मातृसत्तात्मक समाज पुरुष के माहत्वाकांक्षा पूर्ण वर्चस्व प्रणाली द्वारा दबाया गया । अपने स्वार्थ सिद्धि केलिए पुरुष ने संस्कृति का एकमुश्त ढाँचा तैयार किया । इस ढाँचे के बाहर जो भी संबन्ध रूपायित हुआ उन सब को पुरुष सत्ता ने वैधता देने से इनकार किया । कृषि क्रान्ति के प्रारंभिक दौर में ही सरदारी संप्रदाय के तहत सामाजिक संबन्धो पर पुरुष वर्चस्व अपना अधिकार जमाना प्ररंभ

[1] फ्रेड़रिख़ एंगेल्स (अनु.नरेश नदीम) - परिवार निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति - पृ.सं 61
[2] फ्रेड़रिख़ एंगेल्स (अनु.नरेश नदीम) - परिवार निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति - पृ.सं 63

कर चुका था । वह धीरे-धीरे इस तरह पनपा कि स्त्रीसत्ता हमेशा केलिए हाशिए में चला गया ।

1.3.2 कृषि समाज का रूपायन

माना जाता है कि लगभग 10,000 साल पहले कृषि प्रारंभ हुआ था । प्रारंभिक कृषि समाज का स्वरूप कैसा रहा है और कृषि का प्रारंभ कैसे हुआ यह सब बहुत कुछ अनुमानों पर आश्रित है । युवाल नोआ हरारी यह अनुमान लगाते हैं कि मात्र भोजन पदार्थों की आपूर्ति ही कृषि क्रान्ति के पीछे नहीं रही होगी । इस के पीछे बहुत कुछ सांस्कृतिक वजह भी काम किया होगा । दक्षिण-पूर्व तुर्की के गोबेक्लि तेपे में हुई खुदाई में प्राप्त ऐतिहासिक अवशेषों का विश्लेषण करते हुए वे कहते हैं -"गोबेक्ली तेपे को ढाँचे 9500 ईसा पूर्व पुराने हैं और सारे उपलब्ध प्रमाण इस ओर संकेत करते हैं कि उनका निर्माण शिकारी –भोजन-संग्रहकर्ताओं द्वारा किया गया था । पुरातत्वविदों के समुदाय को शुरुआत में इन खोजों का श्रेय देना मुश्किल प्रतीत हुआ, लेकिन एक के बाद एक परीक्षणों ने इन ढाँचों की पुरानि तिथि और इसके निर्माण-कर्ताओं के कृषि-पूर्व समाजों के होने की पुष्टि की। प्राचीन भोजन-खोजियों की क्षमताएँ और उनकी संस्कृतियों की पेचीदगी उससे कहीं ज़्यादा प्रभावशाली प्रतीत होती है, जितने का अनुमान पहले किया जाता रहा था।"[1] इस प्रकार अतिरिक्त खाद्यान्न उपलब्ध कराने के सामूहिक जतन के पीछे ज़रूर मनुष्य की सौदर्य चेतना, सांस्कृतिक और धार्मिक आग्रह काम किया होगा । जो भी हो अन्नसंग्रहकर्ता से जब मनुष्य कृषक बन गया तब से मनुष्य मानव इतिहास के एक ऐसे दौर में कदम रखता है जहाँ से लौटना नामुमकिन था ।

[1] युवाल नोआ हरारी (अनु.मदन सोनी) - सेपियन्स मानव-जाती का संक्षिप्त इतिहास - पृ.सं.103

1.3.3 उपासना पद्धतियाँ

मानवीय उपासना पद्धतियों का बुनियादी स्वरूप जीववादी था। जिसे अंग्रेज़ी मे अनिमिसम कहा जाता है । जीववाद अपने आप में कोई धर्म नहीं है वह बुनियादी तौर पर हर धर्म में निहित चेतना का नाम है । जिसे आदिम समाज ने विभिन्न उपासना पद्धतियों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है । इरफान हबीब के अनुसार प्रस्तर युगीन मनुष्य की उपासना पद्धतियाँ धर्म का रूप ग्रहण नहीं कर पाया था । मध्य प्रस्तर युगीन अन्नसंग्रहकरता मनुष्य के लिए उपासना पद्धतियों को संस्थागत रूप देने का मौका उपलंब्ध नही हुआ होगा। कृषि क्राति के प्रारंभ होने के साथ इन उपासना पद्धतियों में पर्याप्त विविधताएँ समाहित होते गये। धीरे-धीरे विभिन्न प्रकार के देवी देवताओं की परिकल्पनायें मानवीय सामाजिक संबन्धों के नियामक तत्व के के रूप में उभरने लगे । इस प्रकार कृषि के विकसित होने के साथ विभिन्न प्रकार के देवी देवताओं का आविर्भाव हुआ । देवता के लिए विश्व भर की विभिन्न भाषाओं में प्रयुक्त शब्दों का उद्भव लगभग समान रूप से हुआ है। डॉ एम मुहम्मदाली की 'मतवुम् मनुष्यनुम्' (धर्म और मनुष्य) नामक पुस्तक में कहा गया है कि यूरोप और पश्चिम मध्य एशिया के विभिन्न भाषाओं में आकाश, दिन और प्रकाश जैसे शब्दों से संबन्धित होकर दैविक शब्द का उद्भव हुआ है । भारोपीय शब्द जैसे Deiwo, Dyew, Diw आदि शब्दों का संबन्ध 'द्योव' और 'दिन' जैसे प्राकृतिक घटनाओं से है । संस्कृत शब्द 'दिवम्' का संबन्ध आकाश, स्वर्ग , दिन, सुबह आदि से है । संस्कृत के 'दिव्यम्' शब्द का पहला मतलब दिन से जुडा हुआ था । ग्रीक भाषा में मानव रूप धारी देवता केलिए प्रयुक्त शब्द 'सेयॉस' (Zues) 'दियॉस' (Dios) तथा लातिन का 'जूप्पिट्टर' (Juppiter) आदि शब्दों का संबन्ध भी प्रकाश से जुडा हुआ है । [1] इस प्रकार देखा

[1] डॉ एन एम मुहम्मदाली - मतवुम् मनुष्यनुम् - पृ.सं 21

जाये तो मानुष्य की उपासना पद्धतियों का आदिम स्रोत गहरी रूप से प्रकृतिक घटनाओं से संबन्धित नज़र आयेंगे ।

1.3.3.1 उपासना पद्धतियों का संस्थानीकरण

जिस प्रकार मानव समूहों के आपसी रिश्ता बढता गया उसी हिसाब से विभिन्न देवी देवताओं पर बने मिथकीय सांस्कृतिक स्वरूपों का भी आदान प्रदान होता रहा । प्रारंभ में बहुदेव वादी होने के नाते मनुष्यों की धर्मिक भावना समावेशी स्वरूप लिया हुआ था । पर जब से सत्ता और अधिकार के सामाजिक श्रेणीकरण शुरू हुआ तब से मानवीय धर्मिक चेतना में कट्टरतापन आने लगा । शुचिता की धारणा इस सामाजिक श्रेणीकरण का सबसे कारगर औजार था । सामाजिक श्रेणीकरण से सत्ता को केद्रीय बनाये रखने का प्रायास विश्व की पूरी संस्कृतियों में कमोबेश देखा जा सकता है । युवाल नोआ हरारी के शब्दों में " शुचिता और अशुचिता की धारणाएँ हिन्दू धर्म के मूलभूत तत्वों में शामिल थी और उनका उपयोग सामाजिक पिरमिड को मज़बूत बनाने के लिए किया गया । पवित्र हिन्दुओं को सिखाया गया कि दूसरी जाति के लोगों का स्पर्श ना सिर्फ उन्हें निजी तौर पर अपवित्र करेगा, बल्कि पूरे समाज को भी अपवित्र बना देगा और इसलिए ऐसे लोगों से उन्हें घृणा करनी चाहिए । इस तरह की धारणाएँ सिर्फ़ हिन्दुओं की ही विशेषताएँ नहीं हैं । समूचे इतिहास के दौरान, और लगभग सारे समाजों में अपवित्रता और शुचिता की धारणाएँ सामाजिक और अनेक कुलीन वर्गों द्वारा अपनी विशेष हैसियत को बरकरार रखने के लिए इनका दुरुपयोग किया गया है।"[1] प्रारंभिक तौर पर सामाजिक श्रेणीकरण का यह प्रयास सरदारी संप्रदाय में देखा जा सकता है । धीरे-धीरे वह गण राज्य के रूप में विकसित हुआ। अधिकार के पुश्तैनि वर्चस्व को बरकरार रखने केलिए नये मिथकों का आविष्कार लगातार होता रहा । अधिकार को ईश्वर प्रदत्त साबित करना आधिकार को अविच्छिन्न

[1] युवाल नोआ हरारी (अनु.मदन सोनी) - सेपियन्स मानव-जाती का संक्षिप्त इतिहास - पृ.सं 122

बनाये रखने के लिए सबसे कारगर औजार था । साम्राज्यवाद के उदय तक किसी न किसी रूप में विश्व के हर शासन व्यवस्था अपने अधिकार को ईश्वर प्रदत्त साबित करने की कोशिश किया करता था । इस प्रकार सत्ता धार्मिक भावना के बलबूते पर अपने केन्द्रीय वर्चस्व को कायम रख सका । धीरे-धीरे बहुदेव वाद एकेश्वर वाद में परिणित होता गया । बहुदेववाद के बरअक्स एकेश्वरवाद सत्ता के केन्द्रीकरण के लिए कुछ ज़्यादा ही उपयुक्त था । इस प्रकार सत्ता के साथ धर्मिक भावना का गठजोड़ उत्तरोत्तर पेचीदा होता गया । आज भी वैश्विक व्यवस्था के नियामक तत्वों में सब से प्रमुख स्थान धार्मिक चेतना हथियाये हुए हैं ।

1.3.4 सरदारी संप्रदाय

प्रारंभिक स्तर पर कृषि बहुत छोटे पैमाने पर शुरू हुआ होगा । समाज का सबसे छोटा इकाई परिवार होने के नाते कृषि के लिए प्रारंभिक जतन पारिवारिक स्तर पर शुरू होने का अनुमान लगाया जा सकता है । रोमिला थापर कहती हैं- ।"In many early societies the family as a unit, or as a constituent part of clan, herded animals and cultivated crops. Younger member were expected to labour for the elders. This was labour performed because of a kinship link and is prior to the induction of non-kin labour."[1] अर्थात बहुत सरे आदिम समाजों में परिवार एक इकाई या कहे गोत्र का एक संवैधानिक अंग के रूप में काम करता था । वे गाय के रेवडे की रखवाली ताथा धान उपजाता था और इसके लिए शारिरिक श्रम परिवार की नातेदारी द्वारा मुहय्या करता था। नातेदारी के बाहर श्रम व्यवस्थित होने के पूर्व यही प्रणाली चालू रही थी । परिवार के अंगों की बढ़ोत्तरी के मुताबिक कृषि में भी परिवर्तन लगातार आते रहे होंगे । परिवार के नातेदारी के आधार पर रूपायित इस समाज को 'जन' कहा जाता है धीरे-धीरे मानव 'जन' का स्वरूप भी परिवर्तित होता

[1] Romila Thapar - Early India From The Origin To AD 1300 - Kindle Edition - Location 1813

गया होगा । 'जन' लत्तीन शब्द है जो रक्त संबन्ध वाले समजिक इकाई को दर्शाते हैं । जन के स्वरूप के बारे में प्रसन्न कुमार चौधरी कहते हैं- "हम मध्यपाषाण काल के अंत तथा नवपाषाण काल के आरम्भ के काल में मानव-जनों में मौजूद श्रम-विभाजन का थोड़ा-बहुत अंदाजा तो लगा ही सकते हैं : क . प्रस्तर, अस्थि और काष्ठ से सूक्षम उपकरण बनने वाला एक दक्ष समूह; ग. सुदूर इलाकों से उपकरणों के लिए जरूरी सामग्री जुटाने वाला समूह; घ. शिकार में कुशल श्रेणी; ङ. फसल बटोरने अथवा प्रारंभिक स्तर की खेती-बागवानी और इन्हीं से जुड़े अन्य सहायक कर्म करनेवाला समूह; च. कर्मकाण्डों से जुड़े ओझा-गुणी-वैद्य जैसे दक्ष लोग; और छ. पूरे जन का नेतृत्व करने वाला सरदार अथवा सरदारिन तथा उनके सहायक । इस श्रम विभाजन के भी अमूमन तीन रूप होंगे– एक, कई छोटे जनों में इस श्रम-विभाजन के बावजूद अनेक लोग एक साथ कई तरह के श्रम में भाग लेते होंगे; दूसरे अपेक्षाकृत बड़े जनों में यह विभाजन अधिक स्पष्ट होगा और विभिन्न कार्यों में दक्ष लोग अथवा गण विकसित हो गए होंगे।"[1] कृषि के साथ विकसित 'जन' के लिए अपने आंतरिक और बाह्य सामाजिक संबन्धों को स्थिर रखने के लिए एक व्यवस्थित सत्ता की ज़रूरत बढ़ती गयी। प्रसन्न कुमार चौधरी कहते हैं "उपर्युक्त स्थितियाँ जनों के बीच ऐसे सत्ता-संगठनों की जरूरत पेश करती थी जो जनों के विभिन्न समूहों के बीच समन्वय कायम करने और बाहरी जनों से सुरक्षा प्रदान करने अथवा कार्यकारी सम्बन्ध विकसित करने के जरिए जनों के विस्तारित आत्म-पुनरुत्पादन का मार्ग प्रशस्त कर सकें । सत्ता संगठन के इस प्रारंभिक रूप को इतिहासकार तथा मानवशास्त्रि सरदारी-प्रथा (चीफडम) के नाम से संम्बोधित करते हैं।"[2] यह सरदारी-प्रथा मानवीय सत्ता संगठन का प्रथम रूप था। धीरे-धीरे अपने में सीमित सरदारी-प्रथा का विकास अन्य 'जनों' से निरंतर संपर्क

[1] प्रसन्न कुमार चौधरी -अतिक्रमण की अंतर्यात्रा - पृ .सं. 170
[2] प्रसन्न कुमार चौधरी -अतिक्रमण की अंतर्यात्रा - पृ..सं.172

के वजह से संभव होता गया । कृषि के साथ बढ़ती आबादी को पालना उत्तरोत्तर 'जन' के सीमित संसाथनों से असंभव होता गया और अन्य जनों से संपर्क अनिवार्य होता गया । अन्य जनों से संपर्क और सामाजिक संबन्ध के नये स्वरूपों के अस्तित्व में आने का सबसे करगर औजार साबित हुआ 'वस्तु- विनिमय' (Barter system) जो ऐतिहासिक क्रम में विकसित होकर पैसे का रूप धारण कर लिया था ।

1.3.5 जनपद राज्यों का उद्भव

पितृसत्तात्मक समाज के साथ ही निजी संपत्ति का भी प्रतुर्भाव हुआ था । मुखिया या सरदारी संप्रदाय के साथ निजी संप्पत्ती का स्वरूप उत्तरोत्तर विशाल होता गया । समाज के विकास के साथ निजी संपत्ती की रखवाली उत्तरोत्तर पेचीदी होती गयी । सरदारी संप्रदाय के सीमित मिथकीय परिकल्पनाओं द्वारा विशाल समाज को नियंत्रित रखना संभव नही रह गया। कबीलों के बीच बढ़ती तनव भी एक केन्द्रीकृत शासन प्रणाली की जरूरत को अंजाम दिया। 'परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति' में फ्रेड़रिक एंगल्स एथेनी राज्य के उद्भव को रेखांकित करते हुए कहते हैं– "ज़मीन की ख़रीद और बिक्री, खेती और दस्तकारी के बीच निरन्तर श्रम-विभाजन, व्यापार और जहाज़रानी के कारण गोत्रों, बिरादरियों और कबीलों के सदस्य जल्द ही आपस में घुल-मिल गये ..... पडोसी कबीले के साधारण संघ से आगे बढ़कर अब सारे कबीले एक ही जनगण के रूप में घुल-मिल गये। इससे एथेंसवासियों के सामान्य सार्वजनिक कानून की व्यवस्था उत्पन्न हुई जिसे अलग-अलग क़बीलों और गोत्रों के कानूनी दस्तूरों के ऊपर समझा जाता था । इस व्यवस्था से एथेंस के सभी नागरिकों को नागरिक की हैसियत से उन इलाकों में भी कुछ अधिकारों और अतिरिक्त कानूनी सुरक्षा की प्राप्ति

हुई जो उनके अपने क़बीले के इलाके न थे।"[1] विश्व में लगभग सभी राज्यों की उत्पत्ति कमोबेश इसी तरीके से हुई ।

भारत में जनपदीय शासन प्रणाली के उद्भव को रेखांकित करते हुए रोमिला थापर कहती हैं –"किसी विशेष क्षेत्र में स्थायी रूप से बस जाने से किसी 'जन' अथवा 'जनों के समूह' को एक भौगोलिक अभिज्ञता मिल गई और बाद में उस क्षेत्र पर अपना आधिपत्य स्थापित करके इस अभिज्ञता को ठोस रूप दिया गया और वह क्षेत्र साधारणतया संबन्धित जन के नाम से पुकारा जाने लगा इस अधिकार को बनाये रखने के लिए या तो प्रजातंत्र के रूप में अथवा राजतंत्र के रूप में एक राजनीतिक संस्था आवश्यक थी ।"[2] रोमिला थापर के अनुसार भारत की प्रारंभिक शासन प्रणाली प्रजातंत्रिक रही है वह धीरे-धीरे राजतंत्र में बदलती गयी । वे कहती है –"प्रजातंत्र और राजतंत्र-ये दोनों पद्धतियाँ परस्पर निषेधक नहीं थीं और एक का दूसरे में परिवर्तन अनसुनी बात नहीं थी । उदाहरणार्थ, कंबोज ने राजतंत्र को छोडकर प्रजातंत्र को अपनाया । किन्तु गागेय प्रदेश में जहाँ राजतंत्री व्यवस्था का बोलबाला था, ऐसा कम होता था । जन संस्कृति के पतन तथा कृषि अर्थव्यवस्था पर बढ़ती हुई निर्भरता से राजतंत्र के विकास को प्रोत्साहन मिला।"[3] भारत में सामाजिक संबन्धों का स्वरूप जनपदों के आविर्भाव के साथ विभिन्न मिथकीय संदर्भों से जुडकर उत्तरोत्तर विकसित होता गया । धीरे-धीरे जनपद महाजनपदों में तबदील होता गया । रामशरण शर्मा अपनी पुस्तक प्रारंभिक भारत का परिचय में कहते हैं –" पाली पुस्तकों से पता चलता है कि जनपद बढ़कर महाजनपद बन गए । बुद्ध के समय में हम 16 बडे-बडे राज्य पाते हैं जो महाजनपद कहलाते थे। इनमें अधिकतर राज्य विंध्या के उत्तर में थे और पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत से बीहार तक फैले हुए थे । इन में मगध, कोसल, वत्स, और

[1] फ्रेड़रिख़ एंगेल्स (अनु.नरेश नदीम) - परिवार निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति - पृ.सं 118
[2] रोमिला थापर - भारत का इतिहास - Kindle Edition - Location 1569
[3] रोमिला थापर - भारत का इतिहास - Kindle Edition - Location 1712

अवंति अधिक शक्तिशाली थे।"[1] महाजनपदों के आविर्भाव के साथ साम्राज्यवाद की भी नीव पड जाती है । विश्व के विभिन्न जगहों में लगभग भारत के समान ही छोटे-छोटे राज्य अपने क्षेत्र विस्तार के क्रम में जनपद से महाजनपद होते गयें । क्षेत्र विस्तार की यही महत्वकांक्षा अंततः साम्राज्यों के रूपायन का कारण बना ।

1.3.6 साम्राज्यवाद

साम्राज्य शब्द के अर्थ को प्रायः यूरोप के साम्राज्यवाद के रूप में पहचाना जाता है । पर साम्राज्य का असली संदर्भ विश्व के विभिन्न जगहों पर यूरोप से कहीं पहले शुरू हो चुका था । भारत में साम्राज्य का प्रदुर्भाव मौर्य साम्राज्य के साथ होता है । रोमिला थापर कहती हैं -"मौर्य साम्राज्य में एक बहुत बडे क्षेत्र पर एक ही सत्ता का नियंग्रण हो जाने के फलस्वरूप राजनीतिक स्थिति को समझने में आसानी होती है । राजनीतिक प्रणाली में अपेक्षाकृत अधिक एकरूपता आ गई।"[2] एकरूपता को स्थापित करना साम्राज्य की सबसे बडी विशेषता है । विभिन्न संस्कृतियों को साम्राज्य लगातार धीरे-धीरे अपने एकछत्र के नीचे समेटते चले जाते है। मनवीय सामाजिक संबन्धों की विविधता को एकरूपता के ढाँचे में ढालकर साम्राज्य अपने वर्चस्व को गढते रहते हैं । युवाल नोआ हरारी कहते हैं । "साम्राज्य मानवीय विविधता में ज़बरदस्त कमी के लिए एक प्रमुख कारण थे। साम्राज्यवादी स्टीमरोलर ने धीरे-धीरे बहुत सारे जन-समुदायों की अनूठी विशेषताओं को ख़त्म कर दिया और समुदायों से नए और ज़्यादा बडे समूह गढ़ दिए।"[3] साम्राज्य की इस बढ़ती महत्वाकांक्षा के चलते इतिहास वैश्विक संदर्भ में तीव्र गति से बदलने के लिए मजबूर हुआ । साम्राज्य वाद के उदय के साथ विश्व ने नये शक्ति-संघटन और घोर नर संहार की अनवरत धारा देखी ।

---

[1] रामशरण शर्मा - प्रारंभिक भारत का परिचय - पृ.सं 147

[2] रोमिला थापर - भारत का इतिहास –Kindle Edition Location 2319

[3] युवाल नोआ हरारी (अनु. मदन सोनी) - सेपियन्स- मानव जाति का संक्षिप्त इतिहास पृ.सं 209

साम्राज्य सीमा को विस्तृत करने की कोशिश दुनिया के सभी साम्राज्यों ने किसी न किसी प्रकार लगातार चालू रखी है । नतीजतन भीषण युद्ध एवं नरसंहार विश्व के विभिन्न जगहों पर लागातार होते रहे हैं । एक साम्राज्य को खडा करने और उसे क़ायम रखने के लिए आमतौर से विशाल आबादियों का क्रूर नरसंहार और बचे रह गए लोगों में से एक-एक का निर्दयतापूर्वक दमन ज़रूरी होता था। साम्राज्यवादी आकांक्षा की इस युद्ध लिप्सा को समाज मनोवैज्ञानिक जोसफ़ शुमपीटर ने विश्लेषित किया है। उनका हवाला देते हुए आभय कुमार दुबे कहते हैं - "शुमपीटर मानते थे कि साम्राज्यवाद एक ध्येयहीन गतिविधि थी ताकि राज्य की संस्था अपना ज़बरन असीमित विस्तार कर सके । वे इस गतिविधि को एक मनोभाव के रूप में देखते है जो साम्राज्य राज्यों को 'योद्धा वर्ग' की देन है । हालाँकि योद्धा वर्ग की रचना राज्य की विदेशी आक्रमणों से प्रतिरक्षा के उद्देश्य से हुई थी, पर उसने अपने निरंतरता बनाये रखने के लिए साम्राज्यवाद का सहारा लिया।"[1] इस प्रकार साम्राज्यवाद के उदय के साथ मानवीय संबन्ध वैश्विक धरातल पर नये-नयी शक्ति संरचनाओं के अनुसार रूपायित होना शुरू हुआ था ।

साम्राज्यवादी आकांक्षा के अंतिम चरण में यूरोप अपने वर्चस्व को भली भाँति स्थापित करने में सक्षम हुआ था । साम्राज्यवाद का आधुनिक अर्थ संदर्भ भी विशेष रूप से यूरोप के वर्चस्व स्थापना से जुडा हुआ है । अभय कुमार दुबे कहते हैं –"अपनी सीमाएँ लाँघ कर विदेशी धरती को फ़ौजी ताक़त से जीत कर अपने क़ब्जे में रखने वाले साम्राज्यों की कहानियों से विश्व-इतिहास भरा हुआ है । मिस्त्रियों, असीरियनों, बेबीलोनियनों, रोमनों और मंगोलों ने इस तरह के बड़े-बड़े साम्राज्य खड़े किये थे । लेकिन, साम्राज्य स्थापित करने की इस प्रक्रिया को आधुनिक अर्थ में साम्राज्यवाद की संज्ञा पंद्रहवीं सदी में मिली जब युरोपियन ताक़तों ने अपना विस्तार शुरू किया ।

[1] समाजविज्ञान विश्वकोश खम्ड 6 - संपादक - अभय कुमार दुबे - पृ.सं 2048

साम्राज्यवाद का यह सिलसिला बीसवीं सदी के मध्य तक चला जब वि-उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया के तहत राष्ट्रीय मुक्ति संग्रामों और क्रातियों की लहर ने इसका अंत कर दिया। "[1] कुलमिलाकर कहा जा सकता है कि जनपदीय शासन प्रणाली की साम्राज्यवादी शासन प्रणाली में तबदीली विश्व के इतिहास में सबसे बेजोड घटना थी । यूरोप वैश्विक धरातल पर लगातार बदल रहे साम्राज्यवादी मुहिम के केन्द्र में अपने आप को अपनी कुछ भौगोलिक विशेषताओं के चलते भली-भाँति अवस्थित कर सका । धीरे-धीरे यूरो केन्द्रीकरण विश्वव्यवस्था का नियामक तत्व बन गया । पूर्व को हाशिये में तबदील करते हुए यूरोप आज की भूमंडलीय व्यवस्था में अपने वर्चस्व को बाक़यदा बरकरार रख रहा है ।

1.4 नवजागरण

मानवीय सामाजिक संबन्धों के मीथकीय स्वरूप का सर्वाधिक प्रभाव शासन प्रणालीयों पर पडा है। जनपदीय शासन प्रणाली से लेकर साम्राज्यवादी मुहिम के विभिन्न स्तरों में दैविक हस्तक्षेप बराबर कायम रहा है । शासक और शासन से जुडी मंडली अपने हर करतूत को ईश्वर द्वारा नियोजित घोषित करते रहते थे । विश्व में कई स्तरों पर विभिन्न समयों में शासन प्रणाली की इस अमानवीयता का प्रतिरोध हुआ है । दरअसल नवजागरण विश्व के कई जगहों पर कई स्तरों पर उभरी इन्ही प्रतिरोधी चेतनाओं की कुल जमा पूँजी हैं।

नवजागरण के ऐतिहासिक संदर्भ को हमेशा यूरोप से जोडकर व्याख्यियत किया जाता है, पर नवजागरण का वास्तविक संदर्भ हर देश की मिट्टी में रच बसा हुआ है। विकिपीडिया में यूरोप के नवजागरण या पुनर्जागरण के बारे में कहा गया है – "पुनर्जागरण का शाब्दिक अर्थ होता है 'फिर से जागना'। चौदहवीं और सोलहवीं

[1] समाजविज्ञान विश्वकोश खम्ड 6 - संपादक - अभय कुमार दुबे - पृ.सं 2047

शताब्दी के बीच यूरोप में जो सांस्कृतिक प्रगति हुई उसे ही 'पुनर्जागरण' कहा जाता है । इसके फल स्वरूप जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नवीन चेतना आई । यह आन्दोलन केवल पुराने ज्ञान के उद्धार तक ही सीमित नहीं था , बल्कि इस युग में कला, साहित्य और विज्ञान के क्षेत्र में नवीन प्रयोग हुए । नए अनुसंधान हुए और ज्ञान-प्राप्ति के नए-नए तरीके खोज निकाले गये । इसने परलोकवाद और धर्मवाद के स्थान पर मानवतावाद को प्रतिष्ठित किया । पुनर्जागरण वह आन्दोलन था जिसके द्वारा पश्चिम के राष्ट्र मध्ययुग से निकलकर आधुनिक युग के विचार और जीवन शैली अपनाने लगे।"[1] यूरोप मे बारहवीं शताब्दी में जो अंधारकार युग छाया हुआ था उसी की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप नवजागरण घटित हुआ था । यूरोप ने अपने इस नवजारगण को पूरे विश्व की नवजारगण प्रणाली का संदर्भ बिन्दु के रूप में प्रतिस्थापित करने की पुरजोर कोशिश की जिसके चलते पूरे विश्व के ज्ञानोदय को यूरोप का दाय स्वीकार करने का आग्रह अकादमिक क्षेत्र में बराबर चलता रहा। नामवर सिंह 'हिन्दी नवजागरण की समस्यायें' नामक अपने लेख में नवजागरण को इस यूरोकेन्द्रित दृष्टि से मुक्त होकर पहचानने की अहमियत को रेखांकित करते हुए कहते हैं –"उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय नवजागरण की चर्चा के क्रम में युरोपीय 'रेनेसांस' का जिक्र इतना आया है कि उसे एकदम स्मृति-पटल से मिटा देना मुश्किल है, और उसे शाश्वत-सर्वभौम मान लेने का एक प्रलोभन भी है किन्तु हमारे नवजागरण की एक देन वह आलोचनात्मक दृष्टि भी है जो यूरोप के 'प्राच्यविद्यावाद' (ओरिएंटलिज्म) के इस उपनिवेशवादी मायापाश को छिन्न करने की चेतावनी देती है।"[2] विश्व भर के हर देशों ने अपने रूढीग्रस्त मानसिकता का प्रक्षालन अपने स्वत्व के सही पहचान के क्रम मे किया था । भारतीय संदर्भ में सबसे पहले बुद्ध ने रूढीग्रस्त मानसिकताओं पर प्रहार किया था । जब पूरा यूरोप अन्धकार में डूबा हुआ था तब ज्ञान का प्रकाश एशिया से प्रस्फुटित

[1] https://hi.wikipedia.org/wiki/ पुर्जागरण
[2] नामवर सिंह - हिन्दी नवजागरण की समस्यायें–www.hindisamay.com

हुआ था। नवजागरण की इस व्यपक संदर्भ को रेखांकित करते हुए बंकिमचन्द्रचट्टोपाध्याय कहते हैं–"यूरोप कितना पहले सभ्य हुआ ? सिर्फ चार सौ साल पहले पन्द्रहवीं सदी तक यूरोप हमसे अधिक असभ्य था । सभ्यता यूरोप में एक घटना से आई । अकस्मात यूरोप ने चिर-विस्मृत ग्रीक संस्कृति का पुनराविष्कार किया ।... पेट्रार्क, लूथर, गैलिलियो, बेकन; अकस्मात् यूरोप को भाग्योदय हो गया ।"[1] वैसे तो यूरोप का नवजागरण विश्व भर के नवजागरण को प्राभावित अवश्य किया था । फिर भी नवजागरण का मूल उत्स को हर देश ने अपने स्वत्व को तलाश कर अपनी मिट्टी से प्राप्त किया था ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि नवजागरण मनव इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण घटना है । मनुष्य का सामाजिक संबन्ध किसी मिथक के इर्द-गिर्द रूपायित होकर निरंतर विकसित होता जाता है, जब सामाजिक संबन्धों के इस मिथकीय आधार में कट्टरता और रूढीयाँ घर करने लगे तब मनुष्य की चिर-परिवर्तन शाली मेधा ने उसका प्रतिरोध किया । विश्व भर के विभिन्न ऐतिहासिक संदर्भों में यह चेतना सामाजिक जीवन के मिथकीय आधारों के रूढियों को अपनी अस्मिता के तहत ही बराबर तोडकर और पुनर्गढ़ित करके उभरी है। भारतीय आधुनिकता को भी नवजागरण के इसी देशज संदर्भ के साथ पहचानना अनिवार्य है, तभी वह भारतीयता समकालीनता से जुड पायेगी । पश्चिमीकरण की सैद्धान्तिक बैसाखी यों से हटाकर नवजागरण और आधुनिकता पर विचार करने पर ही वह मूल्य परिघटना के रूप में समकालीन भारतीय परिवेश तक अपनी अनस्यूतता बरकरार रख पायेगी ।

[1] बंकिमचन्द्रचट्टोपाध्याय - उद्दरण – हिन्दी नवजागरण की समस्यायें – नामवर सिंह - www.hindisamay.com

1.5 समकालीन समय और बदलते मानवीय संबन्ध

मानवीय संबन्धों का समकालीन संदर्भ बेहद जटिल है । इन जटिलताओं के मूल को हम आधुनिकता में पा सकते हैं । आधुनिकता और वैज्ञानिक क्रान्ति वास्तव में मानव मुक्ति का एलान लेकर आया था या वह मानव को और अधिक जकडन में बाँधा था यह पर्याप्त वाद विवाद का विषय है फिर भी एक बात निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि आधुनिकाता जो विश्वमानव की मुक्ति का एलान लेकर उपस्थित हुआ था असका दायरा बहुत सीमित ही रहा था । किशन पटनायक अपनी पुस्तक 'विकल्पहीन नहीं है दुनिया' में आधुनिकता के बहुत सारे पोल को खोलकर रखते हैं और भारतीय संदर्भ में आधुनिकता के विकल्प को ढूँढते हैं। आधुनिकता के विकल्प ढूँढने के इसी क्रम में वे अपनी समकालीनता को चिह्नित करते भी जाते हैं। वे कहते हैं –"केवल जीवित रहने के लिए जीवन संग्राम करते रहना एक निकृष्ट स्थिति है । धनी वर्ग या धनी देश का होने से इस स्थिति में कोई फरक नहीं पड़ता है । कारण, आज के जैसे विषमतापूर्ण विश्व-समाज में एक हिस्से का जीवन –संग्राम पेट भरने के लिए होता है तो दूसरे हिस्से का जीवन –संग्राम पेटू बने रहने लिए होता है । इस निकृष्ट स्थिति से मनुष्य जाति को ऊपर उठाने के काम में इस वक्त के सारे शास्त्र अपनी असमर्थता जाहिर कर रहे हैं।"[1] आधुनिकता की बहुत सारी जटिलतायें समकालीन समय में विकराल रूप ले रही हैं । हम अब एक ऐसे बिन्दु पर पहुच गये हैं जहाँ से लौटना कठिन कार्य हो गया है। एक ही साथ वर्चस्व के अनगिनत अर्थ संदर्भ समकालीन समय में बदस्तूर है । विजय कुमार कहते हैं- "मौजूदा समय में हमारी यह दुनिया अब पहले के समयों की तरह सरल रैखिक (यूनीलिनियर) और एकान्तिक रूप से तर्कपूर्ण नहीं रही है । तन्त्र की ताकत इस बीच इतनी बढ़ चुकी है कि वह परस्पर द्वन्द्वरत

[1] किशन पटनायक - विकल्पहीन नहीं है दुनिया – पृ सं 18

शक्तियों का एक 'कोलाज' रच उन्हें अपने भीतर एप्रोप्रिएट कर लेता है।"[1] मैजूदा समय की इन जटिलताओं को समझने के लिए आधुनिकता के साथ उभरे राष्ट्र -राज्य , सजातीय रिक्तकाल, मिसिहाई समय, प्रिन्ट-पूंजी आदि अवधारणाओं के साथ इन सब की उत्तर स्थिति से भी अवगत होना अनिवार्य है ।

1.5.1 राष्ट्र- राज्य और समसामयिकता

राष्ट्र–राज्य समकालीन विश्व व्यवस्था का नियामक तत्व है । आधुनिकता के साथ राष्ट्र का आविर्भाव हुआ था । मानवीय सामाजिक संबन्धों का मध्यकालीन मिथकीय आधार अधुनिक तर्क प्रणाली के सामने निरुपाय सिद्ध होते गये और तब मानुष्य के सामाजिक संबन्ध को काल्पनिक आधार प्रदान करते हुए राष्ट्र-राज्य का जज़्बा उभरा था इसी जज़्बे को ही राष्ट्रवाद कहा जाता है। राष्ट्र–राज्य के इस बुनियादी मिथकीय आधार के कारण ही बेनडिक्ट ऐनडर्सन उसे एक कल्पित व्यवस्था मानते हैं। वे कहते हैं –"राष्ट्र को स्वायत्त इसलिए भी माना जाता है क्योंकि इस परिकल्पना का आविर्भाव उस युग में हुआ था जब ज्ञान और क्रांतिकारी आंदोलन दैवीय रूप से पदप्रतिष्ठित क्रमिक वंशवादी व्यवस्था का विरोध कर रहे थे । यह अवधारणा आधुनिक इतिहास के उस चरण में परिपक्व हुई जबकि हर वह निष्ठावान व्यक्ति, जो किसी न किसी प्रचलित धर्म का अनुयायी था, इन धर्मों में कर्मकांडों की अधिकता, उनके सात्विक दावे और क्षेत्र अधिग्रहण नीतियों के बारबार बदलते रूपों को देख घबरा उठा था । एक स्वायत राष्ट्र की परिकल्पना ही इस समस्या का एकमात्र समाधान और आश्वासन भी थी । वे आगे कहते हैं – राष्ट्र को एक विशिष्ट समुदाय के तौर पर भी परिभाषित किया जा सकता है । तमाम असमानता और शोषण के बावजूद राष्ट्र को एक गहरी, समस्तरीय भाईचारे की भावना के साथ जोडा जा सकता है । अंततः यह वह बंधुत्व की भावना है जो इसे पिछली दो सदियों से करोडों लोगों के

[1] विजय कुमार – कविता के पते –ठिकाने – पृ.सं -32

लिए संभव बना रही है और स्थायित्व प्रदान कर रही है। यह वही प्रेरणा है जो लोगों को दूसरे को मार डालने से अधिक एक फंतसी पर मर मिटने के लिए उद्वेलित करती है।"[1] राष्ट्र-राज्य आज सर्वजनीन व्यवस्था है । बेनडिक्ट ऐनडर्सन के ही शब्दों में - "मुझे लगता है कि राष्ट्रवाद की संकल्पना की उत्पत्ति अठारहवीं शताब्दी के अंत में विभिन्न जटिल ऐतिहासिक शक्तियों के संस्करण और निचोड से हुई थी, लेकिन एक बार स्थापित हो जाने के बाद यह अत्यन्त लचीली और प्रसारणीय हो गयी। राष्ट्रवाद के सिद्धातों को आसानी से दूसरे देश, संस्कृति व काल में आरोपित किया जा सकता था, ये किसी भी क्षेत्र के राजनैतिक या सैद्धान्तिक वातावरण में आसानी से समायोजित हो सकते थे।"[2]

राष्ट्र-राज्य के उदय के बाद विश्व व्यवस्था में बहुत तेज़ी से परिवर्तन होने लगा था। समय संबन्धि सारी दुनिया की अवधारणा में आमूलचूल परिवर्तन घडित हुआ। समय की अवधारणा में हुए परिवर्तन का प्रभाव मानवीय संबन्धों के हर मोड में देखे जा सकते हैं। वाल्टर बेंजेमिन आधुनिकता तक के समय को 'मसिहाई समय' और आधुनिकता के बाद के समय को 'सजातीय रिक्त काल' पुकारते हैं। वाल्टर बेंजमिन का हवाला देकर बेनेडिक्ट ऐन्डरसन कहते हैं –"जब एक सामाजिक जीव कैलंडर की तारीखों के अनुसार अपने दिन व्यतीत करता है तो 'सजातीय रिक्त समय ' की अवधारणा अस्तित्व में आ जाती है जो कि राष्ट्र की अवधारणा के सदृश्य और अनुरूप है। इसे ऐसे भी सोचा जा सकता है कि एक मूर्त समुदाय इतिहास में ऊपर या नीचे की ओर व्यवस्थित रूप से एक साथ बढ रहा है। अमरीका का एक नागरिक अपने पूरे जीवनकाल में अधिक से अधिक कुछेक हज़ार लोगों को छोड कर वहाँ के करोडों अन्य नागरिक से कभी नहीं मिलता। उसे इस बात का कोई अनुमान नहीं है कि वे सब

[1] पाखी -अप्रैल -2016 - बेनेडिक्ट एंडरसन (अनु.अनुराधा सिंह) पृ.सं 17
[2] पाखी -अप्रैल -2016 - बेनेडिक्ट एंडरसन (अनु.अनुराधा सिंह) पृ.सं . 16

किसी एक क्षण विशेष में क्या करने की सोच रहे हैं या क्या करने जा रहे हैं । लेकिन उसे उनकी पूर्णतः अविचल, अनाम अज्ञात समकालीन गतिविधियों का पूरा अनुमान है । वे एक दूसरे के विषय में नहीं जानते हैं अतः उनका पारस्परिक संबन्ध एक उपन्यास के पात्रों की तरह ही काल्पनिक है और इसी प्रकार राष्ट्र की अवधारणा भी।"[1] समजातीय रूप से समय व्यवस्थित होने के पीछे प्रिन्ट पूँजी की महत्ती भूमिका रही थी । सजातीय समय को रूपायित करने वाले समाचार पत्र के बारे में बेनडिक्ट ऐन्डरसन कहते हैं –"समाचार पत्र एकान्त में पढे जाते हुए भी हम यह जानते हैं कि ठीक इसी दिन इसी वक्त हमारे जैसे करोडों लोग, जिनकी पहचान का हमें जरा भी भान नहीं है फिर भी जिनके अस्तित्व पर हमें पूरा विश्वास है यही गतिविधि कर रहे होंगे । और यही क्रिया प्रतिदिन एक निश्चित अंतराल पर कैलेंडर के अनुसार दोहराई जाती है । एक ऐतिहासिक रूप से नियंत्रित, धर्म निरपेक्ष, काल्पनिक समुदाय का इससे बड़ा उदाहरण और क्या हो सकता है। अखबार का पाठक हर दिन कई जान पहचान के या अपने जैसे लोगों को वही अख़बार पढते देख कर आश्वसित हो जाता है कि यह काल्पनिक संसार उसके दैनिक जीवन में गहराई से आरोपित है । घटनाएँ वास्तविक परिदृश्य में इस खामोशी और निरंतरता से धीरे धीरे रिसते हुए प्रवेश करती हैं, कि वे अज्ञातता में भी एक समुदाय की उपस्थिति का अद्‌भुत विश्वास रच देती हैं और यही आधुनिक राष्ट्रों के अस्तित्व की सच्ची बानगी है ।"[2]

'प्रिंट पूंजी' और 'सजातीय रिक्त काल' दोनों ने मिलकर राष्ट्र–राज्य की सार्वजनीन व्यवस्था को रूपायित की। समय के साथ समय संबन्धि इस कल्पित व्यवस्था के बीच से वर्चस्ववादी स्वर मुखर होने लगा। आज राष्ट्र–राज्य की स्थिति भी वर्चस्व शाली समय के अनुकूल रूपाइत हो रहा है। हमारा सामसामयिक यथार्थ बहुत

[1] पाखी -अप्रैल -2016 - बेनेडिक्ट एंडरसन (अनु.अनुराधा सिंह) पृ.सं 25
[2] पाखी -अप्रैल -2016 - बेनेडिक्ट एंडरसन (अनु.अनुराधा सिंह) पृ.सं 25

सारे अधिनायकवादी शक्ति संरचनाओं के बीच से गुज़र रहा है। 'प्रिंट पूँजी' आज 'डेटा पूंजी' में बदल गया था। आभासी यथार्थ हमारे आज के यथार्थ को निर्धारित कर रहा है। हम क्या देखे, क्या महसूस करे, किस समय में जिये यह सब पूर्व निर्धारित होने लगा है। 'राष्ट्र-राज्य' की स्वयत्तता दिनों दिन कम होते जा रहे हैं। अभय कुमार दुबे द्वारा संपादित समाज विज्ञान विश्वकोश के अनुसार "पिछले तीस साल क् विकास –क्रम ने राष्ट्र–राज्य की सम्प्रभुता को भूमणडलीकरण के रूप में उल्लेखनीय चुनौती दी है। वाणिज्य, संचार, उत्पादन और वित्त का भूमण्डलीकरण इतनी तेज़ रफ़तार से हुआ है कि उससे पैदा होने वाली समस्याओं का निदान राष्ट्र-राज्य और राष्ट्रों के आपसी संबन्धों के दायरे में पहले की तरह होना मुमकिन नहीं रह गया है । अंतार्राष्ट्रीय संबन्धों के विद्वानों की मान्यता है कि अगर यही रूझन जारी रहा तो राष्ट्रीय सम्प्रभुता का क्षय और बढ़ जाएगा । नतीजतन ऐसी संस्थाएँ उभरेंगी जिनका चरित्र राष्ट्रेतर होगा। इन प्रेक्षकों ने यहाँ तक कहा है कि मौजूदा समय में राष्ट्र–राज्यों की भूमिका कमोबेश म्युनिसिपैलिटी की रह गयी है जिसका काम पूँजी निवेश आकर्षित करने के लिए अधिरचनात्मक सुविधाएँ मुहैया कराने तक सीमित है।"[1]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि समय की जटिलता के बारे में जब भी ज़िक्र होता है तो उसके पीछे सक्रीय समय की इस पुरी अवधारणा को समझना समकालीन मानवीय संबन्धओं में आये बदलाव से अवगत होने के लिए नितान्त ज़रूरी है । समय का जटिल होना कोई 'क्लीशे' नहीं है । बहुत सारी वर्चस्वशाली शक्ति संरचनाओं की भूमिका हमारे समकालीन समय को जटिल रूप से रूपाइत कर रही है और उसी क्रम में संस्कृति का उत्तर संदर्भ भी रूपाइत हो रहा है । वास्तव में हम इतिहास के ऐसे क्षणों से गुज़र रहे है जो विश्लेषण के किसी चौखडे में समाहित नहीं होते हैं ।

[1] समाजविज्ञान विश्वकोश – खण्ड-5 – संपादक अभय कुमार दुबे – पृ.सं 1618

1.5.2 संस्कृति का उत्तर संदर्भ

मानवीय संबन्धों का स्वरूप संस्कृति द्वारा तय होता है, आचार विचार रीति-रिवाज़ सब कुछ संस्कृति द्वार निर्धारित होती हैं। आधुनिकता के साथ वैश्विक स्तर पर जीवन परिस्थितियाँ तेज़ी से बदलने लगी। उत्तर आधुनिक समय में सामाजिक संबन्धों का मिथकीय आधार लगातार कृत्रिम होता चला गया। संस्कृति से सामूहिकता का अंतरंग संदर्भ आधुनिकता के बाद लगातार क्षरित होना शुरू हुआ था। आज हम संस्कृति के उत्तर संदर्भ की दौर से गुज़र रहे हैं। शंभुनाथ कहते हैं –"पहले संस्कृति लडती थी , क्योंकि आदमी भी अपनी पहचान, अपने अर्जित विश्वास और अपनी सामाजिक संस्थाओं के औचित्य के लिए लड़ता था। संस्कृति तब महज उद्योग नहीं थी। उसका इलक्ट्रोनिक मीडिया से संबन्ध नहीं बना था। सांस्कृतिक उत्पादन के वैयक्तिक क्षेत्र बरकरार और काफी असरदार थे। देश भले गुलाम हो, संस्कृति गुलाम नहीं थी। सांस्कृतिक अंतःक्रिया का, दूसरी संस्कृतियों से आदान प्रदान का सिलसिला कभी नहीं थमा, लेकिन संस्कृति की निरंतरता, विविधता और पुनर्चनात्मकता पर जब भी हमला हुआ, वह लडी। यह समूह या झुण्ड संस्कृति है, जिसने हज़ारों साल के इतिहास में पहली बार लोक संस्कृति और राष्ट्रीय संस्कृति पर इतना भारी आक्रमण किया है कि संस्कृति की अवधारणा ही बदल गयी है-अब कृत्रिमता और विकृति ही संस्कृति है।"[1] छवियों की कृत्रिम बीहड ही आज हमारी संस्कृति है। समूहिकता और अंतरंगता प्रायोजित रूप से ही इस संस्कृति से क्षरित होती जा रही हैं। प्रभा खेतान कहती हैं–"भूमंडलीय नेटवर्क में आज व्यक्ति के कर्म से उसकी जीवन शैली की अर्थवत्ता स्थापित नहीं हो रही है, बल्कि व्यक्ति की विशिष्ट पहचान का महत्व ज्यादा है। अतः क्रमशः नेट एवं आत्मा का ध्रुवीकरण बढ़ता जा रहा है। ऐसी स्थिति में समाज की संरचना खंडित हुई है। उसके भीतर अर्थ और सामाजिक कार्य-व्यापार के पैटर्न

[1] शंभुनाथ – संस्कृति की उत्तर कथा – पृ.सं 174

पर दबाव पड़ा है। दोनों से संवाद टूटने के कारण सामाजिक समूह और व्यक्ति एक-दूसरे से अलग हुए हैं।"[1] अर्थ और सामाजिक कार्य-व्यापार के पैटर्न पर पडनेवाला दबाव बाज़ार द्वारा प्रायोजित है। उत्तर संस्कृति के हर संदर्भ को आज यही बाज़ार निर्धारित कर रहा है। छवियों के बृहद संसार रचकर वह मानवीय संबन्धों के हर स्तर को ब्रांड में तबदील कर रही हैं।

ब्रांड समकालीन संस्कृति की सबसे महत्वपूर्ण संकेतक है। इन संकेतकों एवं प्रतीकों के माध्यम से ही बाज़ार वैश्विक स्तर पर छवियों के बृहद संसार रचता है। प्रभा खेतान कहती हैं –"ब्रांड के नाम पर यानी संकेतक के आधार पर उपभोक्ता अपना चुनाव करता है। थोड़ा और विश्लेषण करने पर पाएँगे कि ब्रांड से निर्मित होता हुआ उपभोक्ता स्वं में एक ब्रांड बन जाता है – एक भोगा जाता हुआ ब्रांड । इसी प्रवृत्ति को फैशन, रुची, जीवन शैली कहा जाता है और उत्तर आधुनिक समाज में इसी के आधार पर सामाजिक भिन्नताएं आधारित होती हैं, जो पहले वाले वर्गीय समाज और राजनीतिक पक्षधरता से भिन्न हैं।"[2] बाज़ार, ब्रांड और विज्ञापन मिलकर छवियों और सनसनी की जो दुनिया निर्मित की है उसने मानवीय संबन्धों के हर स्तर को तहस-नहस कर रख दी है। किशन पटनायक कहते हैं – "संस्कृति का भविष्य ग्लोबीकरण की नीतियों के द्वारा तेजी से प्रबावित हो रहा है क्योंकि नई आर्थिक नीतियाँ वस्तुजगत से मनुष्य के सम्बन्धों को, मनुष्य से मनुष्य के सम्बन्धों को, मनुष्य के यौन संबन्धों को तथा अन्य बुनियादी मानवीय सम्बन्धों को कुछ खास दिशाओं में ले जाना चाहती हैं। मनुष्य मन की मूल प्रेरणाओं, सौन्दर्य, स्वास्थ्य और गतिशीलता को ये नीतियाँ अपने ढंग से इस तरह ढाल रही हैं जो सांस्कृतिक मूल्यों के प्रतिकूल है। "[3]

---

[1] प्रभा खेतान – भूमंडलीकरण ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र - पृ.सं 36
[2] प्रभा खेतान – भूमंडलीकरण ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र - पृ.सं 32
[3] किशन पटनायक – विकल्पहीन नहीं है दुनिया – पृ.सं – 33

संक्षेप में कहा जा सकता है कि उत्तर सांस्कृतिक संदर्भ एक भूलभुलैया है। असली की असलियत अब कोई सीधी रेखा के समान समझ में दर्ज नहीं हो रही हैं। अनगिनत वर्चस्व छवियों के बीच प्रतिवर्चस्व को उभारे तो भी किस धरातल से उभारे यही सबसे बड़ी समस्या है। फिर भी उद्विकास क्रम में मानव राशी ने जो अंतरंग संबन्ध की ऊर्जा पाई है वह निशेष नहीं हुई है। उत्तर सांस्कृतिक संदर्भ की कृत्रिमता से यहीं अंतरंगता शेष बचे सांस्कृतिक मूल्यों को जिलाये रख रही है । लाख काहिली के बावजूद भी क्षीण ही सही वह अपनी उपस्थिति साहित्य एवं कला के माध्यम से दर्ज करती जा रही है ।

1.5.3 तकनीकी क्रान्ति और मानवीय संबन्ध

इक्कीस्वीं सदी को सूचना प्रौद्योगिकी के विस्फोट का युग कहा जाता है। नित नवीन आविष्कारों से लैस समकालीन दुनिया हर दिन तकनीकि के बलबूते पर नयी-नयी शक्ति संरचनाओं को अंजाम दे रही है। वैसे तो आम धारणा यह है कि वैज्ञानिक तकनीकों ने मानव के जीवन स्तर को काफी सुखप्रद बना दिया है पर एक प्रजाति के नाते मानव खुशहाली का जीवन बिता रहा है या नहीं यह सबसे बडी सवाल है। किशन पटनायक कहते हैं–"साधारण आदमी, जो जटिल वाक्यों की रचना नहीं कर पाता, कहता है कि विज्ञान ने बहुत ज्यादा तरक्की कर ली है और चमत्कारी काम किया है। सच इसी वाक्य में है। विज्ञान की अपनी उपलब्धियाँ बहुत बड़ी-बड़ी हैं और वे चमत्कार जैसी लगती हैं । परन्तु उनके द्वारा मानव समाज को अभूतपूर्व उपलब्धियाँ मिली हैं – यह बात तथ्यों द्वारा समर्थित नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य समाज में एक नया युग प्रवर्तित हो गया है। मानवीय भूगोल का कोई हिस्सा नहीं है जिसका कायापलट न हुआ हो । लेकिन इस कायापलट की तसवीर क्या है ? हम

किस आधार पर कहेंगे कि विज्ञान द्वार परिवर्तित यह मानव समाज युक्तिसंगत और सुखप्रद है ? "[1]

प्रतिदिन नये नये तकनीकि आविष्कारों से लैस हम हर नये दिन पिछले दिनों को ऑउट डेटड करते हुए पा रहे हैं। हम हर रोज़ तरक्क़ी कर रही हैं, पर क्या यह तरक्क़ी सुनियोजित और सुचिन्तित है ? क्या हम हर दिन बदलते तकनीकों से मानवीय संबन्धों के बुनियादी ढाँचे में कोई सकारात्मक परिवर्तन ला रहे हैं ? इन सवालों का जवाब एक नकारात्मक हाँ ही में हमें प्राप्त होते हैं। युवाल नोआ हरारी अपनी बेस्ट सेल्लर पुस्तक 'सेपियन्स' में कहते हैं –"उन विस्मयकारी करतबों के बावजूद जो इन्सान कर सकते हैं हम अपने लक्ष्यों को लेकर अभी भी अनिश्चित हैं और हम हमेशा की तरह असन्तुष्ट बने हुए प्रतीत होते हैं। हमने डोंगी से लेकर लम्बी नाव तक और उससे लेकर भाप से चलने वाले जहाज़ और अन्तरीक्ष शटल तक प्रगति की है, लेकिन कोई नही जानता कि हम कहाँ जा रहे हैं। हम पहले के किसी भी वक़्त के मुकाबले ज़्यादा ताकतवर हैं, लेकिन इस ताक़त का हम क्या करें, इसकी कोई ख़ास योजना हमारे पास नहीं है। इससे भी बदत्तर स्थिति यह है कि मनुष्य हमेशा से ज़्यादा गैरजिम्मेदार प्रतीत होते हैं। केवल भौतिकी के नियमों को अपने साथ लिए हम अपनी सुख-सुविधाओं और मौज-मस्ति में कुछ और इज़ाफा की तलाश में लगे हुए, और कभी सन्तुष्ट ना होते हुए, अपने सहचर प्राणियों और चारों ओर व्याप्त पारिस्थितिकी पर कहर बरसा रहे हैं।"[2] इस प्रकार तकनीकी दुनिया ने मनुष्य को गैरजिम्मेदार करते हुए उसे सनसनी की एक आभासी दुनिया में इस कदर मशग़ूल रखा है कि उसके सामने असली की असलियत कभी उद्घाटित न होने की स्थिति आ गयी है।

[1] किशन पटनायक – विकल्पहीन नहीं है दुनिया – पृ.सं 42
[2] युवाल नोआ हरारी (अनु.मदन सोनी) - सेपियन्स मानव-जाती का संक्षिप्त इतिहास – पृ.सं 450

आधुनिकता के साथ हमारे समय बोध में बुनियादी परिवर्तन आ गया था। पहले हमारा समय चाक्रिक से रैखिक हुआ बाद में प्रिन्ट पूँजी ने हमारे समय को सजातीय रिक्त काल बना दिया। अब हम प्रिन्ट पूँजी से डेटा पूँजी में आ गये हैं । आज हम चारों तरफ से डेटा से घिरे हुए हैं । युवाल नोआ हरारी इसे डेटाइज़म पुकारते हैं। वे कहते हैं कि डेटा ईश्वर के समान सर्वव्यापी है फिर भी उसके अस्तित्व का आभास हमें नहीं होता ,उनके शब्दों में - "This relentless flow of data sparks new inventions and disruptions that nobody plans, controls or comprehends. No one understands how the globel economy functions or where global politics is heading. But no one needs to understand. All you need to do is answer your emails faster –and allow the system to read them. Just as free-market capitalists believe in the invisible hand of market, so Dataists believe in the invisible hand of the data flow."[1] अर्थात डेटा प्रवाह लगातार किसी के भी अनुमान और नियंत्रण के बाहर नये आविष्कारों को तथा हलचल को जन्म देते रहते हैं। किसी को कुछ पता नही चलता की वैश्विक अर्थव्यवस्था आगे कैसे काम करेगी और वैश्विक राजनीति किस तरफ जायेगी। वैसे तो किसी को जानने की ज़रूरत भी नहीं है। अपने ईमेल का फटाफट जवाब देना और सिस्टेम को उसे पठने देना भर काफी है। जिस प्रकार मुक्त बाज़ार के पूँजीपति बाज़ार के अदृश्य हाथ पर विश्वास रखता था उसी प्रकार आज डेटाइस्ट भी डेटा प्रवाह के अदृश्य हाथ पर विश्वास रखते हैं।

डेटा आज हर चीज़ को एकोन्मुख बनाते जा रहे है। जिस प्रकार एक सरक्यूट में अलग अलग प्रोसेसर होना कंप्यूटर की क्षमता को प्रभावित करेगी उसी प्रकार बहुस्वरता डेटाइजम के लिए हानिकारक है इसी कारण डेटा प्रवाह छवियों के माध्यम से मनुष्य को सनसनी मुहैया कराकर उसे अपने इच्छित दायरे में बाँधे रखते हैं।

[1] NOAH HARARI YUVAL - HOMO DEUS A BRIEF HISTORY OF TOMORROW – Kindle Edition - Page 390

राजेश जोशी कहते हैं – "इस प्रौद्योगिकी को, इसके संचार माध्यमों और इसके बाजार को हमेशा एक सनसनी की ज़रूरत है । सनसनियाँ असली हों या नकली उसे फर्क नहीं पडता। वह वह सनसनी को पैदा करने के लिए किसी भी हद तक जा सकती है। ऐसा करते हुए किसी किस्म की नैतिक बाधा उसे महसूस नहीं होती। नैतिकता के मानदण्ड बदल चुके हैं। नई प्रौद्योगिकी किसी अंतराल में विश्वास नहीं करती। क्रिकेट की सनसनी के खत्म होते ही वह युद्ध की सनसनी में ले जाती है। युद्ध को भी ये माध्यम एक सोप आपेरा की तरह प्रस्तुत करते हैं। इराक अमेरिका की लड़ाई को बहुत सारे लोग एक सोप आपेरा की तरह भजिए खाते और चाय पीते हुए देख रहे थे। आंतरिक सूनेपन को भरने के लेए कई तरह की सनसनियाँ ईजाद की जा रही हैं।"[1] मनुष्य लगातार गैरजिम्मेदार पासीव भीड में तबदील होती जा रही है। डेटा प्रवाह मनव राशी को कहाँ ले जाएगा इसका कोई अता-पता नहीं है । मानव नये किस्म के सैबोर्ग (Cyborg) बनेंगे या पूरी मानव राशी ही खतम हो जायेंगी कुछ भी कहा नहीं जा सकता।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि तकनीकी क्रान्ति ने मानव राशी के भविष्य को जिस प्रकार उज्वल बनाया है उसी तरह या कहे उससे बढ़कर उसे अंधकारमय भी बना दिया है। तकनीकी क्रांति वैश्विक स्तर पर नयी नयी शक्ति संरचनाओं को लगातार निर्मित कर मनवीय संबन्धों के हर स्तर को पुनर्गढित कर के रख देती है । सनसनी और शोरगुल की अपसंस्कृति मनुष्य से उसके वजूद को छीन कर उसे लगातार जड विहीन करते हुए पासीव भीड में तब्दील कर देती है । उद्विकास क्रम में मनुष्य ने बुनियादि मानवीय संबन्धों को बनाये रखने की जो भी क्षमता आर्जित की है वह सब डेटा प्रवाह में बह चुकी है । अब डेटा प्रवाह का आल्गोरिथम (Algorithm) मानव राशी को जिस ओर ले जायेंगे वहीं मानव राशी का भविष्य होगा ।

---

[1] राजेश जोशी - एक कवि की दूसरी नोट बुक: समकालीनता और साहित्य – पृ.सं 27

निष्कर्ष

विश्व में सर्वाधिक जटिल सामाजिक संबन्ध को बनाए रखने वाली मानव प्रजाति की सांस्कृतिक विविधताओं एवं पेचीदगियों को उसकी बुनियादी जैविक सत्तात्मक स्थिति से लेकर व्याख्यायित करने का प्रयास प्रस्तुत अध्याय में किया गया है । आदिम मानव समाज से लेकर समकालीन मानव समाज तक के मानवीय संबन्धों का इतिहास सरलता से निरंतर जटिल बनते जाने की महा-गाथा है । जीनों के उसूलों के बाहर अपने सामाजिक संबन्धों को लचीले ढंग से मिथकों के आधार पर जब से मानव ने रूपायित की तब से उसने जीव जगत के सारे उसूलों को अपने हिसाब से पूनर्व्याख्यायित करने की क्षमता अर्जित की, जिस के चलते मानवीय संबन्ध विश्वपटल पर पर्याप्त विविधताओं के साथ आविष्कृत होने लगा । ऐतिहासिक क्रम में मिथकीय आधार लगातार कृत्रिम होता गया और मानवीय संबन्धों की बुनियादी ढाँचा लगातार परिवर्तित होने के लिए मजबूर हुई । लगातार निर्मित एवं विनिर्मित हो रहे आभासी यथार्थ के बीच साँस लेने के लिए आज मनुष्य अभिशप्त है । नब्बे के आसपास रूपायित जटिल वैश्विक परिदृश्य ने मनुष्य की बुनियादी संघीय ढाँचे को तहस नहस कर उसे एक कृत्रिम वस्तुबोध के बीच लाकर खडा कर दिया । डेटा, संचार और वर्चस्व के अनगिनत छवियों के बीच मनुष्य का यथार्थ आज 'हाइपर यथार्थ' बन गया है । भविष्य में मानवीय संबन्धों का स्वरूप क्या होगा इसके संबन्ध में निश्चित तौर पर कुछ कह पाना नामुमकिन है । फिलहाल इतना ही कहा जा सकता है कि उद्विकास क्रम में मानव ने जिस अंतरंग संबन्धों के बलबूते पर अन्य प्रजातियों की अपेक्षा उत्तर जीवन की क्षमतायें अर्जित की है वह संचार और डेटा के जटिल 'आल्गोरिथम' के सामने बेअसर है ।

अध्याय दो

उत्तर औपनिवेशिक संदर्भ और समकालीन हिन्दी कविता

'समकालीनता' बहु आयामी शब्द है इसी कारण कोई सरल समीकरण द्वारा समकालीन साहित्य को व्याख्यायित करना संभव न होगा। समकालीन जीवन की जटिल परिस्थितियों की व्यापक समझ समकालीन साहित्य को समझने केलिए अनिवार्य है। समकालीन हिन्दी कविता की समय सीमा को प्रायः विद्वान साठोत्तर कविता तक वृथा खींचते है। साठ से लेकर अस्सी तक के बीस सालों की दरमियान हिन्दी कविता विविध आन्दोलनों से होकर गुज़री है जिस में विद्रोही पीढी, क्रुद्ध पीढी, श्मशानी पीढी, अकविता, अस्वीकृत कविता, युयुत्सावादी कविता, प्रतिबद्ध कविता आदि प्रमुख आन्दोलन रहे हैं। अस्सी तक आते आते समकालीन कविता से आन्दोलनों की भरमार विलुप्त होते नज़र आती है । इस प्रकार अस्सी तक आते आते समकालीन कविता 'समकालीन समय' की जटिलता को समाज सापेक्ष संदर्भ में वादों के घेरों से मुक्त होकर अभिव्यक्ति देने लगी । दरअसल अस्सी के बाद समकालीन कविता के लिए अपनी वयस्कता पाने का समय है । अस्सी के बाद समकालीन कविता आधुनिकता के केन्द्रीकृत वर्चस्व से मुक्त होकर उत्तर औपनिवेशिक संदर्भ की बहुस्वरता को प्रतिवर्चस्व के रूप में विभिन्न स्तरों पर उभारती नज़र आती है ।

नब्बे के आसपास पनपे भूमंडलीय दौर की फासीवादी मुहिम का प्रतिरोध विभिन्न स्तरों पर उभारती समकालीन कविता की भूमिका अस्सी के सामाजिक परिवेश भली भाँति बाँदी जा चुकी थी । आशुतोष कुमार कहते हैं - "'समकालीन कविता' की चर्चा के क्रम में साठोत्तरी कविता / अकविता / युवा कविता / वाम कविता / प्रतिबद्ध कविता इत्यादि नामों से जुडी हुई और इन्हीं नामों से जानी गई कविताओं को छोड देना होगा इन तमाम प्रवृत्तियों की मुखालफत करते हुए ही समकालीन कविता ने अपनी 'वयस्कता' पाई है । इन्हें समकालीन कविता की किशोरावस्था नहीं कहना चाहें तो पृष्ठभूमि कह लें । हो सकता है , ज्यादातर

समकालीन कवि इतने भर के लिए भी राज़ी न हो।"[1] साथ ही उत्तर औपनिवेशिक विमर्श भी अस्सी तक आते–आते उदय पा चुका था । प्रणय कृष्ण कहते है " एंथनी डी. किंग ने उत्तर-औपनिवेशिक अध्ययन को 80 के दशक से शुरू होता दिखाया है।"[2] अस्सी तक आते आते भारत का पूरा राजनैतिक संदर्भ नये सिरे से परिभाषित होना शुरू हुआ था । राजनैतिक वर्चस्व का स्वरूप अस्सी तक आते आते इतना विकराल रूप हासिल कर चुका था कि उससे सीधा मुठभेड़ संभव न होने की स्थिति सामाजिक जीवन के हर स्तर पर प्रत्यक्ष दिखाई देना शुरू हुआ था । विजय कुमार के अनुसार " भारतीय समाज के संघीय ढाँचे में पैदा हुए क्षरण ने किस प्रकार आम आदमी के जीवन में असुरक्षा,अभाव, अपराध और काहिली को फैलाया है इसकी राजनैतिक शक्ल आठवें दशक में इतने ठोस रूप में उजागर हुई है कि समूचे वस्तुबोध में एक बुनियादी परिवर्तन हुआ है और एक ज़िम्मेदार व संवेदनशील कविता-कर्म के समक्ष कुछ बुनियादी चुनौतियाँ भी उत्पन्न हुई हैं।"[3]

वस्तुबोध में हुए इस बुनियादी परिवर्तन को समझना समकालीन कविता को समझने की कसौटी है। जितेन्द्र श्रीवास्तव के शब्दों में -"आज़ादी के बाद बहुत सी मुश्किलें आई लेकिन ऐसा 'दिग्भ्रमित' समय इससे पूर्व न आया था । पिछले बीस वर्ष 'लिटरेरी स्ट्रगल' के भी बीस वर्ष हैं"[4] उत्तर औपनिवेशिक विमर्श के संदर्भ में समकालीन कविता का सौंदर्य शास्त्र ठोस सामाजिक यथार्थ के पक्षधर होकर ही उभरा है । अस्सी में समकालीन कविता की भूमिका तैयार होती है और नब्बे के बाद, अब तक नगण्य रहे सामाजिक जीवन के विभिन्न स्तरों को उभारती समकालीन कविता प्रतिवर्चस्व के विशाल परिदृश्य को सामने रखती है । समकालीन कविता के

---

[1]आशुतोष कुमार - समकालीन कविता और मार्क्सवाद - पृ सं 77
[2] प्रणय कृष्ण - उत्तर औपनिवेशिकता के स्रोत और हिन्दी साहित्य - पृ सं 17
[3] विजय कुमार - कविता की संगत - पृ सं 17
[4] जितेन्द्र श्रीवास्तव - विचारधारा नए विमर्श और समकालीन कविता - पृ सं 13

प्रतिवर्चस्व के इस विशाल परिदृश्य को समझने केलिए भारत के उत्तर औपनिवेशिक संदर्भ को समझना अनिवार्य हो जाता है ।

2.1 उत्तर औपनिवेशिक संदर्भ और भारतीय समकालीनता

उत्तर औपनिवेशिक संदर्भ में भारतीय समकालीनता को सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए समकालीन भारतीय जीवन में 'आधुनिकता' के अर्थ संदर्भों को पहचानना बहुत ज़रूरी है । समकालीनता को प्रायः आधुनिकता की अगली कडी के रूप में अभिहित किया जाता है, फिर भी समकालीनता का विकास आधुनिकता से कोई रैखिक विकास क्रम के रूप में नहीं हुआ है। आधुनिकता के बहुत सारे तत्वों को आत्मसात करते हुए भी समकालीनता आधुनिकता की केन्द्रीकरण की हर प्रणालियों को विच्छिन्न करके उभरी है । इसी कारण समकालीनता का आभ्यंतर बहुत जटिल भी है। यूरो केन्द्रित आधुनिकता के केन्द्रीकरण को तोडने के साथ अपनी अस्मिता को इस आधुनिकीकरण प्रक्रिया के बरअक्स पहचानने का उपक्रम ही तीसरी दुनिया (third world) की समकालीनता की सबसे बडी विशेषता है । इसी कारण समकालीन समय आधुनिकता को एकाधिक आधुनिकता के रूप में परिभाषित करता है। "आइज़ेनस्टैड कहते हैं कि आधुनिकता को पश्चिमीकरण का पर्याय समझना एक भूल है, क्योंकि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद आधुनिकता का इतिहास उसे एक आंतरिक बहुलता से सम्पन्न परिघटना के रूप में स्थापित करता जा रहा है। आज दुनिया को सही तरीके से समझने के लिए ज़रूरी है कि उसे एकांगी आधुनिकता के नहीं बल्कि एकाधिक आधुनिकताओं के आईने में देखा जाए ।"[1] इन सब कारणों से समकालीनता को उसके उत्तर औपनिवेशिक संदर्भ में सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए आधुनिकता, आधुनिकीकरण, अन्यीकरण, तथा एकाधिक आधुनिकताओं की अवधारणाओं को समझना ज़रूरी हैं।

[1] सं. अभय कुमार दुबे - समाज विज्ञान विश्वकोश - खण्ड 1 -पृ.सं 143

2.1.1 आधुनिकता

आधुनिकता अंग्रेज़ी के 'Modernity' का पर्यायवाची शब्द है । अंग्रेज़ी में 'मॉर्डन' शब्द प्राचीन 'लैटिन' से आया है । 'लौटिन' में इसका मतलब किसी समकालीन युग की विशेषता को दर्शाने वाला था । "लैटिन शब्द मोडो का अर्थ है 'जो आज का है' और जो अतीत जैसा नहीं है । मोडो से मॉडर्नस बना जिससे मॉडर्निटी या आधुनिकता की व्युत्पत्ति हुई।"[1] ऐतिहासिक विकास क्रम में विभिन्न अर्थों को अपने में समाहित करते हुए 'मॉर्डन' शब्द का विकास एवं प्राचार हुआ है । रेमण्ड विलियम्स के अनुसार अंग्रजी में उन्नीस्वीं सदी के पहले 'मॉर्डन' शब्द निंदा सूचक था जो धीरे-धीरे उलटकर 'परिमार्जित', 'संतोषजनक' और 'सक्षम' अर्थों में प्रयुक्त होने लगा था। [2] इस प्रकार बीसवीं सदी तक आते आते 'मॉर्डन' शब्द आधुनिकता के समकालीन अर्थ में स्थिर हो गया जो मध्यकाल से स्पष्ट रूप से अलगाव को दर्शाता है । नगेन्द्र द्वारा संपादित हिन्दी साहित्य के इतिहास में आधुनिकता के बारे में कहा गया है कि "आधुनिक शब्द दो अर्थों-मध्यकाल से भिन्नता और नवीन इहलौकिक दृष्टिकोण-की सूचना देता है। मध्यकाल अपने अवरोध, जडता और रूढ़िवादिता के कारण स्थिर और एकरस हो चुका था, एक विशिष्ट ऐतिहासिक प्रक्रिया ने उसे पुनः गत्यात्मक बनाया।"[3] दरअसल आधुनिकता एक जीवन दृष्टि है जो मनुष्य को तर्क बुद्धि के आधार पर अपनी जीवन स्थितियों को परखने का आधार प्रदान करती है । भौतिक दृष्टि से आधुनिकता तकनीक के बलबूते पर निर्मित तथा व्यक्ति की इयत्ता को स्वीकार कर निरंतर परिवर्तित परिमार्जित होते चले जाने वाली सामाजिक व्यवस्था को वरेण्यता प्रदान करती है। समाजविज्ञान विश्वकोश के अनुसार -"संगठन के तौर पर आधुनिकता जटिल किस्म के आर्थिक (औद्योगिक उत्पादन और बाज़ार अर्थव्यवस्था) एवं

---

[1] सं. अभय कुमार दुबे - समाज विज्ञान विश्वकोश - खण्ड 1 - पृ.सं 141

[2] DESHPANDE SATISH - CONTEMPORARY INDIA A SOCIOLOGICAL VIEW - Page. 27

[3] सं. डॉ नगेन्द्र .डॉ हरदयाल - हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ सं 399

राजनीतिक (राष्ट्र-राज्य और लोकतंत्र) संस्थाओं को प्रमुखता स्थापित करती है । इन्हीं तमाम कारणों के मिले –जुले प्रभाव से आधुनिक व्यवस्था अपने चरित्र में अतीत की किसी भी समाज व्यवस्था की अपेक्षा अधिक गतिशील, निरंतर बदलती हुई, हमेशा आज और आने वाले कल पर ज़ोर देती हुई निरंतर संक्रमणशील रहती है।"[1]

इस तरह निरंतर परिवर्तित होने की आधुनिकता की प्रवृत्ति विभिन्न अर्थ छवियों को अपने में समेट कर भी मूल भूत रूप से यूरोप के वर्चस्व से मुक्त नहीं हुआ। धीरे-धीरे आधुनिकता को विभिन्न देशों ने मूल्य के रूप में ग्रहण कर जड परंपरा से अलगाव की अपनी ज़मीनी कोशिशों से संबन्धित किया और अपनी-अपनी आधुनिकताओं को जन्म दिया। फिर भी आधुनिकीकरण शब्द में यूरोप की केन्द्रीय छवि बदस्तूर कायम रही। समकालीन भारतीयों के 'कॉमन सेन्स' में भी आधुनिकता और आधुनिकीकरण को यूरोकेन्द्रीय अर्थ छवियों के रूप में किसी द्वन्द के बिना आत्मसात करने की प्रणाली बकायदा कायम है। उत्तर औपनिवेशिक विमर्श दरअसल आधुनिकीकरण और आधुनिकता में यूरोप की इसी केन्द्रीय अर्थ छवियों को प्रश्नांकित कर रहा है ।

2.1.2 एकाधिक आधुनिकता

एकाधिक आधुनिकता सिद्धान्त आधुनिकता के किसी प्रकार के एकमुश्त स्वरूप को नकारती है। एकाधिक आधुनिकता आधुनिकता को चिंतनशीलता के स्थानीय मूल्य परिघटना की अनस्यूतता के रूप में स्थापित करती है। अभय कुमार दुबे द्वारा संपादित समाज विज्ञान विश्वकोश के अनुसार "एकाधिक आधुनिकताओं की अवधारणा इस मान्यता पर आधारित है कि आधुनिकता एक विचार और परिघटना के रूप में पश्चिम द्वारा गढी गयी एकांगी सांस्कृतिक परियोजना का इतिहासबद्ध

[1] सं. अभय कुमार दुबे - समाज विज्ञान विश्वकोश - खण्ड 1 - पृ.सं 142

परिणाम नहीं है । चालीस और पचास के दशक में प्रचलित आधुनिकीकरण के सिद्धांत को नकारते हुए यह अवधारण कहती है कि आधुनिकता एक ऐसी आंतरिक बहुलता से सम्पन्न है जो किसी विशिष्ठ ऐतिहासिक परिस्थितियों की देन न हो कर आधुनिक सभ्यता की संरचना में अंतर्भूत गुण की तरह समाहित है।"[1] इस प्रकार एकाधिक आधुनिकता यूरोपीय ज्ञानोदय के केन्द्रीय वर्चस्व को नकारते हुए आधुनिकता की धारा को अपने ज़मीन से जोडती है । एकाधिक आधुनिकता के मुख्य पैरोकार 'इज़राइल' के मशहूर समाजशास्त्री 'एस.एन.आइज़ेनस्टैड' रहा है। आधुनिकता के पश्चिमी वर्चस्व के स्वरूप को ऐतिहासिक संदर्भ में व्यक्त करते हुए वे कहते हैं -"आधुनिकता और पश्चिमीकरण को एक-दूसरे के पर्यायवाची समझना एक भूल है । हालाँकि आधुनिकता के पश्चिमी स्वरूप ऐतिहासिक लिहाज़ से पहले उभरे, और स्वाभाविक रूप से गैर-आधुनिक दुनिया के लिए संदर्भ बिन्दु बन गये, पर उन्हें आधुनिकता का प्रामाणिक स्वरूप नहीं समझा जा सकता । समकालीन जगत को समझने का सबसे बेहतर तरीका और आधुनिकता के इतिहास की सबसे माकूल व्याख्या यही है कि उसे किसी एक सांस्कृतिक परियोजना के रूप में देखने के बजाय सांस्कृतिक परियोजनाओं की बहुलता के रूप में देखा जाए।"[2]

2.1.3 यूरो केन्द्रित आधुनिकता

'आधुनिक युग' को यूरोपीय रिनैसाँ के साथ जोडकर व्याख्यायित किया जाता है । रैनैसाँ का मतलब है नवजागरण अथवा पुनर्जागरण । युरोपीय रिनैसाँ का प्रादुर्भाव तो इत्तलि में हुआ था । इत्तलि से धीरे-धीरे नवजागरण का दौर पूरे यूरोप में फैल गया । यूरोपीय रिनैसाँ ने यूरोपीय अंधकार युग की धार्मिक प्रभुसत्ता के ऊपर सर्व प्रथम प्रश्न चिह्न खडा किया और वहाँ से प्राचीन और नवीन के द्वन्द्व में से नवीन को स्वीकार

[1] सं. अभय कुमार दुबे - समाज विज्ञान विश्वकोश - खण्ड 1 पृ.सं 285
[2] सं. अभय कुमार दुबे - समाज विज्ञान विश्वकोश - खण्ड 1 - पृ.सं 285

करने का भाव बोध पनपने लगा । "पाँचवी सदी में रोमन साम्राज्य के पतन के बाद ही पुराने के मुकाबले नये को ग्रहण करने के लिए और प्राचीनकाल की सभ्यताओं के मुकाबले नवीन के आगमन को परिभाषित करने के लिए 'मार्डर्नस' का इस्तेमाल होने लगा था । मोटे तौर पर इसे मध्य युग मान सकते है । कहा जाता है कि बारहवीं सदी पहला और फिर पंद्रहवीं सदी में इसी के आधार पर दूसरा रिनैसाँ या पुनर्जागरण हुआ।"[1] विभिन्न ऐतिहासिक क्रमों से गुज़रकर सोलहवी, सत्रहवीं सदी के इसाई धर्म-सुधार-युग तक आकर 'मार्डन' शब्द एक पूरे युग के अंत और नवीन युग के आरंभ को स्पष्ट रूप से द्योतित करने लगा और वहाँ से इसी अर्थ द्योतन के साथ 'आधुनिकता ' पूरे वैश्विक संदर्भ में उभर कर सामने आयी ।

आधुनिकता के अर्थ विस्तार के इस ऐतिहासिक विकास क्रम में हमेशा से यूरोप ने अपने आप को केन्द्र में प्रतिष्ठित किया है। यूरोप जब अंधकार युग में था तब पूर्वी देशों में ज्ञान के वैश्विक स्तर पर आबंटन की विशाल पृष्ठभूमि तैयार हुई थी। उसी ज्ञान के बदोलत ही यूरोप अपने अंधकार को पार कर पाया था । पर यूरोप इस ऐतिहासिक सच्चाई को बहुत ही सक्षम रूप से ओझल रखकर ही अपने आप को विश्व सभ्यता का प्रतिष्ठापक सिद्ध किया है । इस संदर्भ को रेखांकित करते हुए जॉन. एम . होबसन कहते है "This marginalisation of the East constitutes a highly significant silence because it conceals three major points. First, the East actively pioneered its own substantial economic development after about 500. Second , the East actively created and maintained the global economy after 500 . Third, and above all , the East has significantly and actively contributed 'resource portfolios' (e.g. technologies , institutions and ideas to Europe.[2]"

[1] सं. अभय कुमार दुबे -समाज विज्ञान विश्वकोश - खण्ड 1 - पृ.सं 142

[2] M HOBSON JOHN - THE EASTERN ORIGINS OF WESTERN CIVILISATION - Page. 3

अर्थात पूर्व को हाशिएकृत रखने के उपक्रम में निशब्द किये गये तीन तत्व बहुत प्रमुख हैं। एक-'पूर्वी देश 'सन् 500 के बाद सक्षम रूप से अपने आर्थिक ढाँचे को व्यवस्थित कर पाया है । दो -पूर्वी देश सक्रीय रूप से सन् 500 के बाद विश्व के आर्थिक विकास को व्यवस्थित किया है । तीन - इन दोनों तत्वों से बढ़कर पूर्वी देशों ने सक्रिय रूप से पश्चिम के लिए तकनीक, संस्था और विचार मुहय्या कराकर संसाधनों की आपूर्ति की है। इस प्रकार यूरोप पूर्वी देशों की सारी उपलब्धियों को निशब्द रखकर आधुनिक युग के प्रारंभ से ही 'आधुनिकता' को अपने सांस्कृतिक धरोहर के रूप में पूरे विश्व के सामने प्रस्तुत करने में जीत हासिल कर सका।

आधुनिकता के इस यूरोकेन्द्रीकरण की प्रणाली के चलते आधुनिकता और आधुनिकीकरण को एक समझने की भूल को कला एवं सहित्य के माध्यम से यूरोप ने जिलाये रखा । यूरोप के वर्चस्व की इस प्रणाली की ओर इशारा करते हुए सतीश देशपाण्डे कहते है- "The recent developments in the career of the word point to a complicated and unequal relationship between its two meanings: the generic one has generally been subordinated , whether surreptitiously or openly , to the specific meaning . The consequences of the dominance of the sense connoting Western European modernity can be seen quite clearly when we shift from the relatively static noun –modern –to the more dynamic and processual verb *modernization*"[1] अर्थात इस शब्द के समकालिक प्रयोगों से क्या व्यक्त होता है कि इन दोनों अर्थों के बीच असमानतापूर्ण तथा उलझी हुई सरोकार विद्यमान है। आज पहला सामान्य अर्थ दूसरे निश्चित अर्थ से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से दबे हुए हैं । मतलब पश्चिम यूरोपीय सामाजिक व्यवस्था के अनोखेपन को दर्शानेवाला निश्चितार्थ किसी समकालीन अवस्था की विशेषता रूपी सामान्य अर्थ से

[1] DESHPANDE SATISH -CONTEMPORARY INDIA A SOCIOLOGICAL VIEW - पृ.सं 27

बडप्पन पाता है। इस प्रकार आधुनिकता के सामान्य अर्थ और यूरो केन्द्रित अर्थों में से यूरो केन्द्रीय अर्थ सामान्य अर्थ के ऊपर हमेशा हावी होता है। आधुनिकता की यह यूरो केन्द्रीय स्थिति आधुनिकता को पश्चिमीकरण समझने की वजह बनती है। हिन्दी के बहुत सारे विद्वानों ने भी आधुनिकता की परिभाषा पश्चिमीकरण को ही मद्देनज़र रखकर प्रस्तुत की है। प्रभा खेतान भूमंडलीकरण की सारी प्रणालियों को पश्चिमीकरण ही मानती हैं वे कहती हैं -"वास्तव में भूमंडलीय मंच अपने-आप में एक पश्चिमी मंच है, यह पश्चिमी सत्ता और नियंत्रण का ही व्यक्तिकरण है । यदि यहां किसी गैर-पश्चिमी व्यक्ति को कभी-कभार कुछ कहने–बोलने के लिए चुन भी लिया जाता है तो मात्र इस आधार पर कि वह पश्चिम के करीब है या पश्चिमी आदर्शों को बढावा देता है या उसकी अच्छी नकल कर सकता है। जितनी गैर-पश्चिमी निर्मितियाँ हैं, वे पश्चिमी मानस को महज गुदगुदाती हैं। अतः भूमंडलीकरण के नाम पर वस्तुतः यह नव-पश्चिमीकरण है, जिसमें हम सब को रंगा जा रहा है।"[1]

दरअसल पश्चिमीकरण और आधुनिकता की अवधारणाओं के बुनियादी फरक समझना समकालीनता को समझने की महत्वपूर्ण कुंजी है । क्योंकि समकालीनता जहाँ हर केन्द्रीकरण की प्रक्रिया को विच्छिन्न करके बहुलतावादी स्वर को अपनाती है वहाँ पश्चिमीकरण हमेशा तीसरी दुनिया की अस्मिता के ऊपर हावि रहकर तथा पूर्व की अन्यीकरण प्रक्रिया के माध्यम से अपना केन्द्रीकृत पाठ तैयार करता है। समकालीन भारतीय सामाजिक जीवन में आधुनिकता के इस दोहरे अर्थ संदर्भ की पहचान बहुत महत्वपूर्ण है। आधुनिकता जहाँ पश्चिमीकरण से मुक्त होती है वहाँ वह जीवनमूल्य के जमी़नी अर्थ संदर्भ के साथ जुडती है। कवि नीलाभ आधुनिकता के इस 'सामान्य अर्थ' को बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं। वे आधुनिकता का संबन्ध अपने सर ज़मीन से जोडकर आधुनिकता और समकालीनता के वैचारिक उलझन को सुलझाते

[1] प्रभा खेतान - भूमंडलीकरण ब्रांड़ संस्कृति और राष्ट्र - पृ सं 11

हुए कहते हैं-"आधुनिकता और समकालीनता के ये विमर्श, मौलिकता और प्रासंगिकता जैसे कुछ अन्य विमर्शों की तरह बीसवीं सदी के विमर्श है और इस नाते आधुनिकता और आधुनिकतावाद या फिर आधुनिक बोध जैसे शब्द साहित्य की जांच-परख करने वाली शब्दावली में कुछ विशेष अर्थ भी ग्रहण कर चुके हैं। लेकिन अगर आधुनिकता को महज उसके सहज शाब्दिक निहितार्थ तक सीमित रखते हुए परखें तो कुछ सवाल उभरते हैं। पहला तो यहीं कि आधुनिकता और समकालीनता के बीच क्या अनिवार्य रूप से कोई टकराव है, द्वन्द्व है? क्या आधुनिक होना समकालीन होना नहीं है, या फिर क्या आधुनिकता और समकालीनता के बीच मूल्य के स्तर पर ऐसा कोई अंतर है जिससे एक-दूसरे की बनिस्बत अधिक ग्राह्य अथवा श्रेयस्कर हो?"[1] नीलाभ यहाँ भारतीय आधुनिकता को पश्चिमी ज्ञान की निरंतरता में नहीं गिनता । मूल्य के स्तर पर यह आधुनिकता पश्चिमीकरण या भूमंडलीकरण का प्रतिपक्ष ही रचती है। आधुनिकता के इस अर्थ संदर्भ को सही मायने में समझने के लिए आधुनिकीकरण और अन्यीकरण की प्रक्रिया को जानना ज़रूरी है।

2.1.4 आधुनिकीकरण और 'पर' की रणनीति

सिद्धांत के तौर पर आधुनिकीकरण का प्रदुर्भाव यूरोपीय ज्ञानोदय के साथ माना जाता है, 18 वीं शताब्दी में आकर प्रक्रिया के रूप में वह विस्तार भी पाता है। समाजविज्ञान विश्वकोश में कहा गया है कि -"द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका द्वारा प्रचलित सामाजिक और आर्थिक विकास के मॉडल के मर्म में आधुनिकीकरण का सिद्धान्त है। इसी आधार पर पूंजीवाद के पश्चमी इतिहास द्वारा थमाये गये मॉडल के मुताबिक समाज-रचना का फ़ारमुला गढा गया है।"[2] जहाँ आधुनिक अथवा 'मर्डन' शब्द एक निश्चित स्थिति का अर्थ द्योतन करते है वहाँ आधुनिकीकरण गतिमान स्थिति,

[1] सं. लीलाधर मंडलोई - कविता के सौ बरस - पृ.सं 351
[2] सं. अभय कुमार दुबे - समाज विज्ञान विश्वकोश - खण्ड 1 - पृ.सं 1146

प्रक्रिया और परिवर्तन का द्योतन करता है ।[1] आधुनिकीकरण निरंतर तर्क द्वारा अपने वर्चस्व को स्थापित करने की प्रक्रिया से जुडा रहता है। आधुनिकीकरण शब्द की प्रयुक्ति तथा उसके चारित्रिक विशेषताओं को रेमण्ड विलियम्स की हवाला देते हुए सतीश देश पाण्डे ने इस प्रकार व्यक्त किया है - " By the twentieth century the word had become increasingly common and was 'normally used to indicate something unquestionably favourable or desirable' (Williams 1983: 208-9). This general connotation of a process of positive change or improvement (particularly with reference to machinery or technology) was inflected – specially when speaking generally about social institution or entire societies – by the suggestion of a more pre- determined movement towards the European Enlightenment model of modernity ."[2] अर्थात बीसवीं सदी में बिना सवाल के स्वीकार किये जानेवाली गुणात्मक तथा अभिलषणीय प्रयुक्ति के रूप में आधुनिकीकरण स्थिर हुआ । फिर वह विशेष रूप से यान्त्रिकता तथा तकनीक से संबन्धित होकर यूरोपीय ज्ञानोदय के साथ जन्मे 'आधुनिकता' की परिकल्पना के साथ पूर्व नियोजित ढंग से मिला दिया गया । इस प्रकार आधुनिकीकरण की अर्थ छवियों में यूरोप के ज्ञानोदय की निरंतरता बकायदा कायम रह सका । निरंतर गतिमान आधुनिकीकरण की यह प्रक्रिया पूरे विश्व के ज्ञान को यूरोप के धरोहर के रूप में प्रतिस्थापित करने केलिए अपने 'अन्य' या 'पर' को निर्मित करती रहती है।

एक बार यूरोप के उपनिवेश रह चुके देशों की बौद्धिक चेतना को अनुकूलित कर अपने ज्ञान का वर्चस्व स्थापित करना यूरोप के लिए आसान हो जाता है । पार्था चाटर्जी की हवाला देते हुए बद्री नारायण कहते हैं -" प्रसिद्ध इतिहासविद पार्था चाटर्जी एक अच्छी बात कहते हैं कि औपनिवेशिक देश की बौद्धिकता की विशेषता होती है

[1] Deshpande Satish - Contemporary India -Page. 27
[2] Deshpande Satish - Contemporary India - Page .27

कि उसे जिसका विरोध करना होता है, उसी से प्रभावित होती है।"[1] प्रायः हम आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के तहत अपने स्वत्व बोध को यूरोप के अन्य बनकर आत्मसात करते हैं। इस प्रणाली को भारतीय अपने 'कॉमनसेन्स' से पहचान नहीं पाते । इस तरह निरंतर गुमराह होने की नियति को मिशेल फूको की हवाला देते हुए सुधीश पचौरी ने भी व्यक्त किया है-"आदमी को शुद्ध विषय कैसे बनाया जाता है ? आधुनिकता में आदमी बिना जाने खुद को किस तरह एक 'विषय' में ढाल लेता है ? फूको इन प्रश्नों का उत्तर देते हैं । (यों, हम रोज़मर्रा के अनुभव में यह पाते रहते हैं कि हम 'विषय' बन गये हैं , लेकिन हम यह कभी नहीं समझ पाते कि किस तरह से ऐसा हुआ है, आधुनिक सभ्यता की वे कौन-सी 'भारतीय' प्रणालियाँ हैं जो हमें विषय बना देती हैं । यह हम कम समझ पाते हैं । फूको ने इस कैसे का उत्तर दिया है । 'विषय' बन जाने में एक भ्रम है । 'विषय' बनकर मनुष्य समझता है कि वही कर्ता है । लेकिन होता सिर्फ इतना है कि वह किसी बड़े सिस्टम या किसी बड़े संस्थान का औजार-भर बनता है।"[2] वर्चस्व शक्तियों द्वारा निरंतर 'विषय' बनाये जाने की स्थिति की पहचान बहुत महत्व पूर्ण है । यही पहचान आधुनिकीकरण के बरअक्स 'पर' की रणनीति को स्थापित करने का सबसे पहला सोपान है।

यूरोप की वर्चस्ववादी प्रणाली कैसे पूर्व को व्याख्यायित कर अपनी वर्चस्ववादी मुहिम को बरकरार रख रही है इस को समग्रता से उद्घाटित करने का श्रेय एडवर्ड डब्लु सेड को जाता है । अपनी पुस्तक ओरियण्टलिज्म में वे कहते हैं - " Orientalism is a style of thought based upon an ontological and epistemological distinction made between " the Orient" and (most of the time) "the Occident" . Thus a very large mass of writers, among whom are poets, novelists, philosophers, political theorists, economists, and imperial administrators, have accepted the

[1] बद्रि नारायम - प्रतिरोध की संस्कृति - पृ सं 14
[2] सुधीश पचौरी - उत्तर-आधुनिक साहित्य विमर्श - पृ सं 49

basic distinction between East and West as the starting point for elaborate theories"[1] अर्थात प्राच्यवाद को हमेशा से पश्चिम की ज्ञान मीमांसा और सत्तामूलक दर्शन से अलग होने के स्तर पर पहचाना गया है । इस प्रकार बहुत सारे लेखक जिनमें कवि उपन्यासकार, दार्शनिक, राजनीतिक सिद्धान्तकार, अर्थशास्त्री और साम्राज्यवादी प्रशासक शामिल थे। अपने विस्तृत सिद्धान्तों के प्रारंभिक स्तर में ही पूर्व और पश्चिम के अलगाव को बुनियादी तौर पर स्वीकार कर चुके थे । आधुनिकीकरण की इसी प्रणाली को बद्रिनारायण ने अपनी पुस्तक 'प्रतिरोध की संस्कृति' में एडवर्ड डब्लु सेड तथा अनवर अब्दुलमालिक की हवाला देते हुए यों व्यक्त किया है -"अपनी पुस्तक 'ओरियण्टलिज़्म' में एडवर्ड डब्लू सेड ने दर्शाया है कि किस प्रकार 'पोस्ट इनलाइटेन्मेंट' युग के यूरोप ने ज्ञान की एक ऐसी शाखा को जन्म दिया जिसमें 'पूर्व' प्रतिरूपों की एक ऐसी प्रणाली के रूप में प्रकट होता है जिसकी रचना पूर्व को पाश्चात्य शिक्षा ,चेतना और साम्राज्य के अंतर्गत लाने वाली शक्तियों से हुई थी । वस्तुतः पूर्व देशीयता पूर्व पर शासन करने की एक पश्चिमी तकनीक थी । इस तर्क को विकसित करते हुए अनवर अब्दुलमालिक ने जो सत्य स्थापित किया है, उसके अनुसार 'पूर्वदेशीयता' का स्वरूप ऐसा था जिसमें पूर्व और पूर्वी मानस अध्ययन की एक ऐसी वस्तु थी, जिस पर अन्यता / परायेपन (otherness) की मुहर लगी थी। इस प्रकार औपनिवेशिक कालखण्ड में पैदा हुई बौद्धिकता में अंतर्द्वन्द्व एवं विरोधाभास थे । ये ही उनके संकट भी है , जो आज तक गतिशील है।"[2] ओरियण्टलिज़्म में एडवर्ड डब्लु सेड ने जो तर्क प्रस्तुत किया वह विशेष रूप से अरब देशों से जुडा हुआ था । फिर भी यह सिद्धान्त व्यापक पैमाने पर एक बार यूरोप के उपनिवेश रह चुके देशों को यूरोकेन्द्रीयता से मुक्त होकर अपने स्वत्व को पहचानने का आधार बना। विनोद

[1] SAID W EDWARD - ORIENTALISM WESTERN CONCEPTIONS OF THE ORIENT - KINDLE EDITION Location 337

[2] बद्री नारायण - प्रतिरोध की संस्कृति - पृ.सं 14

शाही कहते हैं- "एडवर्ड सइद के प्राच्यवादी विमर्श की मार्फत अब हम यह बात अधिक स्पष्टता के साथ समझ पा रहे हैं कि पश्चिम की पूर्व की बाबत उसकी हीनता, दोयमता, अचेतनता, विशृंखलता, बर्बरता, असभ्यता, गैर- प्रजातांत्रिकता आदि से जुडी जो धारणा प्रचलित हो गई है, उसका कोई विश्वसनीय ऐतिहासिक आधार नहीं है।"[1]

एडवर्ड डब्लू सेड से पहले, वर्चस्वशाली शक्ति किस प्रकार अपने अन्य को निर्मित करती है इस के संबन्ध में समग्रता से विचार अन्तोनियो ग्राम्शी व्यक्त कर चुके थे। एल. हबीब लुआई अपना आलेख 'हाशिए की अवधारणा का अवलोकन ग्राम्शी से स्पिवाक तक: ऐतिहासिकता और नये आयाम' में कहते हैं- "हाशिए' की धारणा का पहला उल्लेख इटली के मार्क्सवादी राजनीतिक प्रचारक अन्तोनियो ग्राम्शी द्वारा अपने आलेख 'नोट्स ऑन इटालियन हिस्ट्री' में किया गया जो बाद में उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'जेल डायरी ' के रूप में छपी जिसमें 1929 और 1935 के बीच उनके द्वारा लिखी गई रचनाएँ सम्मिलित हैं।"[2] अन्तोनियो ग्राम्शी ने ही सर्व प्रथम 'पर' की रणनीति के तौर पर 'वार ऑफ पोजिशन'(war of position)का सिद्धान्त प्रस्तुत किया था । उन के अनुसार अधिनायक वादी संस्कृति के प्रतीक चिह्नों को तोडना जल्दी संपन्न होने वाली कोई प्रक्रिया नहीं है उस के लिए सतत प्रयास अपेक्षित है । इसी सतत प्रयास को ही अन्तोनियो ग्राम्शी 'वार ऑफ पोजिशन' कहते हैं। आधुनिकीरण के वर्चस्ववादी प्रणालीयों के प्रतिवर्चस्व के रूप में इसी वार ऑफ पोजिशन में रहना सामसामयिक समय में 'पर' की रणनीति है ।

---

[1] विनोद शाही - प्राच्यवाद और भारत का समाज सांस्कृतिक रूपान्तर – पल प्रतिपल मार्च-जून 2004-05- पृ सं 25

[2] एल. हबीब लुअई हाशिए की अवधारणा का अवलोकन ग्राम्शी से स्पिवाक तक : ऐतिहासिकता और नये आयाम
वागर्थ जुलाई - 2016 - पृ.सं 9

2.1.4.1 भूमंडलीकरण और 'पर' की रणनीति

मानव संस्कृति के साथ ही साथ 'हम' और 'वे' की परिकल्पना विकसित हुई थी। विश्व के हर सांस्कृतिक मिथकों में, रीति रिवाज़ों में 'हम' और' वे' के मिथकीय प्रतीकों को देखा जा सकता है । उदाहरण के तौर पर वैदिक मिथक 'देव 'और 'दानव' को लिया जा सकता है । आर्यों ने अपने को श्रेष्ठ साबित करने केलिए अपने 'पर' 'दानव' को बर्बर और क्रूर रूप देकर सांस्कृतिक मिथकीय प्रतीकों को गढ़ा जो भारतीय इतिहास और पुराण की मिथकीय कथाओं का प्रमुख उपजीव्य बन गया था । युवाल नोआ हरारी कहते हैं-"सेपियन्स की यह सहज प्रवृत्ति है कि वे मनुष्य को 'हम' और 'वे' के दो हिस्सों में बाँटते हैं । हम आपके और मेरी तरह के लोग हैं, जो हमारी भाषा, धर्म और रीति-रिवाज़ों को साझा करते हैं। हम सब एक दूसरे के प्रति ज़िम्मेदार है, लेकिन उनके प्रति जिम्मेदार नहीं हैं । हम उनसे हमेशा से भिन्न रहे हैं, और किसी मामले में उनके ऋणी नहीं हैं । हम उनमें से किसी को भी अपने इलाके में नहीं देखना चाहते और उनके इलाके में क्या हो रहा है , इसकी हमें रत्ती भर परवाह नहीं। "[1] धीरे –धीरे वैश्विक स्तर पर साम्राज्यवादी आकांक्षा के बढते चरण ने 'वे' को 'हम' में समेट लिया। मनुष्य की साँझी काल्पनिक व्यवस्था में एकरूपता लाना साम्राज्यवाद के लिए अनिवार्य था। पर यह समावेशीकरण की प्रक्रिया कोई आरामदेह ढंग से संपन्न नहीं हुई थी। "समावेशीकरण की प्रक्रिया अक्सर तकलीफ़देह और मानसिक आघात पहुँचाने वाली होती थी। एक अंतरंग और प्रिय स्थानीय परंपरा को त्याग देना आसान नहीं होता, उसी तरह एक नई संस्कृति को समझना और अपनाना मुशकिल और तनाव से भर देने वाला होता है । इससे भी बदतर यह है कि जब अधीनस्थ समाज साम्राज्यवादी संस्कृति को अपनाने में कामयाब भी हो जाते थे, तब भी अगर सदियाँ नहीं तो दशक लग जाते थे, तब कहीं साम्राज्यवादी प्रभु वर्ग इन समाजों को 'हम' के

[1] युवाल नोआ हरारी (अनु.मदन सोनी) - सेपियन्स मानव-जाति का संक्षिप्त इतिहास - पृ.सं 214

हिस्से के रूप में स्वीकार कर पाता था । जीत और स्वीकृति के बीच की पीढ़ियाँ अलग-थलग और अकेली पड जाती थी। वे अपनी प्रिय स्थानीय संस्कृति से तो पहले ही हाथ धो बैठी होती थीं, लेकिन साम्राज्यवादी दुनिया में उन्हें बराबरी की हिस्सेदारी करने की छूट नहीं होती थी ।"[1]

साम्राज्यवाद की अगली कडी भूमंडलीकरण भी हाशिए के संश्लेषण की बृहत मानवतावादी मुहिम की दुहाई तो देती है पर असल में वह सत्य से कोसों दूर होता है । रजनी कोठारी के शब्दों में -"भूमंडलीकरण और हाशियेकरण एक ही परिघटना की प्रति छवियाँ हैं। हाशियेकरण भूमंडलीकरण का अनिवार्य परिणाम है। भूमंडलीकरण ऐसी परिस्थितियाँ तैयार करता है जिसके कारण लाखों-करोड़ों लोग खुद को हाशिए पर पा कर अवांछित और त्याज्य समझने लगते हैं । भूमंडलीकरण के मौजूदा रुतबे का आलम यह है कि सारी दुनिया को एक इकाई बनाने का सपना देखने वाले, विश्व-संघवादी और हाल ही में सामने आये शांतिपूर्ण और शस्त्रविहीन विश्व-व्यवस्था की वकालत करने वाले भी विषमता और शोषण पर आधारित बंदोबस्त को मान्यता देने लगे है । किसी तरह के सामाजिक दर्शन और सच्चे राजनीतिक वैकल्पिक मॉडल की समझ से वंचित ये लोग प्रौद्योगिक क्रांति से उम्मीद लगाये बैठे हैं । उन्हें लगता है कि आधुनिक संचार और सूचना व्यवस्था मानवता को एकीकृत कर देगी जबकि असलियत में इसने मानवता को ऐसे प्रौद्योगिकीय प्रतिमान के मतहत कर दिया है जिसके कारण वर्चस्व और उसे बढाने वाली भूमंडलीय संरचनायें ही मज़बूत हुई है "[2] सोच में अधिनायकतावादी दस्तक को हम अपने 'कॉमन सेंन्स' से कहाँ तक पहचान पाते हैं यही महत्वपूर्ण है।

---

[1] युवाल नोआ हरारी (अनु.मदन सोनी) - सेपियन्स मानव-जाति का संक्षिप्त इतिहास पृ .सं 216
[2] सं. अभयकुमार दुबे - राजनीति की किताब, रजनी कोठारी का कृतित्व –-पृ.सं 316-317

इस संदर्भ में यह ध्यान देना ज़रूरी है कि 'पर की रणनीती' मात्र भूमंडलीकरण का ही प्रतिरोध नहीं करती। दरअसल 'पर की रणनीति' हर वो अधिनायकवादी सोच का प्रतिपक्ष रचती है जो स्थानीय संदर्भ से भी जुडे हुए होते हैं। पियरे बोर्दिया का हवाला देते हुए बद्रिनारायण कहते है–"पियरे बोर्दिया अपनी पुस्तक 'लैंग्वेज एण्ड सिंबॉलिक पावर' में अत्यन्त विस्तार से बताते हैं कि किस प्रकार समाज का प्रभु वर्ग प्रतीकात्मक उत्पादन के सभी साधनों पर कब्जा कर लेना चाहता है तथा इसकी मदद में ऐसे प्रतीकात्मक संसार की रचना करता है, जो उसके हितपरक ज्ञान एवं विचारधारा का वहन करे, उनका प्रसार करे तथा उन्हें लोकप्रीय बनायें।"[1] भारतीय नव जागरण तथा आधुनिक सोच ने प्रमुख रूप से ज्ञान के इस प्रकार स्थापित प्रतिमानों को ही स्वीकृती दी जब कि स्थानीय संस्कृति के हाशिए में इन स्थापित प्रतिमानों का प्रतिवर्चस्व लगातार रूपायित हो रहा था । बद्रिनारायण कहते हैं – "मिथकों के ग्रहण करने, अनुकूलन करने एवं प्रयोग करने के क्रम में शासित जनता बार-बार उनकी शाश्वतता को तोडती है। दूसरे मिथक एवं प्रतीकात्मक उत्पादन के जिन अस्त्रों पर प्रभुवर्ग अधिकार कर लेना चाहता है , शासित जनता द्वारा उन्हें मुक्त कराने की लड़ाई भी लड़ती रहती है। भारत में निम्न-वर्गीय समाज लम्बे समय तक शिक्षा एवं लेखन शक्ति से वंचित होने के बाद भी अपनी मौखिकता एवं सक्रिय कल्पना-शक्ति से स्थापित मिथकों का प्रतिरोध, उनकी मिथकीय पुनर्व्याख्या तथा वैकल्पिक मिथक भी रचता रहता है।"[2] उत्तर औपनिवेशिक विमर्श प्रमुख रूप ज्ञान के वैधता प्राप्त प्रतिमानों को प्रश्नांकित करके आधुनिकता बोध तथा भूमंडलीय वर्चस्ववादी प्रणालियों का प्रतिपक्ष रचता है । इस प्रकार स्थानीयता की मूल लोक पक्षीय सांस्कृतिक चेतना को उत्तर औपनिवेशिक विमर्श उभारता है। निष्कर्षतः कहा

[1] बद्रीनारायण – प्रतिरोध की संस्कृति - पृ.सं 25
[2] बद्रीनारायण - प्रतिरोध की संस्कृति - पृ.सं 25

जा सकता है कि एक समकालीन रचनाकर की समकालीनता यहीं उत्तर औपनिवेशिक संदर्भ तय करती है ।

2.2 समकालीन हिन्दी कविता

समकालीन समय में लिखी जाने के कारण से कोई कविता समकालीन कविता कहने लायक नहीं बनेगी क्योंकि सामसामयिक होना समकालीन होना नहीं है, तात्कालिकता को तोडना समकालीनता का अनिवार्य शर्त है। इसी कारण हर रचनाकार को अपनी समकालीनता स्वयं अर्जित करना पडता है। राजेश जोशी कहते हैं –"समकालीनता को अर्जित करना होता है । अपने समय के साथ मुठभेड़ करते हुए, उसमें हस्तक्षेप करते हुए, हर रचनाकार को अपनी समकालीनता स्वयं अर्जित करनी होती है। समकालीनता सिर्फ रचना की अन्तर्वस्तु से जुडा प्रश्न नहीं है । यह शिल्प और भाषा का भी प्रश्न है। शिल्प और भाषा में पुरानेपन के साथ एक नई अन्तर्वस्तु लेकर की गई रचना समकालीन नहीं बन सकती । समकालीनता निजी काव्य मुहावरा नहीं है जिसे एक बार साधकर हमेशा के लिए काम चलाया जा सके । वस्तुतः हर महत्वपूर्ण रचना अपनी समकालीनता को अर्जित करने की एक सतत् प्रक्रिया है और प्रविधि भी। समकालीनता अर्जित करना और करते रहना, एक सतत प्रक्रिया है। अगर यह प्रक्रिया किसी रचनाकार में रुक जाती है या रचनाकार ही उसके प्रति उदासीन हो जाता है तो बहुत संभव है कि अपने समय में सबसे अधिक समकालीन रहा रचनाकार, रचनारत रहते हुए भी देखते-ही-देखते अपनी अगली पीढ़ी के रचनाकोरों के लिए और रचना परिदृश्य के लिए समकालीन न रह जाय "[1] समकालीनता के इसी संदर्भ को ही ए.अरविंदाक्षन काल चेतना और कला चेतना के माध्यम से व्याख्यायित करते हैं –"कालचेतना और कलाचेतना समकालीनता की सरल परिभाषा के लिए प्रयुक्त शब्द नहीं हैं । जब समकालीनता तात्कालिकता को तोडती है

[1] राजेश जोशी - एक कवि की दूसरी नोट बुक, समकालीनता और साहित्य - पृ.सं 30

तो कालचेतना का अर्थस्तर विस्तृत और गहरा होने लगता है। कविता की यह अनिवार्य प्रवृत्ति है कि काल की तात्कालिकता को तोडे, अपनी कालचेतना को मानवीय इतिहास और संवेदों के साथ जोडे और उस सरोकार को विभिन्न सन्दर्भों में पहचाने । इस पहचान केलिए कलाचेतना की गहरी समझ की भी आवश्यकता है । यह कविता को कविता बनानेवली सरल प्रक्रिया नहीं है कलाचेतना भी आखिरकार कालचेतना के समान कविता को देशज अस्मिता के साथ जोड़नेवाली कड़ी है "[1] इस प्रकार कविता का देशज अस्मिता के साथ जुडकर अपने स्थल-काल को अंकित करने की प्रणाली समकालीन कविता की विशेष पहचान को रूपायित कराती है ।

ए.अरविंदाक्षन समकालीन कविता के संदर्भ में जिस थल-काल की चर्चा करते हैं उसे समझना समकालीन कविता के आभ्यन्तर की जटिलता को समझने केलिए अनिवार्य है । देशज अस्मिता के भूपिदृश्य (Demography) को केन्द्र में रखकर वे समकालीन कविता के थल-काल को विश्लेषित करते हैं । उनके अनुसार – "विषयवस्तु की प्राचीनता या आधुनिकता सामान्य काल –संदर्भ को आँकने में बाधक नहीं है , क्योंकि यह काल कविता को हमसे जोडने में सहायक है । परन्तु कविता का यथार्थ उक्त सामान्य काल –संदर्भ से नहीं है । वह थल-संदर्भ के अनुरूप विकसित काल संबन्धी अवबोध है । जो कविता को अपेक्षित शिखरता तक ले चलता है । थल-संदर्भ में जिस प्रकार इतिहास के समान्तर चलने की प्रवृत्ति कविता की होती है उसी प्रकार कालबोध में इतिहास बोध ही गुंफित रहता है । आस्वादन के अवसर पर कविता की यही संवेदनात्मक स्थिति हमारी कलात्मक और गहरी सामाजिक दृष्टि से टकराती है । अतः कालावबोध में रचना की बहुत सी स्थितियाँ सन्निविष्ट है। काल के जड एवं गत्यात्मक पक्ष, उनके साथ मानवीय स्थितियों का सरोकार, जातीय संस्कृतियों

[1] ए. अरविंदाक्षन - कविता का थल और काल - पृ.सं 92-93

का संस्पर्श आदी उसके कुछ प्रमुख पक्ष हैं । समकालीन कविता को परखने के लिए ये पक्ष सहायक होते हैं । ये ही पक्ष आस्वादन के विविधोन्मुखी वातयनों को खोल देते हैं ।"[1] इस प्रकार देखा जाये तो समकालीन कविता का थल-काल आधुनिकता के हर केन्द्रीकरण को निरस्त करते हुए उभरते नज़र आयेंगे । आशुतोष कुमार केदारनाथ सिंह का हवाला देकर समकालीन कविता की इस उत्तर औपनिवेशिक संदर्भ को रेखांकित करते हुए कहते हैं –"केदारनाथ सिंह ने अपने लेख 'खतरनाक' ढंग से कवि होने का साहस' में बताया कि नागर्जुन के योगदान का विशेष महत्व यह है कि इसमें 'पश्चिम के सांस्कृतिक दबाव के विरुद्ध सक्रियता है'। नकारात्मक नहीं अपने समय के यथार्थ के अनुरूप। आधुनिकता का प्रतिरोध है, आधुनिक बोध का नहीं । स्पष्टतः कविता की नई जमीन 'नई कविता' की जमीन से भिन्न है।"[2] समकालीन कविता की इस नयी ज़मीन की पहचान के बिना कोई कवि समकालीन नहीं हो सकते। विभिन्न विद्वानों ने समकालीन कविता को विभिन्न तरह से परिभाषित करते हुए समकालीन कविता की इन्हीं सब विशेषताओं को उजागर करने का प्रयास किया है ।

2.2.1 समकालीन हिन्दी कविता : परिभाषा एवं स्वरूप

समकालीन कविता का आभ्यन्तर इतना जटिल और सर्वतोन्मुखी है कि कोई मुकम्मल परिभाषा उसके लिए संभव नहीं है । फिर भी विभिन्न परिभाषाओं के माध्यम से समकालीन कविता के स्वरूप पर विविध दृष्टिकोणों से प्रकाश अवश्य पडता है । विश्वंभरनाथ उपाध्याय समकालीन कविता को परिभाभित करते हुए कहते हैं –"समकालीन कविता अपने समय के मुख्य अन्तर्विरोधों और द्वन्द्वों की कविता है । समकालीन कविता में जो हो रहा है उसका सीधा खुलासा है । इसे पढकर वर्तमान काल का बोध हो सकता है, क्योंकि उसमें जीते, संघर्ष करते, लडते, बौखलाते,

[1] ए. अरविंदाक्षन - कविता का थल और काल - पृ.सं 92-93
[2] आशुतोष कुमार - समकालीन कविता और मार्क्सवाद - पृ.सं 74

तडपते, गरजते तथा ठोकर खाकर सोचते वास्तविक आदमी का परिदृश्य है। आज की कविता में काल अपने गत्यात्मक रूप में है, ठहरे हुए क्षण अथवा क्षणांश के रूप में नहीं । यह 'काल क्षण' की कविता नहीं काल प्रवाह की, आघात और विस्फोट की कविता है।"[1] प्रस्तुत परिभाषा में समकालीन कविता को थल-काल की अनस्यूतता के रूप में देखा गया है। ठहरे हुए क्षण यानि नई कविता की जडता को तोडकर समकालीन कविता काल प्रवाह की अनस्यूतता अपनी ज़मीनी जुटाव के साथ बरकरार रख रही है । समकालीन कविता की इस विशेषता का सही पहचान एक कवि की समकालीनता की कसौटी है।

शंभुनाथ भी समकालीन कविता को काल बोध के इसी दृष्टिकोण के आधार पर परिभाषित करते हैं। "जो कविता समकालीन परिस्थितियों में प्रासंगिक है वहीं समकालीन कविता है उसे लिखने वाला कवि चाहे नई उम्र का हो या पुराना ही क्यों न हो।"[2] अर्थात समय के साथ सार्थक सरोकार समकालीन कविता की अनिवार्य शर्त है । समय का यह बोध मात्र सामसामयिक समय में जीवित रहने से प्राप्त नहीं होंगे, उसे सायास आर्जित करना पडता है । डॉ प्रेमशंकर कहते हैं –"जो कुछ लिखा जा रहा है वह सब समकालीन नहीं है । समकालीनता एक जीवन दृष्टि है, जहाँ कविता अपने समय का आकलन करती है –तर्क और संवेदना की सम्मिलित भूमी पर । यह एक प्रकार के मुठभेड है, सर्जनात्मक धरातल पर जहाँ वस्तुओं के नाम, अर्थ बदल जाते हैं। जीवन को एक नया विन्यास मिलता है कविता में।"[3]

आधुनिकतावादी कविता जहाँ समय का आकलन तर्क के आधार पर करती थी वहाँ समकालीन कविता तर्क और संवेदना के सम्मिलित भावभूमि पर समय की

---

[1] डॉ. विश्वंभर नाथ उपाध्याय - समकालीन कविता की भूमिका – पृ.सं 3
[2] सं .ए. अरविन्दाक्षन - . कविता का यथार्थ - पृ.सं 17
[3] उद्दरण - डॉ. श्यामबाबू शर्मा - भूमण्डलीकरण और समकालीन हिन्दी कविता - – पृ.सं - 76

पहचान कराती है । वह बौद्धिक जडता को पार करके जनता की संवेदना का वहन करती हुई अपने थल-काल को अंकित करती है । अरुण कमल समकालीन कविता की इसी काल चेतना को उद्घाटित करते हुए कहते हैं–"केवल यही एक तथ्य कि किसी कृति की रचना एक चुने हुए काल क्षण में ही सम्भव है सिद्ध करता है कि प्रत्येक रचना अपने काल से बद्ध है । यह उसकी समकालीनता है और यह समकालीनता उस रचना में व्यक्त उस काल के जीवन का अनूठापन है जो मनुष्य के जीवन में उसके पहले कभी प्रकट नहीं हुआ था। जीवन लगातार बदल रहा है । नदी का पानी बदल रहा है और नदी के पानी में भीगता हुआ हाथ भी निरन्तर बदल रहा है। एक श्रेष्ठ रचना उन तत्वों को पकडती है जो सर्वाधिक नये और इसलिए अनूठे है जो रचना जितनी तीव्रता और जितने विस्तार से इस नयेपन को व्यक्त करता है, वह उतनी ही श्रेष्ठ होती है और उतनी ही अधिक समकालीन । मनुष्य के बाह्य तथा आन्तरिक जगत, सूक्ष्म मनोभावों, रागों, भावात्मक घात-प्रतिघातों और उसके होने मात्र में जो सर्वथा नया है, और इसलिए जो आज तक किसी पूर्ववर्ति रचना की पहूँच के बाहर भी, उसे ही रचना ढूँढती और व्यक्त करती है । इस अर्थ में वह सर्वथा कालबद्ध और समकालिक है।"[1]

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि समकालीन कविता का थल विशेष रूप में देशज अस्मिता से जुडकर अपनी काल चेतना को प्रवाहमान रख रही है । आलोचक सुवास कुमार कहते हैं–"कविता में आज यह समझ विकसित हुई है कि जो अनुभव स्थानीय नहीं है वह सार्वदेशिक नहीं हो सकता और एक अनुभव दिए हुए समाज के निश्चित फ्रेम-वर्क में नहीं है वह शाश्वत और सर्वकालिक नहीं है।"[2] संक्षेप में कहा जा सकता है कि समकालीन कविता की विभिन्न परिभाषाएं किसी न किसी रूप में

[1] अरुण कमल – गोलमेज - पृ.सं.133-134
[2] कृति ओर – जुलाई- सितंबर 2004 – पृ.सं 74

कविता के इस उत्तर औपनिवेशिक संदर्भ को ही उजागर कर रही है जो उसे 'लोक्कल' संदर्भ के माध्यम से 'ग्लोबल' संदर्भ के साथ जोडती है।

2.2.2 समकालीन हिन्दी कविता की समय सीमा

समकालीन कविता की समय सीमा को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद रहा है । कई विद्वान सठोत्तर कविता को समकालीन कविता कहते हैं। पर आशुतोष कुमार स्पष्ट शब्दों में रेखांकित करते हैं कि साठोत्तर कविता के अकविता रूझन की मुख़ालिफ़त करके ही समकालीन कविता अपनी वयस्कता पाई है। आशोक वाजपेयी पूर्वाग्रह-19 (मार्च-अप्रैल,1974) में कविता की इस वयस्कता प्राप्त करने के संबन्ध में कहते हैं -"अपने समय के भारतीय मनुष्य को, उसके अंतःसंघर्ष और जूझ को परिभाषित करने की चेष्टा कविता के प्रासंगिक और वयस्क होने के लिए जरूरी है। लेकिन ऐसी चेष्टा मनुष्य की हालत के अहसास भर से कारगर नहीं हो सकती है। उसके लिए जरूरी है कि उसकी समझ भी कविता के संगठन में सक्रीय हो।"[1] यह समझ दरअसल समकालीन समय की ज़मीनी जुडाव की समझ ही है। मात्र अहसास या अनुभव से बढकर समकालीन कविता अस्सी के आसपास नयी समझ' की कविता बननी शुरू हुई थी।

1981 में प्रकाशित आलोचना के संयुक्तांक जनवरी-मार्च / अप्रैल-जून नागार्जुन पर केन्द्रित था। इस अंक के महत्व को रेखांकित करते हुए आशुतोष कुमार कहते हैं -"समकालीन कविता की नई बनती पहचान के लिहाज से इस अंक का महत्व रेखांकित करने योग्य है। इस अंक में 'जमीन की कविता और कविता की जमीन' शीर्षक अपने सम्पादकीय में नामवर सिंह ने नागार्जुन की रचनाशीलता का अभिनन्दन किया । उन्होने समकालीन रचना की जमीन खोजते हुए एक नयी दिशा

[1] उद्दरण– आशुतोष कुमार – समकालीन कविता और मार्क्सवाद – पृ.सं 72

की ओर संकेत किया । यह दिशा 'कविता के नए प्रतिमान' की दिशा से अलग थी।"[1] कविता की यही जमीनी जुडाव दरअसल समकालीन कविता की विभाजक रेखा है। समय की यह नयी समझ साठोत्तरी कविता में रूपाकार नहीं ग्रहण कर पाया था । साठोत्तरी कविता के संबन्ध में आशुतोष कुमार का कहना है –"साठोत्तरी कविता कहने से सन् साठ तक की कविता-नई कविता –के पार जाने की इच्छा प्रकट होती है, कोई किसी नई काव्यभूमि का संकेत कम मिलता है। वस्तुस्थिति भी ऐसी ही थी। जिसे हम साठोत्तरी कविता कहते हैं, उसमें निषेध के स्वर की प्रबलता को देखते हुए इसे आसानी से महसूस किया जा सकता है। -वे आगे कहते हैं - ऐसे में 'समकालीन कविता' का पदबन्ध आठवें दशक में उभर कर सामने आईं उन नई काव्य-प्रवृत्तियों के लिए सुरक्षित किया जा सकता है, जिनमें समकालीनता की चेतना बहुत सघन है।"[2]

समकालीन कविता की समय सीमा को निर्धारित करने के लिए समकालीन समय की समझदार काव्याभिव्यक्ति को आन्दोलनों की भीहड में से पहचानना ज़रूरी है। समकालीन कविता मुख्य रूप से आपातकाल और उसके बाद के दौर की कविता है। आपातकालीन परिवेश की पूर्व सूचना देने वाली रचनाओं में रघुवीर सहाय के चर्चित काव्यसंग्रह 'हँसो, हँसो, जल्दी हँसो' और नरेश मेहता की 'प्रवाद पर्व' उल्लेखनीय हैं। आपातकाल को स्वतन्त्र्योत्तर सामाजिक-राजनीतिक इतिहास में व्यवस्था के संकट के चरम बिन्दू के रूप में देखा जा सकता है । राजनीतिक सजगता और जनवादि चेतना से भरपूर इस दौर की कविता नयी कविता, अकविता और वाम कविता के मुहावरे से अलग हैं। जिनमें समकालीनता की एक नई चेतना है। आशुतोष कुमार के अनुसार- "नकार, निषेध, वितृष्णा की जगह एक प्रशनवाचक जीवनधर्मिता

[1] आशुतोष कुमार - समकालीन कविता और मार्क्सवाद – पृ.सं 73
[2] आशुतोष कुमार - समकालीन कविता और मार्क्सवाद – पृ.सं 77

है। गहरा राजनीति विवेक है। विचारशीलता है लेकिन शुष्क बौद्धिकता की जगह एक संयत भाव-प्रवणता है।"[1]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि 1975 को समकालीन कविता की विभाजक रेखा के रूप में स्वीकार करना सर्वाधिक समीचीन है । 90 के बाद भारत में पनपे भूमडलीय दौर के नव उदारतावादी महौल की भूमिका 1975 में तैयार होती है। 80 के बाद तेज़ी से मानवीय संबन्धों का ढाँचा ही परिवर्तित होना शुरू होता है। इस दौर में छोटी-छोटी घटनाओं का सिलसिला पूरे परिवेश को बदलते हुए नज़र आती है । अस्थाई सरकारें, एशिएन गेम्स, टी.वी का आगमन, इंदिरागांधी की हत्या, सिख आतंगवाद, आर्थिक तंगी, और उसके बाद 1991 में नरसिंह राव सरकार का उदारीकरण को बढावा देना आदि घटनाओं ने मानवीय संबन्धों के पूरे संदर्भ को बदलकर रख दी । आज आभासी यथार्थ मनुष्य के यथार्थ और अयथार्थ के फासले को मिटा रहा है। आमूल-चूल परिवर्तित मनवीय संबन्धों के बीच कविता का प्रतिमान बदले बिना कैसे रह सकता है। आक्रोश, तथा निषेध के बरअक्स कविता इसी समयसीमा के नज़दीक अपनी अभिव्यक्ति को ज़मीन से जोडकर भाव-प्रवण बनाती है। बदले हुए इन पूरे परिदृश्यों का प्रतिनिधित्व कमोबेश 1975 की काव्य चेतना करती है। इसीलिए 1975 को समकालीन कविता की आरंभ बिन्दु मानना सर्वादिक संगत है ।

2.2.3 नब्बे के बाद की कविता

नब्बे के आसपास समकालीन कविता के तेवर में आमुल-चूल परिवर्तन घटित होने लगा। एक तरफ नव उदारतावादी आसार गहराना शुरू हुआ वहीं दूसरी तरफ अस्मिता को बनाये रखने की जगह नये-नये संकट दिनों-दिन गहराना शुरू हुआ।

[1] आशुतोष कुमार – समकालीन कविता और मार्क्सवाद - पृ.सं 78

नब्बे के इस परिवेश को बद्री नारायण 'लाँग नाइण्डीज' की संज्ञा दे कर व्याख्यायित करते हैं । उनके शब्दों में –"80 से 1990 का कालखणड जो द लाँग नाइण्डीज का निर्णायक कालखण्ड है, में विश्व मानवीय विकास के इतिहास में एक महत्वपूर्ण दुर्घटना होती है, वह है सोवियत रूस का पतन । प्रतिरोध एवं परिवर्तन के महान् स्वप्न का भंग । इस घटना ने पूरी दुनिया में एक संशय एवं भय को जन्म दिया । मानव भविष्य की इस संकटग्रस्तता में 'वलनरविलिटी'- स्वप्नभंग की पीडा, आत्मखोज, लोकसमाजों के संस्रोतों को लेकर प्रतिरोध के नये स्रोतों की तलाश 80 से 90 के दशक की कविता की मूल प्रवृत्ति बनी । एकान्त श्रीवास्तव, नवल शुक्ल, कुमार अम्बुज, देवीप्रसाद मिश्र, निलय की कविताएँ इन प्रवृत्तियों से उभर रहीं थी। बाद में पवन करण, चेतन क्रान्ति, पंकज चतुर्वेदी, व्योमेश शुक्ल इत्यादी अनेक कवि इस समय की संकटग्रस्तता की रचनात्मक अभिव्यक्ति करते हैं।"[1]

इक्कीसवीं सदी सूचना प्रौद्योगिकी के विस्फोट का युग है । मानवीय संबन्धों के हर स्तर को गहरी रूप में परिवर्तित करने वाले इस युग की भूमिका 'लाँग नाइण्डीज' में तैयार होती है । बद्रिनारायण कहते हैं –"70-80 के दौर में उभरी आलोचनात्मक दृष्टि एवं टाइप्स से ही 'लाँग नाइण्डीज' 80-90 से 90 से 2000, जिसका विस्तार यह इक्कीस्वीं सदी है, को देखा जा रहा है । लाँग नाइण्डीज मोबइल, एस.एम.एस, टेलिविजन, नेट, नये सूचना संजालों से बने एक वर्चुवल कम्युनिटी एवं वर्चुवल रियालिटी से टकरा रहा है, जहाँ 80 के पूर्व के रियालिटी (यथार्थ) का अर्थ बदल चुका है । महाकाव्यात्मक (रामायण, महाभारत) मिथक से इतर हम एक नये 'मिथिक टाइम', जो इस वर्चुवल स्फेयर ने तैयार किया है, से गुज़र रहे हैं । ग्लोबलाइजेशन, बाज़ार उसकी सुविधा, सुख एवं उसकी हिंसा भी 'कुछ के सुख पर अनेकों के दुख' को देख रही इसी पीढ़ी की दुविधा की रचनात्मकता, जो आज हमारे सामने है, उक्त

[1] बद्री नारायण – प्रतिरोध की संस्कृति – पृ.सं 53

समय संदर्भ पर विचार करते हुए मूल्यांकन की नयी दिशाओं की ओर संकेत करती है । ऐसे में इस कालखण्ड के रचनाकारों की आलोचनात्मकता, उनके औजार, उनके चश्मे को लाँग नाइण्डीज के समय के इतिहास के संदर्भ में देखने की रचनात्मक आवश्यकता है"[1]

नब्बे के बाद मानवीय संबन्ध बुनियादी स्तर पर ही बदल गया था । वर्चुवल रियालिटी का प्रायोजित यथार्थ एक तरफ है तो दूसरी तरफ वर्चस्ववाद के नये-नये प्रारूप पृष्ठभूमि में लगातार तैयार होते जा रहे थे । राजेश जोशी कहते हैं –"समय बदल चुका है, यह महज मुहावरा नहीं है । औद्योगिकीकरण ने अपनी संरचनाओं और मानवीय सम्बन्ध के स्वरूपों के साथ जिस समय की निर्मिति की थी वह बदल चुका है । प्रौद्योगिकी अब अपनी संरचनाएँ और मानवीय सम्बन्धों के नए स्वरूपों की निर्मिति कर रही है । मानवीय सम्बन्ध को एक हद तक तकनीकी सम्बन्ध में रूपान्तरित करने की कोशिश कर रही है । यह एक प्रौद्योगिकीय समय है जहाँ कम्प्यूटर ने सेकिण्ड को भी मिली सेकिण्ड, नैनों सेकिण्डस् और पीको सेकिण्ड में बाँट दिया है । औद्योगिकीय समय में समय और गति के बीच जो अनुपात था वह कई गुना बढ़ गया है।"[2] इस बदली हुई परिवेश के साथ ताल-से ताल मिलाने में कविता लगातार छूक रही थी। कविता की पहुँच के बाहर लगातार प्रायोजित यथार्थ रूपायित हो रही थी, फिर भी समकालीन कविता इन विषम परिस्थितियों में भी मानवीयता की ऊष्मा को संजोकर रखने की जद्दोजहद में जुडी रही । नब्बे के बाद समकालीन कविता में आये इन बदलावों को रेखांकित करते हुए बद्री नारायण कहते हैं –"नब्बे के दशक के पूर्व की हिन्दी कविता जहाँ प्रदत्त वैचारिक संस्रोतों से काम चला रही थी, वहीं नब्बे के बाद की हिन्दी कविता एक तरफ विच्छिन्न वैचारिक संस्रोतों (समाजवाद

[1] बद्री नारायण – प्रतिरोध की संस्कृति – पृ.सं 54
[2] राजेश जोशी – एक कवि की दूसरी नोट बुक, समकालीनता और साहित्य – पृ.सं 26

के विच्छिन्न प्रारूप) को इधर उधर से चुन-बिन कर दूसरी तरफ समाज के विभिन्न स्तरों पर उभर रहे छोटे-छोटे प्रतिरोधों के अनुभवों से अपनी कविता के लिए नये वैचारिक स्रोत ढूँढ रही थी । वहीं दूसरी ओर बाजार एवं राजसत्ता के गँठजोड से प्रतिरोध की राजनीति की संभावनओं की जो हत्या की जा रही थी, उसकी जमकर आलोचना प्रस्तुत कर रही थी । इसलिए नब्बे, दशक की कविता में वैचारिक संश्लिष्टता, प्रतिरोध के बहुल रूपों की छवियों एवं संबन्धों की आलोचनात्मकता ज्यादा दिखाई पड़ती है ।"[1]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि उन्नीस सौ नब्बे का कालखण्ड बदलाव के आगाज़ लेकर आया था । सामाजिक संरचना पूर्ण रूप से ही पूंजी के चंगुल में आ गयी थी । मानवीय संबन्धों के हर स्तर पर वित्तीय पूंजी अपनी मुहर लगाना शुरू कर दी थी । इक्कीस्वीं सदी के दहलीज़ तक पहुचते ही वित्तीय पूँजी का क़हर इतना गहराया कि उसकी पहचान ही दुष्कर हो गयी। रवीन्द्रनाथ मिश्र कहते हैं –"आज लिखी जा रही कविता की कोई मोटी-सी विषय-सूची बनाना कतई असंभव है। अधिक से अधिक शायद हम आज के कवियों के रचना-संसार के भीतर ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान की उस मुख्य भूमी को खोज सकते है जहाँ आज लिखी जा रही कविता का एक समग्र निहितार्थ बनता है । वह निहितार्थ जो कविता को बाज़ार संस्कृति के विरोध में खडा करता है । बाज़ार आज मनुष्य को केवल उपभोक्ता बना देने पर तुला है । कृत्रिम जरूरतें रची जा रही है । जीवित मनुष्य के समाज को बाज़ार में केवल एक विशाल 'पासीव भीड' में बदल दिया जा रहा है।"[2] इस प्रकार लगातार पासीव भीड में बदल रहे मनुष्य के सामने मानवीयता की लौ जलाये रखने का जोखिम भरा दायित्य आज साहित्य, विशेषकर कविता के सामने है ।

---

[1] वागर्थ -दिसंबर 2012 – पृ.सं 35

[2] सं. रवीन्द्रनाथ मिश्र - इक्कीसवीं सदी का हिन्दी साहित्य : समय समाज और संवेदना - पृ.सं 10

2.3 समाकालीन हिन्दी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर

समकालीन कविता में लगभग चार पीढियाँ सक्रीय हैं । इनमें प्रारंभिक पीढ़ी के कवी भी इस कदर सक्रिय है कि वे लगातार अपनी बारीक और अनुभव से प्रौढ़ अभिव्यक्तियों द्वारा समकालीन कविता को समृद्ध कर करे हैं । प्रारंभिक पीढ़ी के प्रमुख कवि और उनके काव्य संकलन है - कुंवरनारायण के 'अपने सामने', केदारनाथ सिंह की 'जमीन पक रही है '(1980), विनोद कुमार शुक्ल की 'वह आदमी नया गरम कोट पहिनकर चला गया विचार की तरह' (1981) कुमार विकल की 'एक छोटी-सी लडाई', (1980), लीलाधर जगूडी की 'घबराये हुए शब्द' (1981), ऋतुराज की 'पुल पर पानी' (1981), चन्द्रकान्त देवताले की 'लकड़बग्घा हँस रहा है' (1980), अरुण कमल की 'अपनी केवल धार' (1980), राजेश जोशी की 'एक दिन बोलेंगे पेड़' (1980), उदय प्रकाश की 'सुनो कारीगर' (1980), सोमदत्त की 'किस्से अरबों है' (1980) , श्रीराम वर्मा की 'कालपात्र' (1980), प्रयाग शुक्ल की 'यह दिन है' (1980), मलयज की 'अपने होने को अप्रकाशित करता हुआ' (1981), विष्णु नागर की 'तालाब में डूबी हुई लड़कियाँ' (1981), ज्ञानेन्द्रपति की 'शब्द लिखने के लिए ही यह कागज़ बना है', मंगलेश की 'पहाड़ पर लालटेन', गिरिधर राठी की 'बाहर–भीतर' और विनोद भारद्वाज की 'जलता मकान' (1980)। ये सभी काव्य संग्रह 1980-81 के है इन्हीं के साथ शमशेर के संग्रह 'चुका भी नहीं हूँ में '(1975) और 'इतने पास अपने' (1980) नागार्जुन के 'खिचड़ी विप्लव देखा हमने' 1980, त्रिलोचन के 'ताप के ताए हुए दिन' (1980) और 'उस जनपद का कवी हूँ' (1981) श्रीकान्त वर्मा के 'मगध' (1984) रघुवीर सहाय के 'हँसो, हँसो, जल्दी हँसो' (1975) और 'लोग भूल गये हैं' (1982) तथा

केदारनाथ सिंह के संग्रह 'यहाँ से देखो' (1983) को भी शामिल कर लें तो समकालीन हिन्दी कविता के प्रारंभिक दौर का परिदृश्य मुकम्मल हो जाता है।[1]

नब्बे के बाद बहुत सारे कवि समकालीन कविता को समृद्ध और विस्तृत करते हुए परिदृश्य में आ गये। अस्सी में जो जनपक्षधरता और ज़मीनी जुडाव कविता में उदय पा चुका था नब्बे के बाद वह और अधिक सशक्त हुआ । नब्बे के दशक में उभरे कवियों के संदर्भ में बद्रिनारायण कहते हैं-"नब्बे के दशक में छोटे-छोटे शहरों से अनेक नये कवि उभरे । उन्होने अपने उभरने की लड़ाई को दिल्ली से शासित कविता से संघर्ष करते हुए संभव किया । चूँकि अनेक लोकभाषीय पृष्टभूमी एवं अनेक जीवन भावों से ये कवि आये थे अतः उनमें भाषा, संस्कृतिक भाव, लोकसंवाद, मुहावरे एवं डिक्शन की अनेकरूपता थी जो उसे एक सशक्त साहित्यिक हस्तक्षेप बना रही थी । औपनिवेशिक आधुनिकताबोध को समझते हुए भी ये कवि सूखी काव्यभाषा के दबाव को तोडकर लोकरागों से अपने को जोड रहे थे । आरा, पटना, भोपाल, गुना, सरगुजा, छत्तीसगढ़, इलहाबाद (दिल्ली में जाकर भी जो अभी दिल्ली के नहीं हुए थे) से उभरे ये कवि हिन्दी कविता के जनपद का विस्तार करने के साथ-साथ उसकी दुनिया को और गहरा कर रहे थे । ये अपने अनुरूप परंपरा रचते हुए स्वयं को निराला, नागार्जुन, त्रिलोचन, केदार आदि से जोड़ रहे थे"[2] यही नहीं भारत के विभिन्न प्रान्तों से विशेषकर दक्षिण भारत से भी हिन्दी कविता की बहुस्वरता गूंजना शुरू हो गयी है । नब्बे के बाद उभरे इन कवियों की सूची बहुत लंबी है। समग्रता से उन सब का विवेचन अध्ययन के इस छोटे कलेवर में कतई संभव नहीं है । फिर भी समकालीन कविता के उत्तर औपनिवेशिक संदर्भ के इस विशाल परिदृश्य को कुछ प्रतिनिधि कवियों के विवेचन से स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है ।

---

[1] आशुतोष कुमार - समकालीन कविता और मार्क्सवाद – पृ.सं 77

[2] बद्री नारायण – प्रतिरोध की संस्कृति - पृ.सं 36

2.3.1 केदारनाथ सिंह

केदार नाथ सिंह समकालीन कविता की प्रथम पीढी के महान कवि हैं । उनकी यह सबसे बडी विशेषता है कि उन्होने समकालीन कविता के लगभग चार पीढ़ीयों तक अपनी सक्रीयता निभाई । उनके प्रसिद्ध काव्य संकलन है – अभी बिल्कुल अभी (1960) , जमीन पक रही है (1980), यहाँ से देखो (1983), बाघ (1996), अकाल में सारस (1988) , उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ (1995), तालस्ताय और सइकिल (2005), सृष्टि पर पहरा (2014) । उनके समग्र योगदान केलिए वर्ष 2013 में उन्हें ज्ञानपीठ पुरस्कार से नवाज़ा गया था । स्मृति बोध की सघनता उनकी कविताओं की सबसे बडी विशेषता है । नब्बे में जिस मेट्टा नरेटीव के टूटने की बात बद्रिनारायण करते हैं , वह उनकी कविताओं में स्पष्ट देखा जा सकता है । गाँव, खेत-खलिहानों में लौटने की ललक उनकी कविताओं में अनस्यूत है । देशज अस्मिता के थल-काल सामंजस्य का जो उदाहरण उनकी कविताओं में प्राप्त होता है वह अन्यत्र दुर्लभ है ।

2.3.2 चन्द्रकांत देवताले

चंद्रकांत देवताले समकालीन कविता के प्रारंभिक पीढी की सशक्त हस्ताक्षर है। उनकी कविताओं में समय और संदर्भ के साथ तालूकात रखने वाली सभी सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, प्रवृत्तियाँ समाई हुई देखी जा सकती है । विष्णु खरे कहते हैं –"हिन्दी कविता के इन दिनों में जब दुर्भाग्यवश अधिकांश प्रतिभाशाली युवा और अधेड़ कवि भी बहुत जल्दी अपनी –संभावनाओं के सीमांत पर पहुँच रहे लगते हैं, चन्द्रकांत देवताले की ये कविताएँ अपने प्रतिबद्ध गुस्से की बार-बार धधकती उपस्थिति, गहरी मानवीयता और मर्मस्पर्शिता तथा निजी रिश्तों,संकटों, चिन्ताओं की स्वीकारोक्तियों की सदानीरा वैविध्यपूर्ण जटिलता से उन पर लौटने को बाद्य करती हैं

।"[1] उनके प्रमुख काव्य संकलन है –हड्डियों में छिपा ज्वर (1973), दीवार पर खून से (1975), लकड़बग्घा हँस रहा है (1980) रोशनी के मैदान की करफ (1982) भूखण्ड तप रहा है(1982), आग हर चीज़ में बताई गई (1987), पत्थर की बैंच (1996), इतनी पत्थर रोशनी (2002) आदि ।

2.3.3 लीलाधर जगूडी

समकालीन सामाजिक यथार्थ को उसकी पूरी विद्रुपताओं के साथ उद्घाटित करने वाले कवियों में लीलाधर जगूडी शीर्षस्थ स्थान रखते हैं । समकालीन जीवन में वर्चस्ववाद के हर मुहिम से कवि वाक़िफ़ है । उनकी कविता लगातर पासीव भीड में तबदील हो रहे मनुष्य को उसके वजूद से रू-ब-रू कराने वाली है । उनके अब तक प्रकाशित काव्य संग्रह हैं– शंखमुखी शिखरों पर (1964), नाटक जारी है (1970), इस यात्रा में (1973), रात अब भी मौजूद है (1975), बची हुई पृथ्वी (1977), घबराए हुए शब्द (1981), भय भी शक्ति देता है (1991), अनुभव के आकाश में चाँद (1994), महाकाव्य के बिना (1995), और ईश्वर की अध्यक्षता में (1999) ।

2.3.4 भगवत रावत

भगवत रावत की कविताएँ अपने अलग अंदाज़ की वजह पाठकों के दिल को गहराई से चूने वाली हैं । उनकी कविताओं में जहाँ एक ओर महानगरीय जीवन की त्रासदी है तो दूसरी ओर लोक जीवन की सोंधी सुगन्ध लगातार महकती हैं, पर यह लोक जीवन का चित्रण कोई रुमानी भावबोध लेकर नहीं बल्कि ग्रामीण जीवन के यथार्थ को गहराई में अनुभूतिगम्य बनाते हुए प्रस्तुत हुआ है । नंद भारद्वाज कहते हैं "भगवत रावत की कविताएँ बिना किसी आवेश, आरोह-अवरोह या आयोजन भंगिमा के उन तमाम मध्यवर्गीय, निम्न मध्यवर्गीय और शोषित उपेक्षित लोगों की जीवन दशा,

[1] विष्णु खरे – पथर की बैंच - फ्लैप से

उनके संघर्ष और अनुभव संसार को इतनी सहजता और अपनेपन से अपने कलेवर में समेट लेती हैं कि कवि और पाठक के बीच का अलगाव अपने-आप में खत्म हो जाता है।"[1] उनके प्रमुख काव्य संकलन हैं – समुद्र के बारे में (1977), दी हुई दुनिया (1981), हुआ कुछ इस तरह (1988), सुनो हिरामन (1992), सच पूछो तो (1996), बिथ कथा (1997) हमने उनके घर देखे (2001), ऐसी कैसी नींद (2004), कहते हैं दिल्ली की है कुछ आबोहवा (2007), अम्मा से बातें और कुछ लम्बी कविताएँ(2008) और देश एक राग है (2009) ।

2.3.5 अशोक वाजपेयी

समकालीन हिन्दी काव्य परिदृश्य पर अशोक वाजपेयी समग्र जीवन की काव्याभिव्यक्ति लेकर उपस्थित हैं । सच्चे अर्थ में उनकी कवितायें भारतीय हैं । भारतीय जीवन के विभिन्न संदर्भों को वे गहराई में पकडते हैं । इसी कारण उनकी कवितायें कुछ दार्शनिक अवश्य हैं पर यह दार्शनिकता ऊपर से थोपी गयी नहीं है। अरविंद त्रिपाठी के शब्दों में –"अशोक वाजपेयी की काव्यानुभूति की बनावट में सच्ची, खरी और एक सजग आधुनिक भारतीय मनुष्य की संवेदना का योग है जिसमें परंपरा का पुनरीक्षण और आधुनिकता की खोज दोनों साथ-साथ हैं । इस लिहाज से देखा जाये तो आजादी के इन पचास वर्षों की कविता का इतिहास जब लिखा जाएगा तो अशोक वाजपेयी उन थोड़े से हिन्दी कवियों में एक होंगे जिनकी कविता की रूह में भारतीयता की एक गहरी छाप मौजूद होगी । जहाँ आपको कविता की परंपरा का सूक्ष्म पुनरीक्षण , काव्यभाषा की परंपरा का अपने समय में अचूक प्रयोग , अपनी संस्कृति , कला और सभ्यता के प्रति एक सजग आधुनिक अनुराग और समर्पण की

[1] नंद भरद्वाज – सबद भेद- भगवत रावत की कविता –समालोचन 29-05-2012 (samalochan.blogspot.com)

आस्था मौजूद मिलेगी।"[1] उनके उल्लेखनीय काव्य संकलन हैं– शहर अब भी संभावना है (1966), तत्पुरुष (1989), कहीं नहीं वहीं (1991), बहुरी अकेला (1992), घास में दुबका आकाश (1994),आविन्यो (1995), जो नहीं है (1996) , अभी कुछ और (1998), आदि ।

2.3.6 विनोदकुमार शुक्ल

विनोद कुमार शुक्ल समकालीन हिन्दी कविता के वरिष्ट कवी हैं । वे विशेष रूप से अपनी विशिष्ट भाषिक बनावट और संवेदनात्मक गहराई के लिए जाने जाते हैं । उनकी एकदम भिन्न साहित्यक शैली ताज़ा झोंके की तरह पाठको को प्रभावित करते हैं । उनके प्रसिद्ध काव्य संकलन हैं – लगभग जय हिन्द (1971), वह आदमी चला गया गरम कोट पहिनकर विचार की तरह (1981), सब कुछ होना बचा रहेगा (1992), अतिरिक्त नहीं (2000) , , पचास कविताएँ (2001), कविता से लंबी कविता (2001), आकाश धरती को खटखटाता है (2006) कभी के बाद अभी (2012) आदि । विनोदकुमार शुक्ल मध्य वर्ग की आशा, निराश, कुण्ठा और पलायनवाद को गहाई से पकड कर लगभग जादूई यथार्थ के समान उसे मौलिक अभिव्यक्ति देने में सिद्ध हस्त हैं।

2.3.7 राजेश जोशी

राजेश जोशी समकालीन हिन्दी कविता के बहुचर्चित कवि है। उनकी यह सबसे बडी विशेषता है कि वे कविता को साधारण मनुष्य के बहुत नज़दीक लाए। नंदकिशोर नवल कहते हैं –"राजेश जोशी आज के कवियों में सबसे अधिक लोकप्रिय हैं। वे कवि-गोष्ठियों और कवि-सम्मेलनों में श्रोताओं पर छा जाते हैं । इसका कारण यह है कि उनके पास कुछ ऐसी कविताएँ हैं, जो प्रायः काव्य-गुणों से पूर्ण होते हुए भी

[1] अरविंद त्रिपाठी –प्रतिनिधि कविताएँ, अशोक वाजपेयी - पृ.सं 6

सहज संप्रेषणीय हैं।"[1] स्थानीयता को चिह्नित करना उत्तर औपनिवेशिक संदर्भ की सबसे बडी विशेषता है । अपने लोक्कल को चिह्नित करने की इस क़ूवत को नंदकिशोर नवल 'घरेलूपन' कहते हैं जो राजेश जोशी में भरपूर है । उनके प्रमुख काव्य संकलन हैं – एक दिन बोलेंगे पेड़(1980), मिट्टी का चेहरा, नेपथ्य में हँसी (1994), दो पंक्तियों के बीच(2000), चाँद की वर्तनी (2006) और ज़िद (2016) ।

2.3.8 मंगलेश डबराल

मंगलेश डबराल ठोस यथार्थ और सूक्ष्म संवेदना के कवि हैं । उनकी प्रारंभिक कविताओं में आक्रोश और अवसाद कुछ ज़्यादा है फिर वह धीरे –धीरे प्रतिरोधी चेतना में बदल जाता है । क्रान्ति चेतना वाले कवि होकर भी मंगलेश डबराल ने अपनी कविताओं को किसी विचार धारा की बैसाखी पर नहीं चढाया । नंदकिशोर नवल के शब्दों में –"मंगलेश तीन कारणों से महत्वपूर्ण कवि हैं । एक कारण तो यह है कि उन्होंने बड़ी सावधानी से अपनी कविताओं को विचारधारा के आरोपण से बचाया है; दूसरा कारण यह है कि उन्होने अनेक बार संकेतों से भी काम लिया है और तीसरा कारण यह है कि उन्होने कभी-कभी सबसे मुक्त होकर जीवन की कविता लिखी है, जो अपने आप में बेजोड़ है "[2] उनके प्रमुख काव्य संकलन हैं- पहाड़ पर लालटेन (1981), हम जो देखते है (1995), आवाज़ भी एक जगह है (2006) आदि ।

2.3.9 वीरेन डंगवाल

वीरेन डंगवाल समकालीन हिन्दी कविता का सशक्त हस्ताक्षर है । साधारण लोगों, जीव-जन्तुओं और वस्तुओं से बनी मनुष्यता का गुणगान तथा यथास्थिति में परिवर्तन की गहरी उम्मीद उनकी कविताओं में हम देख सकते हैं । राजकमल

[1] नंदकिशोर नवल - हिन्दी कविता अभी, बिल्कुल अभी – पृ.सं 76
[2] नंदकिशोर नवल – हिन्दी कविता अभी भिल्कुल अभी – पृ.सं -113

प्रकाशन द्वारा प्रकाशित उनके काव्य संकलन 'दुश्चक्र में स्रष्टा' के फ्लेप में कहा गया है कि -"वीरेन की कविता ने समाज के साधारण जनों और हाशियों पर स्थित जीवन के जो विलक्षण ब्यौरे और दृश्य हमें दिये हैं, वे कविता में और कविता के बाहर भी सबसे अधिक बेचैन करनेवाले दृश्य हैं । कविता के मार्फ़त वीरेन ने ऐसी बहुत-सी चीज़ों और उपस्थितियों के संसार का विमर्श निर्मित किया जो प्रायः ओझल और अनदेखी थीं । इस कविता में जनवादी परिवर्तन की मूल प्रतिज्ञा थी और उसकी बुनावट में ठेठ देसी क़िस्म के ख़ास और आम तत्सम और तद्भव क्लासिक और देशज अनुभवों की संस्लिष्टता थी । वीरेन की विलक्षण काव्य-दृष्टि पर्जन्य , वन्या, वरुण , द्यौस, जैसे वैदिक प्रतीकों और ऊँट, हाथी, गाय, मक्खी, समोसे, पपीते, इमली, जौसी अति लौकिक वस्तुओं की एक साथ शिनाख्त करती हुई अपने समय में एक ज़रूरी हस्तक्षेप करती है ।"[1] उनका पहला काव्य संकलन 'इसी दुनिया में' का प्रकाशन सन् 1991 में हुआ । उसके बाद दूसरा संकलन दुश्चक्र में स्रष्टा सन् 2000 में प्रकाशन में आया। इस संकलन केलिए उन्हें सन् 2004 का साहित्य अकादमी पुरस्कार भी प्राप्त हुआ था ।

2.3.10 ज्ञानेन्द्रपति

ज्ञानेन्द्रपति की कविताओं में उत्तर औपनिवेशिक संदर्भ अपनी सारी विविधताओं के साथ समाहित है, फिर भी देशज अस्मिता और आधुनिकीकरण के अंधाधुंत शोषण का विरोध उनकी कविताओं का प्रमुख स्वर है । राधाकृष्ण प्रकाशन द्वारा प्रकाशित उनके काव्य संकलन 'संशयात्मा' के फ्लेप में कहा गया है –"ज्ञानेन्द्रपति के कवि-कर्म ने कविता-प्रेमी हिन्दी जनता को आश्वस्त किया है कि जन मन को सींचने-सँवारने वाली और 'जन-शत्रुजीवन शत्रु' ताकतों से लोहा लेने वाली कविता-धारा आज के सुहावन भुलावन समय में भी सूखी नहीं है । कवि के पिछले संग्रह

[1] वीरेन डंगवाल – दुश्चक्र में स्रष्टा – फ्लेप से

'गंगातट' में स्थानीयता के जल-दर्पण में आज के वैश्विक समय की थाह मिली थी ,तो 'संश्यात्मा' का परिसर विश्व-विस्तृत है , जिसके केन्द्र में एक भारतीय अन्तःकरण है – करुणा से आप्लावित और सात्विक क्रोध से संतप्त " उनके छह काव्य संकलन और एक संचयन प्रकाशित हुआ है –आँख हाथ बनते हुए (1970), शब्द लिखने के लिए यह कागज़ बना है (1981), गंगातट(2000), संशयात्मा (2004), भिन्नसार (2006) , कवी ने कहा (संचयन -2007,) मनु को बनाती मनई (2013) । आदि ।

2.3.11 आलोकधन्वा

अपने एक मात्र काव्य संकलन के माध्यम से हिन्दी के चर्चित कवि बने आलोकधन्वा समकालीन हिन्दी कविता की प्रतिरोधी चेतना की सबसे अनुपम मिसाल है । प्रारंभिक समय में उनकी दो कविताएँ बहुत प्रसिद्ध हुई थी , 'गोली दाग़ो पोस्टर' और 'जनता का अदमी' ये दोनों कविताएँ नक्सलबाड़ी आन्दोलन से खूब प्रभावित थी। इस कारण से वे अपने आप को नक्सलबाड़ी क्रांति की देन कहते थे । उनके बारे में नंदकिशोर नवल का कहना है –" वे घुमक्कड़ कवि भी हैं, इसलिए जहाँ-जहाँ गए , काव्य-प्रेमियों को अपनी ये दो कविताएँ सुनाईं । चूँकि ये दोनों कविताएँ सही अर्थों में कविताएँ थीं और उसमें मात्र नक्सलबाड़ी की नारेबाजी नहीं थी , इसलिए उन्हें सुनकर सभी मंत्रमुग्ध रह गए। फलतः देखते–देखते उनका यश पूरे हिन्दी क्षेत्र में फैल गया और उसमें उनकी उक्त दोनों कविताएँ गूँजने लगीं । आश्चर्य नहीं कि आलोकजी अपने को नक्सलबाड़ी की देन कहते हैं।"[1] सच्चे अर्थ में आलोकधन्वा जन पक्षधर कवि थे उनके एक मात्र काव्य संकलन 'दुनिया रोज़ बनती है' निकलने के पूर्व ही वे हिन्दी पाठकों के दिल में रच बसने लगे थे ।

[1] नंदकिशोर नवल – हिन्दी कविता अभी ,बिल्कुल अभी – पृ.सं 130

2.3.12 मनमोहन

मनमोहन मुक्तिबोध के अंदाज़ वाले कवि है । असद ज़ैदी उन्हें मुक्तिबोधियन लैंडस्केप के कवी पुकारते हैं । आलोकधन्वा की तरह ही अपने एक मात्र काव्य संकलन के माध्यम से वे समकालीन कविता में काफी चर्चित हुए है । असद ज़ैदी कहते हैं – "मनमोहन अपनी पीढ़ी के सबसे ज़्यादा चिन्तामग्न, विचारशील और नैतिक रूप से अत्यन्त शिक्षित और सावधान कवि हैं। एक मुक्तिबोधीय पीडा और महान अपराधबोध उनके काव्य संस्कार में है, इन्हें एक रचनात्मक दौलत में बदलने की प्रतिभा और तौफ़ीक़ उनके पास है और इसका इस्तेमाल उन्होंने बड़ी विनम्रता, वस्तुनिष्ठता और सतर्कता से किया है । मन मोहन की कविता में एक 'गोपनीय आँसू ' और एक 'कठिन निष्कर्ष' है। इन दो चीज़ों को समझना आज अपने समय में कविता और समाज के, राजनीति और विचार के और, अंततः रचना और आलोचना के रिशते को समझना है।"[1] उनका एक मात्र काव्य संकलन 'जिल्लत की रोटी' 2006 में प्रकाशित हुआ था ।

2.3.13 उदय प्रकाश

उदय प्रकाश हिन्दी के चर्चित कवि , कथाकार ,पत्रकार और फिल्मकार हैं । कवि के रूप में उनकी यह सबसे बड़ी विशेषता है कि वे क्रान्ति चेतना को अतिक्रान्तिकारी होकर नहीं बल्कि लोकतंत्रिक रूप से फैलाने की उमंग रखते हैं । लगातार आत्मकेन्द्रित होती जा रही दुनिया में उनकी कविता प्रतिरोध के लोकतांत्रिक मोर्चा अख़्तियार करती हुई दिखाई देती है । उनकी कविताओं में खुली जीवंत बहस प्रारंभिक समय से लेकर लगातार बरकरार रही है । उनके प्रमुख काव्य संकलन हैं –

[1] असद ज़ैदी - जिल्लत की रोटी – फ्लाप से

सुनो कारिगर (1980), अबूत्तर कबूत्तर (1984), रात में हारमोनियम (1998), एक भाषा हुआ करती है (2009) आदि ।

2.3.14 अरुण कमल

अरुण कमल प्रगतिशील विचारधारा संपन्न , सहज शैली के मशहूर कवि हैं। उनकी कविताएँ वैचारिकता और भावात्मकता के ताने बाने से बुनी हैं । प्रेमरंजन अनिमेष के शब्दों में –"अरुण कमल की कविता की बहुत बड़ी विशेषता वह अपनत्व है जो बहुत हद तक उनके व्यक्तित्व का ही हिस्सा है । उनकी कविताओं से होकर गुज़रना एक अत्यन्त आत्मीय स्वजन के साथ एक अविस्मरणीय यात्रा है । यह अपनापा उनके कवित्व और व्यक्तित्व दोंनों को एक साथ गहन और पारदर्शी बनाता है जो एक दुर्लभ संयोग है । तर्क और विचार भी उनकी कविता में आते हैं तो अत्यन्त आत्मीय और मानवीय होकर " [1] अब तक उनके पाँच काव्य संकलन निकल चुके है , वे हैं – अपनी केवल धार (1980) , सबूत (1989), नये इलाके में (1996), पुतली में संसार (2004) , मैं वो शंख महाशंख (2012) ।

2.3.15 एकांन्त श्रीवास्तव

हिन्दी कविता को ग्रामीण संसक्ति से संपन्न बनाने वाले कवियों में एकान्त श्रीवासत्व शीर्षस्त स्थान रखते हैं । जीवनानुभव के ज़मीनी जुटाव उनके यहाँ सघन है । उनकी कविताओं में ठेठ देहाती लोक संवेदना और लोक जीवन की रंगत पर्याप्त विविधता लेकर उपस्थित है । उनकी कविता का स्थापत्य अन्न ,मिट्टि और फूल से बना है । अब तक उनके तीन काव्य संकलन प्रकाशित हो चुके है, वे हैं – अन्न है मेरे शब्द (1994), मिट्टी से कहूँगा धन्यवाद (2000) और बीज से फूल तक (2003), नागकेसर का देश यह ।

[1] प्रेमरंजन अनिमेष –प्रतिनिधि कविताएँ , अरुण कमल – भूमिका –पृ.सं 5

2.3.16 कुमार अंबुज

कुमार अंबुज सच्चे अर्थ में जनपक्षधर कवि हैं । समाज को एकरूपात्मक बना रहे भूमंडलीय प्रायोजित वर्चस्व के प्रतिपक्ष में खडे हो कर वे लगातार हमें आगाह करते रहते हैं। उनके बारे में विष्णु खरे कहते हैं –" कुमार अंबुज विशिष्टतः निम्न मध्यवर्ग, लिहाज़ा गाँव, कस्बे, छोटे शहर या लघुनगर के, और इस तरह इस देश के बहुमत के कवि हैं । उनकी जड़ें उसी में है । उनके यहाँ क़स्बों-शहरों के अनेक चित्र हैं, उनकी हर किस्म की यादें हैं, वे बार-बार वहाँ लौटते हैं, यह जानते हुए भी कि वह भी बदल रहे हैं और वे भी बदल रहे हैं । यही वजह है कि उनका अतीत –राग रुग्ण नहीं रहता, एक चिन्ता –भरी स्नेह-भवना में बदल जाता है । अंबुज की उपलब्धि अपने अपने हर शहर-कस्बे को एक ऐसी सार्विकता देने की रही है कि हमें भी अपने कैशोर्य-युवावस्था के घर-मोहल्ले, रास्ते, बाग, पेड़, पुलिया, वीरान इलाके, आवाज़ें, सारे पहर, रंग, गंध, इमारतें, यार-दोस्त, दिलकुश मुहब्बतें वगैरह बेसाख़्ता याद आने लगते हैं।"[1] इस प्रकार कुमार अंबुज की कविताई सहज रूप से ही हर एकरूपात्मकता के ढाँचे को तोडते हुए नज़र आती हैं। उनके प्रसिद्ध काव्य संकल हैं –किवाड़ (1992) क्रूरता (1996), अनन्तिम(1998), अमीरी रेखा (2011), कवि ने कहा (2012) ।

2.3.17 अग्निशेखर

हिन्दी कविता में कश्मीर से विस्थापित लोगों की पीडा को अग्निशेखर के सिवा कोई दूसरा कवि इतनी तलख़ी से प्रस्तुत नहीं कर पाया है । अपनी सरज़मीन से लगातार विस्थापित होने की कश्मीरी जनता की कसक भरी नियति को जितनी गहरी अभिव्यक्ति उनसे मिली है उतनी अन्यत्र कहीं नहीं मिली । कश्मीर में जन्मकर

[1] विष्णु खरे - प्रतिनिधि कविताएँ , कुमार अम्बुज – भूमिका

कशमीरी में लिखने के बजाय उन्होने हिन्दी भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया । उनके अब तक चार काव्य संकलन प्रकाशित हो चुके हैं ,वे हैं – किसी भी समय (1992), मुझसे छीन ली गयी है मेरी नदी (1996), कालवृक्ष की छाया में (2006) और जवहर टनल (2009) ।

2.3.18 पवन करण

पवन करण हिन्दी कविता के युवा कवियों में विशिष्ट स्थान रखते हैं । हिन्दी कविता में स्त्री विमर्श को उन्होने नया आयाम दिया । उन्होंने अपनी कविताओं द्वारा अपने मन में रची बसी स्त्री को आवाज़ दी । पवन करण के बारे में डॉ .के. जी प्रभाकरन का कहना है – "समकालीन हिन्दी कविता का स्त्री विमर्श स्त्री लेखन के दायरे में सीमित रहा । उसके केन्द्र में घर, परिवार और दफ्तर रहे । घर की उपेक्षित लड़की, परिवार की तिरस्कृत एवं पीडित पत्नी और दफ्तर में पुरुष के शोषण की शिकार नारी स्त्री विमर्श के चिर परिचित चेहरे रहे। अपनी शक्ति, साहस एवं विद्रोह चेतना के बावजूद स्त्री अपनी परंपरा पोषित छवि के पिंजरे में बंदी रही । पवन करण ने इस नारी बिंब को तोडा । नारी के एक नवीन बिंब की प्रतिष्ठा करते हुए उन्होने स्त्री विमर्श को नई संवेदना एवं नए आयाम दिये ।"[1] उन के प्रमुख काव्य संकलन है- इस तरह मैं (2000) स्त्री मेरे भीतर (2004), अस्पताल के बाहर टेलिफोन (2009), कहना नहीं आता (2012) , कोट के बाजू में बटन (2013), आदी ।

2.3.19 विष्णु नागर

विष्णु नागर की कविताएँ समकालीन जीवन के हर विद्रुपताओं पर करारी चोट करने वाली है । अनका व्यंग्य इतना नुकीला होता है कि उसकी मार दिल में गहराई तक धस जाती है । किताबघर द्वारा प्रकाशित उनके 'कवी ने कहा' संकलन के फ्लेप

[1] डॉ. के जी प्रभाकरन – कवियों के बहाने वर्तमान पर बहस – पृ.सं 48

में कहा गया है-"उनकी कविता से गुजरना छोटी कविता की ताकत से भी गुजरना है जो अपनी पीढी में सबसे ज़्यादा उन्होने लिखी है । उनकी कविता से गुजरना व्यग्य और करुणा की ताकत से गुज़रना है । उनकी कविता से गुजरना अपने समय की राजनीति से साहसपूर्ण साक्षात्कार करना है । उनकी कविता से गुजरना विभिन्न शिल्पों, अनुभवों, संरचनाओं से गुजरना है और इस अहसास से गुजरना है कि विष्णु नागर सचमुच अपनी तरह के अलग कवि है ।"[1] उनके प्रसिद्ध काव्य संकलन है – तालाब में डूबी छह लड़कियाँ, संसार बदल जाएगा, बच्चे, पिता और माँ, कुछ चीज़ें कभी खोईं नहीं तथा हँसने की तरह रोना आदि ।

2.3.20 अनामिका

समकालीन स्त्री जीवन की जीवंतता को अनामिका से जो अभिव्यक्ति मिली है उतनी हिन्दी साहित्य में अन्यत्र विरले ही मिल पाई है । स्त्री जीवन के संघर्ष को दैनंदिन जीवन की मामूली सी घटना क्रमों के बीच से चीन्हती, उद्घाटित करती अनामिका जी की यह सब से बडी विशेषता है कि वे इन संदर्भों को कभी-कभी बिना शब्दों में उतारे ही कविता बना देती है । उनकी कविताओं में शब्दों के बीच रूपायित खाली जगह या स्पेइस बहुत कुछ अनकहे को कह जाती हैं । अनामिका जी की जीवन दृष्टि की यह सबसे बडी विशेषता है कि वह स्त्री जीवन तक ही सीमित नहीं रही थी । सत्य को समग्रता में समझने की ईमानदारी उसमें कूट-कूट कर भरी है । उनके प्रमुख काव्य संकलन हैं – गलत पत्ते की चिट्ठी, बीजाक्षर, समय के शहर में, अनुष्टुप, कविता में औरत, खुरदरी हथेलियाँ, दूब-धान आदि ।

[1] विष्णु नागर - कवि ने कहा: चुनी हुई कविताएँ - फ्लेप से

2.3.21 कात्यायनी

समकालीन कविता के सशक्त नारी स्वर हैं कात्यायनी । वजूद की पूरी ऊष्मा से मंडित होकर नारी के शब्द को पौरुषपूर्ण समय के प्रतिवर्चस्व के रूप में शिद्दत से उभारने में वे सिद्धहस्त हैं । सदियों से उत्पीडित नारी जिस अनुकूलन की वजह पितृसत्ता के शब्द को उधार लेती है कात्यायनी उन शब्दों के वर्चस्व को तोड़ने की मंशा रखती हैं । समकालीन समय के बृहद वर्चस्ववादी मुहिम में कात्यायनी हाशिये के पक्ष में खड़ी होकर कविता को प्रतिआख्यान के रूप में उभार कर अपनी जनपक्षधरता को ठोस धरातल पर स्थापित करती है । उनके प्रमुख काव्य संकलन हैं – चेहरे पर आँच, सात भाइयों के बीच चम्पा , इस पौरुषपूर्ण समय में , जादू नहीं कविता , फुटपाथ पर कुर्सी, राख अँधेरे की बारिश में आदि ।

2.3.22 नीलेश रघुवंशी

नीलेश रघुवंशी की कविताओं से गुज़रते हुए यह ऐहसास होता है कि हमारे दैनिक जीवन में कविता किस प्रकार छिपी है । घर-परिवार, पास-पड़ोस, दैनिक जीवन और समाज आदि से जुडी गहरी संवेदनाओं को अभिव्यक्ति देने में वे सिद्धहस्त हैं । उनकी पारिवारिक संवेदनाओं से जुड़ी कवितायें अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। शहरी जीवन की कृत्रिमता के बीच गाँव और घर का स्मृतिबोध नीलेश रघुवंशी में सघन है । उनकी कवितायें साधारण, परिचित और आत्मीय भाषा में जीवन के दृश्यों को खोजती हैं, इसलिए उनमें माता-पिता , दादा-दादी, भाई-बहन के प्रति प्रेम भरी स्मृतियों, व्यवहरों, क्रियाकलापों, आचरणों आदि को गहरी संवेदना के साथ अभिव्यक्ति मिली है। उनके प्रमुख काव्य संकल हैं– घर निकासी (1997), पानी का स्वाद (2004), खिड़की खुलने के बाद (2017) आदी ।

2.3.23 निर्मला पुतुल

संताली आदिवासी कवयित्री निर्मला पुतुल ने समकालीन कविता में अपनी अलग पहचान निर्मित की है । आदिवासी जीवन की विभिन्न स्थितियों को निर्मला पुतुल बेहद संवेदनात्मक धरातल पर कविता में उतार देती हैं। साहित्यकार होने के साथ वे एक सामाजिक कार्यकर्ता भी हैं । निर्मला पुतुल की कविताएँ आदिवासी अस्मिता तक ही सीमित नहीं रहीं । सदियों से पुरुष वर्चस्ववाद द्वारा सताये जाने वाले स्त्री मानस पूरे आक्रोश के साथ निर्मला पुतुल की कविताओं में अभिव्यक्ति पाई है । उनके उल्लेखनीय काव्य संग्रह हैं – नगाडे की तरह बजते शब्द, अपने घर की तलाश में आदि ।

2.3.24 ओमप्रकाश वाल्मीकि

ओमप्रकाश वाल्मीकी की कवितायें समकालीन समय में गुप्त एवं प्रत्यक्ष रूप से सक्रीय मनुवादी परंपरा के बिंबों पर सीधे चोट करती हैं । भारतीय संविधान ने हर मनुष्य जो बराबरी का दर्जा दिया है पर वह समकालीन समय में लगातार खोखला होता जा रहा है । ऐसे में कवि लगातार आक्रोश से तिल मिला उठते हैं । वर्चस्ववाद से लडने के लिए अन्टोनियो ग्रांशी ने जिस वार ऑफ पोजिशन की वक्कालत की है वाल्मीकी अपनी कविताओं में उसी वार ऑफ पोजिशन में हैं । वहाँ खडे हो कर वे लगातार कविता में प्रतिवर्चस्व को रूपाकार देते हैं । सदियों का संताप, अब और नहीं, बस बहुत हो चुका आदि उनके चर्चित काव्य संकल है ।

2.4 समकालीन हिन्दी कविता की बहुस्वरता

समकालीन कविता के उत्तर औपनिवेशिक संदर्भ की ख़ास पहचान उसकी बहुस्वरता है। हर केन्द्रीकृत वर्चस्व का प्रतिवर्चस्व रचते हुए वह हाशिये की अस्मिता को बुलंद कर रहीं है । इसी कारण समकालीन कविता को अस्मिता विमर्श की कविता भी कहा जा सकता है । वैसे तो आधुनिकता के प्ररंभ के साथ मानवतावाद और जनतातंत्रिक प्रणाली मध्यकाल से अलगाव के तौर पर उभरा था। फिर भी उसमें महान अख्यायिकाओं (Meta narrative)का वर्चस्व बदस्तूर था । समकालीन समय दरअसल इस मेट्टानरेटीव के टूटने का समय है । चले आ रहे मोनोलॉग को वह डयलॉग में रणनीति की तरह बदल रही है । इस के चलते समकालीन समय में अब तक मूक रहे हाशिये का स्वर मुखर हो रहे हैं । स्त्री, दलित, आदिवासी, किन्नर, परिस्थिति, वृद्ध, बाल आदि अनगिनत स्वर आज वर्चस्व के हर बन्धन को तोड कर समकालीन काव्य परिदृश्य पर अपनी उपस्थिति शिद्धत से जता रहीं है।

2.4.1 कविता के राजनीतिक सरोकार

राजनीति का संदर्भ आज किसी प्रकार की शासन प्रणाली तक ही सीमित नहीं है । सामाजिक जीवन के हर स्तर आज राजनीतिक है । आधुनिक होने के क्रम में भारतीयता जो लोकतांत्रिक जीवन प्रणाली को खडी की थी उसकी सत्तात्मक स्थिति बाज़ार के वर्चस्व की समकालीन दौर में लगातार क्षरित होती जा रही है । विजय कुमार कहते हैं – "वैश्वीकरण का अर्थ अब केवल पश्चिमीकरण होने लगा है । इस प्रक्रिया के नीयोजकों के हित जनतान्त्रिक रूपों , क्षेत्रीय संस्कृतियों या परम्परागत विशिष्टताओं के हितों के सीधे-सीधे खिलाफ हैं । भारतीय समाज में तो ग्लोबलाइजेशन, खुलेपन या उदारीकरण का अर्थ कुल मिलाकर इस बात से ज्यादा नहीं है कि हमारी निर्भरता विदेशी पूँजी, आयातित टेक्नॉलाजी, हथियारों और विचारों

पर बढ़ती जाये ।"[1] ऐसी स्थिति में लोकतांत्रिक व्यवस्था की क्या अहमियत शेष रह जायेगी ? बहुस्वरता को बढावा देने वाली भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था की स्थिति आज आमूलचूल रूप से परिवर्तित हुई है । समकालीन भारतीय राजनीतिक संदर्भ में पनप रही अलोकतांत्रिक प्रणाली की ओर इशारा करते हुए बद्री नारायण कहते हैं – "इस मेट्रोपोल स्वाद ने 'अन्य स्वादों' यथा अनेक स्थानीय स्वादों का शोषण एवं नाश किया । शहरों से दूरस्थ की बड़ी आबादी ग्रामीण बाजार में तब्दील हो गयी । अपने को अग्रगामी एवं अन्य को पिछलग्गु बनाने के लिए इस मेट्रोपोल मानसिकता ने बाकी सबको क्षेत्रीय / प्रादेशिक (प्रोविन्शियल) बताकर उन्हें प्रतिगामी सिद्ध कर अपने नेतृत्व को स्थापित करने का सिविलाइजिंग मिशन तेज़ कर दिया । इसी प्रक्रिया में इतर स्थानीय, क्षेत्रीय रुचियों, रंगों एवं स्वादों में से कुछ को बाजार ने अपने उत्पादों में हजम कर लिया । शेष को स्वायत्त, स्वच्छता एवं आभिजात्यता के नाम पर या तो नकार दिया या मार दिया । इस महानगरीय बोध ने संस्कृति एवं साहित्य के क्षेत्र में अपने बोध से इतर जो 'अजूबा,आकर्षक एवं रंगीन' लगा, उसे अपने सन्दर्भ और सामाजिक टकरावों की प्रतिक्रिया से काटकर या तो सजावट के सांस्कृतिक उत्पाद के रूप में व्याख्यायित किया या उन्हें दमित कर दिया।"[2] ऐसी स्थिति में कविता लोकतंत्र विमर्श को किस धरातल व स्थल से उठायेगी । सहित्य, कला और संस्कृति के सामने आज यह सबसे बड़ी समस्या है।

आर्किमिडीज ने एक बार कहा था कि पृथ्वी के बाहर कहीं जगह मिले तो वह पृथ्वी को पलट देगा, पर ऐसा कोई जगह कहाँ पाएँगे, यही समस्या है । समकालीन लोकतंत्र विमर्श के लिए भी अलोकतांत्रिक छवि संसार में जगह व स्पेस शेष नहीं छोडा है । राजेश जोशी कहते हैं। -"90 के बाद के इस पूरे समय में लिखी जा रही

[1] विजय कुमार – कविता की संगत - पृ.सं 33
[2] बद्री नारायण - प्रतिरोध की संस्कृति – पृ.सं 36

कविता के सामने सम्भवतः यह केन्द्रीय प्रशन है । इसी का उत्तर ढूँढने की कोशिश हमारे समय की कविता कर रही है और उसकी सारी हिकमतें इसी प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश हैं । मुझे लगता है कि जिसे ज्ञानाश्रयी समाज का नॉलेज बेस्ड सोसाइटी कहा जा रहा है वह सूचनाश्रयी समाज है , इन्फार्मेशन बेस्ड सोसाइटी है । इसने सूचना की शक्ति को ब्रह्म शक्ति मान लिया है । वह सूचना को ज्ञान का स्थानापन्न मानने और मनवाने की जिद ठाने है । समकालीन कविता सूचनाओं के वर्चस्व की जगह जीवन की अलक्षित विवरणों और जीवन के छोटे-छोटे आख्यानों को रचकर इस ज्ञानाश्रयी या सूचनाश्रयी समाज का ही एक प्रतिआख्यान रचने की कोशिश कर रही है । इतना तो मानना ही होगा कि इस कविता ने जीवन द्रव्य के विलुप्त होते जा रहे स्रोतों को पुनः तलाशने और जीवित करने की कोशिश की है । इसी कोशिश में वह वर्चुअल रियालिटी को विश्वसनीय बनाने की कोशिश करने के बजाय जीवन के छोटे-छोटे प्रसंगों को अपनी काव्य वस्तु बनाकर आभासी यथार्थ के बरक्स एक वास्तविक जीवन का यथार्थ रचना चाहती है।"[1] दरअसल अलोकतांत्रिक प्रणालियों का प्रतिआख्यान ही समकालीन लोकतंत्र विमर्श का वह स्पेस है जहाँ से साहित्य अपने राजनैतिक सरोकार स्थापित कर सकते हैं । विमल कुमार कहते हैं –

"मूँगफली बेचकर
यह आदमी आज कहाँ जायेगा
किसी अखबार को नहीं मालूम
वह आज रात अपनी पत्नी और बच्चों से कैसे मिलेगा
यह सवाल नहीं पूछा जा सकता संसद में
इसका उत्तर इतना कठिन है
कि इंटरनेट पर भी हल नहीं है

[1] राजेश जोशी – एक कवि की दूसरी नोट बुक , समकालीनता और साहित्य – पृ.सं 40

मोबाइल फोन पर किसी को मैसेज देकर
आप नहीं जान सकते
अपने शहर का दुख"[1]

समकालीन समय इतना पेचीदा है कि सीधे –सीधे सवाल और जवाब की गूँजाइश लगभग खतम हो चुकी है। प्रतिवर्चस्व भी समकालीन लोकतंत्र विमर्श में सीधे-सीधे रूपाकार ग्रहण नहीं कर पा रहा है । व्यक्ति के पीछे अगर कोई वोट बैंक है तो उसकी पहचान रूपायित होंगे नहीं तो वह इत्यादि में बदलने के लिए अभिशप्त है । साथ ही सांस्कृति राष्ट्रवाद की बृहद छवियाँ भी लगातार सोशल मीडिया और अन्य माध्यमों से प्रसारित होती रहती है, इन सब के बीच बाज़ार अपनी अनस्यूतता बरकरार रख रही है । लीलाधर जगूडी कहते हैं – "पहले जो व्यक्ति विशेष होता था वह असामान्य होता था । उस असामान्य की असाधारणता को कविता अपना विषय बनाती थी । अब कविता सामान्य और साधारण से भी परे 'मामूली' को अपना विषय बनाती है । पहले की और आज की कविता में यह लगभग एक ध्रुवीय अंतर है । अब कविता में नायक नहीं होते , व्यक्ति होते हैं । कोई स्थापित या लोकप्रिय 'कथा' नहीं होती । अनुभव और अनुभूति का आवेग ही अपने कथानक को रचता चलता है । घटनाएँ और स्थितियाँ ही बिम्ब बन जाती।"[2] इस प्रकार मामूली के पक्षधऱ होकर बृहद वर्चस्व के प्रतिआख्यान और प्रतिवर्चस्व को अनुभूती की सारी गहाईयों के साथ अभिव्यक्ति देना समकालीन कविता की राजनीति तय करती है ।

[1] विमल कुमार - पानी का दुखडा – पृ.सं 23
[2] लीलाधर जगूडी – महाकाव्य के बिना – पृ.सं 25

2.4.2 स्त्री कविता

मनुष्य के जैविक उद्विकास क्रम में प्रारंभिक स्तर पर मानव के ऊपर मानवी का वर्चस्व स्थापित हुआ था । बहुत से नृतत्वशास्त्रियों का मानना है कि आदिम समाज मातृसत्तात्मक ही रहा था पर निजी संपत्ति के आविर्भाव के साथ वह हाशिये की ओर घिसने लगा था । ऐतिहासिक क्रम में वह उपभोग की वस्तु बनकर घर की चार दिवारी के भीतर कैद होती गयी । समकालीन समय में भी स्त्री की स्थिति में कोई खासा परिवर्तन नहीं आया है । सिमॉन द बोउवार कहती हैं – "औरत का विद्रोह आज भी महज एक प्रतीकात्मक आंदोलन और उपद्रव बनकर ही रह गया । इन तमाम हलचलों और आन्दोलनों से कुछ हासिल नहीं हुआ । स्त्रियों को तो वही मिला जो पुरुष ने इच्छा से देना चाहा । इस स्थिति में पुरुष दाता के रूप में और औरत ग्रहिता के रूप में हमारे सामने आई । इसका प्रमुख कारण औरतों के पास अपने आप को एक इकाई के रूप में संगठित करने के ठोस साधनों का अभाव है । उनका न कोई अतीत है और न इतिहास, न अपना कोई धर्म और न ही सर्वहारा की तरह ठोस क्रिया-कलापों का एक संगठित जगत।"[1] ऐसे में साहित्य आधी दुनिया के इस सच्च को पूरी ईमानदारी से समाज में वर्चस्व प्राप्त रवैयों के बरअक्स उभारता हैं और इसी कारण साहित्य में स्त्री के प्रतिवर्चस्वी स्वर में इन्कार का तेवर बदस्तूर है । विनय विश्वास कहते हैं – "आशय यह है कि स्त्री पुरुष के लिए तरह-तगह की वस्तुएँ बन चुकी है । बस ! अब और नहीं । वह कोई भी वस्तु बनने से इन्कार करती है । स्त्रीत्व के बारे में ज़रूरी सवाल उठाती है । यह स्त्री आधुनिक है । कपडों में परिवर्तन –भर के कारण चमकने वाली आधुनिक नहीं । आधुनिक है – संवेदनशील जागरूकता और पुरानेपन छोड़ने वाले साहस के कारण । अपनी स्थिति को पहचानकर उसमें अपेक्षित

[1] सीमोन द बोउवार - (अनु.प्रभा खेतान) – स्त्री उपेक्षिता - पृ.सं 25

परिवर्तन करने की तड़प के कारण । असुविधाजनक सवाल उठाने वाली दृढ़ता के कारण ।"[1]

नारीवादी अन्दोलनों के विभिन्न लहरों के साथ इन्कार के तेवर में बदलाव तो आता रहा है । पहले रैडिक्कल फेमिनिज़म में यह इन्कार का स्वर इतना तीक्ष्ण था कि वह पुरुष वर्चस्व को उलटकर अपने वर्चस्व को स्थापित करना चाहता था । पर धीरे –धीरे नारीवादी आन्दोलन अपनी वयस्कता पाती गयी और अब वह लोकतान्त्रिक दृष्टि से समाज में स्त्री के वजूद को स्थापित करने की मुहिम चला रही है । इस का मतलब यह नहीं है कि स्त्री लेखन इन्कार के तेवर से मुक्त हुआ है । इन्कार का तेवर तो प्रतिआख्यान के लिए बेहद ज़रूरी ही है । इसी कारण समकालीन कविता इस प्रतिआख्यान को बेहद समझदारी के साथ बुलंद कर रही है । कात्यायनी कहती हैं –

"वे
हमें
हमारे वजूद की
याद दिलाते हैं ।
एहसास कराते हैं
एक वजूद वाली औरत को
प्यार करने का,
उस पर क़ाबू पाने का
मज़ा ही कुछ और है ।"[2]

[1] विनय विश्वास - आज की कविता - पृ.सं 124
[2] कात्यायनी - जादू नहीं कविता – पृ.सं - 87

इस प्रकार समकालीन कविता में स्त्री लेखन बेहद समझदारी के साथ अपने समय में हस्तक्षेप कर रहा है । समकालीन कविता में सक्रीय कवयित्रियों में प्रमुख हैं – अनामिका , गगन गिल, कात्यायनी, सविता सिंह, अर्चना वर्मा, निर्मला गर्ग, निलेश रघुवंशी, निर्मला पुतुल, वंदना देवेन्द्र, रंजना जायसवाल आदि । इन कवयित्रियों की कविताएँ वर्चस्व की हर छवियों को तोड़कर स्त्री के वजूद को पूरी ईमानदारी के साथ अभिव्यक्ति दे रही हैं । ग्लैमरस दुनिया के वर्चस्व छवियों के बीच में यथार्थ और अयथार्थ की सही पहचान उन्हें है । इस समझदारी के कारण ही समकालीन हिन्दी कविता में स्त्री लेखन नारी विमर्श की नई बुलंदियों को छू रहा है ।

2.4.3 दलित कविता

दलित सदियों से भारतीय जाति व्यवस्था के शिकार होते आ रहे हैं और अब भी उनकी स्थिति में आशाजनक परिवर्तन नहीं आया है । दलित शब्द का मतलब है – जिसके दलन या दमन हुआ है, पीडित, रौंदा गया, शोषित, खिन्न, उदास, खंडित, दबाया गया आदि। बहुत सारे नकारात्मक सामाजिक अर्थ संदर्भ को भी दलित शब्द अपने में प्रतिनिधित्व करता है। 2011 की जनगणना के आधार पर भारत की जनसंख्या में लगभग 16.6 प्रतिशत या 20.14 करोड आबादी दलितों की है ।[1] संविधान ने उन्हें आरक्षण की बहुत सारी सुविधायें मुहय्या करायी है । इस के बावजूद भी उनकी सामाजिक जीवन स्तर आज भी बहुत सारी वर्जनाओं को बीच निम्न स्थान पर ही बनी हुई है ।

समकालीन हिन्दी दलित कविता में वर्चस्व के सदियों से चले आ रहे इन रवैयों के प्रति आक्रोश का तेवर बदस्तूर है । दलित साहित्य के बारे में मोहनदास नैमिशराय का कथन है-"शोषक वर्ग के खिलाफ अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करते हुए समाज

[1] Times of India - Half of India's dalit population lives in 4 states - May 2, 2013

में समता, बन्धुता तथा मैत्री की स्थापना करना ही दलित साहित्य का उद्देश्य है।"[1] पर यह उद्देश्य प्रतिवर्चस्व के व्यापक मुहिम के बगैर संपन्न नही होने वाला है इसका पूर्ण यकीन भी दलित कवियों को हैं। इसी कारण दलित साहित्य में आक्रोश एवं नकार का स्वर सर्वप्रमुख बना हुआ है । सुशीला टाकभौरे के अनुसार – "आक्रोश और नकार दलित साहित्य के दो मुख्य मुद्दे हैं । संपूर्ण दलित समाज की स्थिति एक जैसी है । उनके दुख-संताप एक जैसे है। परिणाम स्वरूप सभी दलित साहित्यकारों के लेखन में, भावना-अभिव्यक्ति में एक जैसे विषय है , एक जैसे समान अनुभव है । अपने अनुभवों को दलित साहित्यकार अपने ढंग से अपनी भाषा- शैली में अपने कौशल्य के साथ लिख रहे हैं । उनकी कविता, कहानी, उपन्यास, आत्मकथा, संस्मरण आदि सभी की भावभूमी लगभग समानता लिए हुए है । एक जैसी अनुभूति और भावबोध दलित जीवन में घटित सत्य घटनाओं पर आधारित है, इसलिए ये पूर्णतः प्रामाणिक है ।"[2]

इतिहास ने हमेशा ही मनुष्य को हम और वे के खेमे में बाँटा है । मानवीयता की सारी परिभाषायें सिर्फ 'हम' के लिए रूपायित हुई है 'वे' हमेशा मानवीयता के इन सारी परिकल्पनाओं के बाहर रहे है । भारत में सदियों से दलित समाज मानवीयता के हर परिकल्पनाओं के बाहर ज़िन्दगी गुज़ारने के लिए अभिशप्त हैं । समकालीन संदर्भ में भी बहुत सारी ऐसी वर्जनायें बदस्तूर हैं जो दलितों को कभी 'हम' में शामिल होने नही देते। सुशीला टाकभौरे कहती हैं –

"खुल गये है दरवाजे
सदियों से बन्द ,
विषमता ,शोषण के अंधेरे में थे हम,
देख ली है रोशनी हमने ।

[1] मोहनदास नैमिशराय – नया पथ जुलाई –सितंबर – पृ.सं 104-105
[2] सुशीला टाकभौरे – जन विकल्प - जनवरी 2013 – पृ.सं 14

अब न होंगे फिर ये दरवाजे बन्द
राह दिखा रहे हैं, हमारे अपने हमदर्द
दिलों पर देकर दस्तक
बढ़ चला है कारवां
क्रांति की दिशा में । "[1]

जो समाज दलितों को 'हम' में शामिल नहीं करते हैं उसके प्रतिवर्चस्व में दलित आज अपना 'हम' रूपाइत कर रहा है । सदियों से ओझल रखे गये अपने इतिहास को इस 'हम' के माध्यम से पुनर्गढ़ित करके वे वर्चस्व प्रणालियों के हर मुहिम का प्रतिवर्चस्व रच रहे हैं । डॉ. आर. शशिधरन कहते हैं –"दलित साहित्य सामाजिक विषमता के विरुद्ध एक आंदोलन है और समाज में न्याय एवं राष्ट्रीय एकता का समर्थक है। यह मानवाधिकारों से वंचित भूखे और प्रताडित जनसमाज की जहाँ पुकार है वहीं उनकी समस्याओं के समाधान का हथियार भी है । दलित साहित्य समाज में अपमान की ज़िन्दगी गुज़र करनेवाले तिरस्कृत जनों की गुहार है और उनको साहस तथा धैर्य देनेवाली ललकार भी है ।"[2]

संक्षेप में कहा जा सकता है हिन्दी में प्रथम दलित कविता तो हीराडोम की 'अछूत की शिकायत है ' जिस में उन्होंने दलित जीवन के यथार्थ को गहराई में अभिव्यक्त करने के साथ प्रतिरोधी चेतना को भी सशक्त रूप से उभारा था । समकालीन कविता आज उसी हीराडोम की विरासत को बखूबी निभा रही है । समकालीन दलित कवियों में उल्लेखनीय है – ओमप्रकाश वाल्मीकी, जयप्रकाश कर्दम, असंग घोष, मलखन सिंह, कंवल भारती, मोहनदास नैमिशराय, रजनी तिलक, सुशीला टाकभौरे, मुकेश मानस , हरपाल सिंह 'अरुष, विपिन बिहारी, सूरज पाल चौहान आदि । ये कवियाँ अन्तोनियो ग्रांशि ने जिसे वार ऑफ पोजिशन कहा था उसी

[1] सुशीला टाकभौरे – जन विकल्प – जनवरी 2013 – पृ.सं 40
[2] डॉ . आर शशिधरन – जन विकल्प – जनवरी 2013 – पृ.सं 17

वार ऑफ पोजिशन में है । लगातार समाज में उभर रहे मनुवादि वर्चस्वशाली प्रतीकों एवं बिंबों से भिड़कर ये कवि मानवता को पुनःस्थापित करने की जद्दोजहद में जुटे हैं ।

2.4.4 आदिवासी कविता

आदिवासी शब्द का शाब्दिक अर्थ है आदिम निवासी । यानी किसी भी भू-प्रदेश में जो आदिम समय से ही रहता आया हो उन्हें ही आदिवासी कहा जाना चाहिए। इस दृष्टि से देखा जाय तो भू-प्रदेश यानी ज़मीन का सच्चा मालिक तो वही है । बहुत सारे ऐतिहासिक सांस्कृतिक कारणों से आदिवासी समाज प्रकृतिक संपदाओं को इकट्ठा कर अपनी ज़िन्दगी को खुशहाल करने से वंचित रहे हैं । आदिवासी शब्द के समकालीन सामाजिक अर्थ संदर्भ से यही व्यक्त होता है कि आदिवासी जंगली, बर्बर और असभ्य समाज है जिन्हें प्राकृत जीवन बिताना ही पसंद है । आदिम निवासी का अर्थ बर्बर समाज में बदलने के पीछे मुख्यधारा सामाज की वर्चस्ववादी नज़रिय स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है । रमणिका गुप्ता अपनी पुस्तक 'आदिवासी अस्मिता का संकट' में यू. एन. ओ. द्वारा परिभाषित आदिवासी राष्ट्र का संदर्भ यों देती है – "आदिवासी राष्ट्र का तात्पर्य उन लोगों के वंशजों से है , जो किसी देश की वर्तमान भूमि के पूरे या कुछ भाग पर विश्व के अन्य भागों की किसी भिन्न संस्कृति अथवा नस्ल के लोगों द्वारा पराजित कर दिए जाने या उनके साथ किसी समझौते के तहत अथवा अन्य किसी तरह से वर्चस्वहीन अथवा औपनिवेशिक स्थिति में ढ़केल दिए जाने के पहले से ही वहाँ रह रहे थे ।"[1]

आदिवासी समाज अपनी ज़मीन से बहुत गहरी रूप से जुडा हुआ है । वैसे तो हर मनुष्य के पूर्वजों ने हज़ारों साल जंगल में गुज़ारा किया है । हमारे डी. एन.ए में हुए बहुत सारे उत्परिवर्तन भी जंगल में रहने के दौरान ही संपन्न हुआ है । पच्चीस लाख साल तक फैले पूरे मानव इतिहास में मनुष्य का जंगल से बाहर आकर कोई दस

[1] रणणिका गुप्ता - आदिवासी अस्मिता का संकट – पृ.सं 52

हज़ार साल भी पूरा नहीं हुआ है । ऐसे में जो लोग जंगल और अपनी संस्कृति से गहरी रूप से जुडे थे उन्हें अपनी सदियों पुरानी संस्कृति को तिलांजली देना सहज नहीं लगा था । जिन लोग ने जंगल से बाहर आकर अपने को सभ्य और आदिवासियों को असभ्य घोषित किये हैं उन्हें समझना चाहिए कि मानवीय संबन्धों की सामूहिता का सहज रूप आज आदिवासियों में ही शेष है । सभ्य कहलाने वाले समाज की सामूहिकता के भाव जहाँ लगातार कृत्रिम और अमानवीय होता गया वहाँ आदिवासी समाज आज भी अपनी जडों से नहीं कटे हैं ।

अपने को सभ्य कहलाने वाला समाज आदिवासियों के संदर्भ में बहुत सारे पूर्वाग्रहों से युक्त है । इन पूर्वाग्रहों को प्रश्नांकित करना आदिवासी अस्मिता के लिए बेहद ज़रूरी भी है । समकालीन आदिवासी साहित्य आज यही काम कर रहा है । महादेव टोप्पो पूछते हैं –

"संविधान की भाषा में हम
अनुसूचित जाति या
अनुसूचित जनजाति हैं
मनु की भाषा में शूद्र
कम्यूनियेटों की भाषा में शोषित
भाजपाइयों की भाषा में पिछड़े हिन्दु
मैं पूछता हूँ तुम सबसे
आखिर इस देश में इस प्रजातंत्र में
हम क्या हैं हम क्या हैं ?"[1]

[1] महादेव टोप्पो – मैं पूछता हूँ , आदिवासी स्वर और नई शताब्दि – संपादक रमणिका गुप्ता – पृ.सं 49

समकालीन समय में आदिवासी समाज हाशिए में दम घुट रहा है । उन्हें लगातर अपनी ज़मीन से विस्थापित होने केलिए मजबूर किया जा रहा है । समकालीन शासन प्रणाली की किसी भी स्तर को उनकी यथार्थ स्थिति का सही अंदाज़ा नहीं है । आदिवासियों से संबन्धित इन सारी स्थितियों को समकालीन आदिवासी कवि बेहद संवेदनात्मक धरातल पर उजागर कर के उनकी वास्तविक समस्याओं से हमें रू ब रू करा रहे हैं । समकालीन आदिवासी कवियों में उल्लेखनीय है – हरिराम मीणा, महादेव टोप्पो, अनुज लुगुन, निर्मला पुतुल, तेजी ग्रोवर, सरिता सिंह बडाईक, जसिंता केरकेट्टा आदि ।

2.4.5 कविता में पारिस्थितिकी

आधुनिकता के साथ मनुष्य ने प्रकृति पर अपनी विजय की घोषणा की थी । प्रकृतिक संपदाओं के निर्बाध शोषण से उनका हाथ बाँधने वाला कोई नहीं रह गया । आधुनिकता ने मनुष्य को तार्किक बनाया । तर्क के बलबूते पर मुनुष्य ने प्राकृतिक परिघटनाओं को विश्लेषित किया और प्रकृति की शक्ति के ऊपर उनका जो डर था उसे निर्मूल स्थापित किया । प्रकृति के निर्बाध शोषण के बहुत सारे औजार मनुष्य लगातार निर्मित करते गये और आज हम विनाश की एक ऐसी कगार पर खडे हैं जहाँ से पीछे लौटना कभी संभव न होने की स्थिति आ गयी है ।

मानवीय संबन्धों का बुनियादी स्वरूप तो मिथकीय रहा था । इन मिथकीय आधारों के तहत मनुष्य का प्रकृति के साथ रागात्मक संबन्ध इतना गहरा था कि उनकी संस्कृति का हर संदर्भ गहरी प्राकृतिक संसक्तियों से भर-पूर थी । आधुनिकता के बाद यह रागात्मक संबन्ध लगातार कृत्रिम होता चला गया और सुख भोग और स्वार्थता को मानव जीवन का सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य स्थापित किया गया । अपने जडों से कटे मनुष्य में लगातार स्वार्थ भोग लिप्सा बढ़ती गयी । समकालीन अर्थ व्यवस्था आगामी सुख सुविधापूर्ण ज़िन्दगी की आकांक्षा पर पूर्ण रूप से निर्भर हो कर चल रही

है । पर प्राकृतिक संपदाओं का यह निर्द्वन्द्व शोषण हमारे भविष्य को अंधकारमय बनायेगा, यह कोई नहीं सोचता । ऐसे में समकालीन कविता भौम सदाचार की अहमियत को उजागर करते हुए आगाह कर रही है कि समय रहते हमें सचेत होना है । एकान्त श्रीवास्तव कहते हैं –

"हम धरती कहते हैं
तो वह माँ है
हम माँ कहते हैं
तो वह धरती

किसका है यह खून
जो बह रहा धरती पर ?

यह उगते हुए सूर्य का खून है
यह आसमान के हृदय से टपक रहा है
यह शब्द का खून है
सफेद काग़ज़ पर लकीर बनाता
मंदिरों से भागते घायल ईश्वर का खून है यह

प्रार्थना में बुदबुदाता है हर फूल
अपनी टहनी पर
शांति....शांति...."[1]

लगातार हमारे पाँव अपने ज़मीन से खिसक रहे हैं, पर बाज़ार इस का एहसास हमें नहीं होने दे रहा है । वह हमें लगातार भोग और जश्न में मशगुल रख रहा है पर

[1] एकान्त श्रीवास्तव – बीज से फूल तक – पृ.सं 20

समकालीन कविता को यह यकीन है कि मानव राशी विनाश के कगार पर खड़े हैं और इसलिए वह जद्दोजहद से हमें आगामी विपदाओं से आगाह कर रहीं हैं ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि समकालीन कविता बहुस्वरता की कविता है । सदियों से हाशिए में रहने के लिए अभिशप्त हर अस्मिता समकालीन काव्य वाङ्मय में अपनी आवाज़ बुलंद कर रही है । विमर्श के लगातार उभरते समकालीन समय में समकालीन कविता का परिसर लोकतान्त्रिक होकर सर्व समावेशी बन गया है । शुद्धता और पूर्वाग्रहों की बहुत सारी जकड़नों से वह आद मुक्त है । वह लगातार केन्द्र से परिधि की ओर आ रही है । और इसी कारण विविध अस्मिता विमर्श जैसे- स्त्री, दलित, आदिवासी, किन्नर, वेश्या, वृद्ध, बाल, बंजारे आदि समकालीन कविता में अपनी आवाज़ दर्ज कर पा रही हैं ।

निष्कर्ष

समकालीन जीवन की जटिल परिस्थितियों की व्यापक समझ समकालीन साहित्य को समझने के लिए अनिवार्य है । प्रस्तुत अध्याय में समकालीन समय में दिनें दिन जटिल हो रहे उत्तर औपनिवेशिक संदर्भ को समकालीन कविता की प्रतिवर्चस्व की भूमिका के साथ परखा गया है। उत्तर औपनिवेशिक विमर्श के संदर्भ में समकालीन कविता का सौंदर्य शास्त्र ठोस सामाजिक यथार्थ के पक्षधर होकर ही उभरा है । वह लगातार उभर रही वर्चस्वशाली शक्तियों का प्रतिवर्चस्व रचती रहती है । अस्सी में समकालीन कविता की भूमिका तैयार होती है और नब्बे के बाद सदियों से हाशिये में रहने के लिए अभिशप्त सामाजिक जीवन के विभिन्न स्तरों को उभारती हुई वह प्रतिवर्चस्व के विशाल परिदृश्य को सामने रख रही है । नब्बे के बाद समकालीन कविता की अभिव्यक्ति पक्ष में हुए बदलाव को समझने के लिए आधुनिकता, यूरो केन्द्रित आधुनिकता, एकाधिक आधुनिकता तथा पर की रणनीति के विभिन्न उत्तर औपनिवेशिक स्थितियों से अवगत होना नितान्त ज़रूरी है। इसी कारण

प्रस्तुत अध्याय में इन उत्तर औपनिवेशिक स्थितियों के विश्लेषण के उपरान्त समकालीन कविता से जुडे विभिन्न परिभाषाओं के साथ समकालीन कविता की समय सीमा, प्रमुख रचनाकार, बहुस्वरता आदि के विश्लेषण के साथ लगभग बीस सालों तक फैसे समकालीन कविता के परिदृश्य का विहंगम अवलोकन किया गया है ।

अध्याय तीन

समकालीन हिन्दी कविता में बदलते पारिवारिक संबन्ध

परिवार सामाजिक संरचना की मूलभूत इकाई है जो मानवता की सबसे प्राचीन व्यवस्था भी है। पहले परिवार के स्वरूप में जो अंतरंग संबन्ध हुआ करता था वही सामाजिक संबन्धों के विभिन्न स्तरों का आधार भी बनता था। समय के साथ वह लगातार बदलता चला गया। आज पारिवारिक संबन्धों के बीच से अंतरंग संबन्ध लगातार गायब होता जा रहा है। तकनीकी क्रान्ति के साथ उभरे आभासी यथार्थ की कृत्रिम संवेदना पारिवारिक संबन्धों के बीच खाली जगह को लगातार बढावा दे रही है। समकालीन कविता बेहद सजगता से पारिवारिक संबन्धों में हुए बदलाव को विभिन्न स्तरों पर अभिव्यक्ति दे रही है। घर के स्मृतिबोध से लेकर परिवार की हर इकाई को दिनोंदिन जटिल हो रही सामाजिक संरचना के बीच से वजूद की पूरी ऊष्मा संजोकर वह संवेदित कर रही है। पारिवारिक संबन्ध सिर्फ व्यक्तियों के बीच का संबन्ध ही नहीं, बल्कि उससे संबद्ध सांस्कृतिक, आर्थिक मनोवैज्ञानिक, धार्मिक, परिस्थितियाँ भी हैं । जिसके बल पर पारिवारिक संबन्धों का निर्माण होता रहता है । इसीलिए समाजशास्त्रीय दृष्टि से परिवार में हुए बदलाव को रेखांकित करने के पश्चात कविता में उसकी अभिव्यक्ति को परखना तर्क संगत होगा।

3.1 परिवार का बदलता स्वरूप

प्रारंभिक तौर पर परिवार ही मानवीय सामाजिक संबन्धों के हर स्तर को नियंत्रित करता था। पहले परिवार के स्वरूप में जो अंतरंग संबन्ध हुआ करता था वही सामाजिक संबन्धों के विभिन्न स्तरों का आधार रहा था। समय के साथ वह लगातार बदलता चला गया। परिवार के इस स्वरूप के बारे में ओक्सफोर्ड डिक्शनरी ओफ़ सोशियोलॉजी में कहा गया है " The family is an intimate domestic group made up of people related to one another by bonds of blood, sexual mating , or legal ties. It has been a very resilient social unit that has survived and

adapted through time."[1] अर्थात परिवार अंतरंग रूप से जुडे हुए वह समूह है जो आपस में रक्त-संबन्ध, यौन-संबन्ध, और कानूनी व्यवस्था द्वारा स्वरूप पाता है। यह बहुत ही लचीली सामाजिक इकाई रही है जो समय के अनुसार अनुकूलित होकर उत्तरजीवित रहा है।

परिवार का समानार्थी अंग्रेज़ी शब्द फ़ामिली (Family) है जिसका का उद्भव लतीन के फ़ामुलस (Famulus) शब्द से हुआ है। जो प्रारंभ में नौकर का समानार्थी शब्द था। फिर वह गृहस्थी से जुडे नौकर के अर्थ में बदल गया और बाद में गृहस्थी या परिवार का समानार्थी बन गया। मध्यकालीन अंग्रेज़ी में फ़ामिली का अर्थ परिवार के रूप में स्थिर हो जाता है । हिन्दी में परिवार शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'परि' और 'वृ' से मिलकर बना है। परिवार मानवीय संबन्धों की मूल इकाई के रूप में विकसित होकर अनेक रूप धारण करता रहा । पहले वह मातृसत्तात्मक स्वरूप लिया हुआ था फ़िर वह पितृसत्तात्मक हो गया। औद्योगीकरण के बाद परिवार के स्वरूप में क्रान्तिकारी परिवर्तन लक्षित हुआ। संयुक्त परिवार का विघटन और एकल परिवार का आविर्भाव हुआ। संबन्धओं के बीच मानवीयता तथा खून के रिश्ते के साथ फायदा भी घुसने लगा । इसी के साथ बूढों की उपेक्षा भी होने लगी, जो आज गंभीर समस्या बन रही है। औद्योगीकरण के साथ व्यक्ति की इयत्ता को परिवार के घेराव से मुक्ति का अभियान भी चलाया गया जिसके सकारात्मक और नकारात्मक पक्ष सामने उभर आ रहे हैं। फ़िर धीरे-धीरे व्यक्ति की इयत्ता को रूपायित करने के प्रतीक व्यवस्थाओं को बाज़ार ने मुहय्या कराना शुरू किया और तब से परिवार और सामाजिक संरचना का मूल स्वरूप ही बदलने लगा। शंभुनाथ कहते हैं- "आधुनिकता का एक मुख्य तत्व वैयक्तिकता ,जो अंतर्वैयक्तिकता तक विस्तृत थी और कला-साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में ही नहीं , विज्ञान के क्षेत्र में भी अनगिनत अनूठे प्रयोगों और आविष्कारों का माध्यम

[1] Oxford Dictionary of Sociology John Scott , Gordon Marshall -page no 238

थी, धीरे-धीरे व्यक्तिवाद में रूपान्तरित होने लगी। आधुनिकीकरण के विस्तार के साथ व्यक्ति का तीव्र संस्थानीकरण होने लगा। वह अब स्वतंत्रचेता नहीं रह गया । आज के वैज्ञानिक-प्रौद्योगिक आविष्कार व्यक्ति की मर्जी और साधन से नहीं , बहुराष्ट्रीय कंपनियों की मर्जी और साधन से होते हैं। अब इस तरह आविष्कार नहीं होते , जिस तरह ग्रह्मबेल ने टेलिफोन का किया था। स्वतंत्रचेता नहीं रह जाने के कारण व्यक्ति के अनुभव और व्यवहार का विवेक से तलाक हो गया। उत्तर-आधुनिक मनोदशा में आदमी तात्कालीनतावादी, मूल्यविमुख और कामुक होता गया।"[1] इस प्रकार बाज़ार ने व्यक्ति की इयत्ता को अपने अनुकूल बनाकर पूरे मानवीय संबन्धों के स्वरूप को ही बदल दिया है।

सभी समाजशास्त्री परिवार और सामाजिक संरचना के मूल में स्थानीय अंतरंग समुदाय को (इंटीमेट कम्यूनिटी) को बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं । स्थानीय अन्तरंग समुदाय उन लोगों का समूह होता है, जो एक दूसरे से भलीभाँति परिचित होते है और जीवित बने रहने केलिए एक दूसरे पर निर्भर करते हैं। लोक संस्कृति और राष्ट्रीय संस्कृति का मूल उत्स भी यह स्थानीय अंतरंग समुदाय ही रहा था। औद्योगिक क्रान्ति के बाद परिवार और सामाजिक संरचना में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। स्थानीय अंतरंग समुदाय कल्पित समुदाय में बदल गया। कल्पित समुदाय को समाज नहीं कह सकते हैं, क्योंकि उसमें आपसी संबन्ध नहीं होते। इसलिए वह सिर्फ झुंड मात्र रह जाता है। झुंड ने बाज़ार को जो वरेण्यता प्रदान किया उसकी वजह परिवार, संस्कृति और सामाज का ढांचा बदल गया । भीड में परिणित ऐसे समाज की अपनी कोई संस्कृति नहीं, उसे झुंड संस्कृति कहना संगत होगा । झुंड में परिणित समाज की अपनी संस्कृति नहीं कहने का मतलब यह है कि उसकी कोई परंपरा, कोई इतिहास

[1] शम्भुनाथ – संस्कृति की उत्तर कथा – पृ.सं 144-145

नहीं होते। कविता इसके विरुद्ध संघर्ष करती है, वह मनुष्य की गरिमा को कायम रखने का अपना दायित्व निभाती आ रही है।

समकालीन कविता बेहद सजगता से पारिवारिक संबन्धों में हुए बदलाव को विभिन्न स्तरों पर अभिव्यक्ति दे रही है। मनमोहन के शब्दों में "मनुष्य और उसकी रचनात्मक ऊर्जा के अवमूल्यन और उसके स्वत्व और उसकी गरिमा की तिरस्कारपूर्ण अवहेलन के जिस अपदृश्य से इस समय हम रूबरू हैं उसे देखने और खडे रहने के लिए भी काफ़ी जीवट चाहिए । कहा जा सकता है कि समकालीन रचनाशीलता ख़ासकर कविता ने इस जीवट का परिचय दिया है और इस अपमानपूर्ण परिस्थिति से कोई ख़ास समझौता नहीं किया है "[1] समकालीन कविता की यहीं जीवट हमारी सांझी संस्कृति की जड और स्रोतों से समिधा जुडा रही है जो बदलाव की तेज़ आँधी में भी मानवता की ऊष्मा को बरकरार रखती है ।

3.1.1 समकालीन कविता में घर का बदलता स्वरूप

समकालीन भारतीय पारिवारिक संबन्ध इस तरह बदल गया है कि व्यक्ति से लेकर समूह तक के हर स्तर पर बदलाव को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। पूरा पारिवारिक ढाँचा इस तरह बदल गया है कि बदलाव को समझने का मौका भी हमें नहीं मिल रहा है। समकालीन कविता में बदलते इस घर का बिम्ब विभिन्न स्तरों पर उजागर हुआ है । समकालीन कविता का ऐसा कोई संग्रह शायद ही निकला होगा जिस में घर का बिम्ब किसी न किसी रूप में न उभरा हो। बुजुर्ग कवियों से लेकर युवा कवियों के कविताओं में भी घर का बिम्ब लगातार आते रहता है। बदलते परिवार के स्वरूप को समकालीन कवि गहरे संवेदनात्मक धरातल पर उभार रहे हैं। राजेश जोशी की कविता 'संयुक्त परिवार ' इसका एक आच्छा उदाहरण है। संयुक्त परिवार

[1] मनमोहन – जिल्लत की रोटी – भूमिका से – पृ सं 8

का पूरा ढाँचा एकल परिवार में तबदील होने की त्रासद स्थिति को कवि यों अभिव्यक्त करते हैं –

"यह छोटा सा एकल परिवार
कोई एक बाहर चला जाये तो दूसरों को
काटने को दौडता है घर

कम हो रहा है मिलना जुलना
कम हो रही है लोगों की जान-पहचान
सुख दुख में भी पहले की तरह इकट्ठे नहीं होते लोग
तार से आ जाती है बधाई और शोक संदेश"[1]

पहले परिवर्तन बहुत धीमा था पर साइबर युग में परिवर्तन इतनी तेज़ रफ़्तार पा चुकी है कि कुछ भी सहेजने का मौका नहीं मिलता है और हम पहचान भी नही पाते कि कुछ बदला है या नहीं। इस बदलाव के क्रम में पारिवारिक संबन्धों के बीच खाली जगह बढ़ती चली आ रही है। जितेन्द्र श्रीवास्तव कहते हैं –

"हमें मिला भी एक घर
जिसमें कई ख़िडकियाँ थीं
और जगह हमारी सोच से ज़्यादा
इतना ज़्यादा
कि दो जनों के बीच
अब जगह ही जगह थी

वहाँ सपने

[1] राजेश जोशी - दो पंक्तियों के बीच - पृ.सं 54-55

हवा के साथ मिलकर
खाली जगह में
बवंडर की तरह मँडरा रहे थे ।"[1]

आज पूरे घर के माहौल में खाली जगह इस कदर बढ़ गयी है कि उसे पाटने केलिए हम बाज़ार की तरफ़ देखते हैं। पर हमें इस का एहसास नहीं होता कि बाज़ार की वजह से ही परिवार के बीच खाली जगह बढ़ी है। विनय विश्वास कहते हैं – "संपर्कों के बीच से रिश्ते निकल रहे हैं। जैसे मुट्ठी से रेत निकलता है। मंगलेश डबराल ने अमीर खुसरो की एक फ़ारसी रचना की नई व्याख्या की –'तुम और मैं इस तरह एक हैं कि तुम्हारे और मेरे 'बीच' कोई 'बीच' नहीं है।' आज ऐसी स्थिति कल्पना में भी लगभग असंभव है । दो व्यक्तियों के बीच आज बीच ही बीच हैं। इसकी सबसे बड़ी वजह जीवन में अतिरिक्त और गैरज़रूरी का बढता महत्व है। अतिरिक्त वस्तुएँ, अतिरिक्त विलास, अतिरिक्त बनावट, अतिरिक्त सुन्दरता, अतिरिक्त धन। तरह-तरह से बढता यह अतिरिक्त जीवन को कुरूप बना रहा है। संबन्धों से, जीवंतता से रहित कर रहा है।"[2] राजेश जोशी की 'खिलौना' कविता परिवार में बाज़ार के इसी हस्तक्षेप की ओर इशारे करती हैं-

"कुछ ही समय बाद उसने देखा कि खिलौनों का बाज़ार
प्लास्टिक की नकली बन्दूकों, मशीन गनों, पिस्तौलों टैकों जैसे
खिलौनों से भर गया
बच्चों के अकेलेपन एक नकली और हिंसक उत्तेजना
से भरने की एक भयावह कोशिश की जा रही थी
हमारा अन्याय और हमारी हिंसा जो हमेशा ही

[1] जितेन्द्र श्रीवास्तव - असुन्दर सुन्दर - पृ.सं 115
[2] विनय विश्वास - आज की कविता - पृ.सं 381

गरीब बाल मज़दूरों और भिखारी बच्चों के सामने
एक दुत्कार की तरह प्रकट होती है
अब हमारे खिलौनों में प्रकट हो रही थी।"[1]

खिलौना कविता में कवि संयुक्त परिवार के पूरे बिखराव को दिखाते हुए उसकी वजह बच्चों में हुए एकाकीपन को पाटने की बाज़ारू युक्ति का पोल खोलते हैं। परिवार के बिखराव की वजह बच्चे लगातार अकेले होते गये। बच्चों का यह एकाकीपन बाज़ार केलिए सबसे फायदेमंद निकला है। कवि खिलौने को कोई मासूम कल्पना की तरह नहीं देख रहा है। खिलौना बनने के पीछे छिपे सारे बाज़ारू तंत्र को तथा कलात्मक क्षमता को कवि स्पष्ट रूप से अपनी कविता में उभारता है और हमें आगाह करते हैं कि खिलौना कोई मासूम इरादों से निर्मित होकर हमारे बच्चों के हाथों में नहीं पहुँच रहा है।

घर के माहौल में लगातार घर करते जा रहे संबन्ध विहीनता को कवि विनोद कुमार शुक्ल अपनी कविता 'तथा' में बेहद संवेदनात्मक धरातल पर उभारते हैं -

"तथा
घर के लोगों से घर का संबन्ध नहीं
तथा यह समाज सामाजिक समाज नहीं
तथा थोडी दूर पर रहने वाला मेरा भाई
कई दिनों से मिला नहीं
तथा सडक से जाते हुए वह मुझे दिखा
उसने भी देखा
पर चला गया "[1]

[1] राजेश जोशी – चाँद की वर्तनी – पृ.सं 105-106

'तथा' कविता में कवि ने मात्र पारिवारिक संबन्धों का ही नहीं पूरे माहौल की बेचैनी को शब्दबद्ध किया है। सामाजिक संरचना की किसी एक इकाई में होने वाला परिवर्तन अनिवार्य रूप से अन्य इकाईयों को भी परिवर्तित कर देगा । समग्र रूप से उसे उद्घाटित करना सभी कवियों की बस की बात नहीं है। विनोद कुमार शुक्ल ने बेहद सजगता से सामाजिक संरचना की मूल इकाई से लेकर पूरे सामाजिक माहौल में छायी काहिली को प्रस्तुत कविता में अभिव्यक्ति किया है । एकान्त श्रीवास्तव की कविता 'खाली घर' भी दिनों दिन बदल रहे घर के स्वरूप को गहरी संवेदनात्वक ढ़ंग से उभारती है । कवि खाली घर का पेड में बदलने के बिंब द्वारा लगातार उजड रहे घर को फिर से बसाने के हर नाकाम कोशिश को अभिव्यक्ति दे रहे हैं –

"पेडों और परिंदों के साथ
रहते-रहते बरसों-बरस
बदलने लगती है घर की काया
वह बनने लगता है धीरे-धीरे पेड़
उसकी दीवारों की दरारों में उग आते हैं
कितने-कितने पौधे
हो सकता है कि बरसों बाद
जब मैं लौटूँ परदेश से थक-हारकर
बहुत बूढ़ा होकर इस घर में
तो यहाँ घर नही पेड़ हो "[2]

घर के महौल में बाज़ार और विज्ञापन सबसे पहले बच्चों को अपना निशाना बनाता है । बुजुर्गों के मन में अब भी सामूहिक संस्कृति के चिह्न शेष रह जाने

[1] विनोद कुमार शुक्ल - अतिरिक्त नहीं – पृ सं 15
[2] एकान्त श्रीवास्तव - बीज से फूल तक – पृ सं – 36-37

के कारण । उन्हें बाज़ार के अनुकूल परिवर्तित करना उतना आसान नहीं है। व्यक्ति के पूरे सामूहिक स्मृति बोध को मिटाकर उसे बाज़ार के अनुकूल गढ़ना बाज़ार केलिए बेहद ज़रूरी है। इसी कारण वे बच्चों पर ज़्यादा केन्द्रित होते हैं। बच्चों के माध्यम से पूरे घर के माहौल को बदलना ही उनका मंशा है। राजेश जोशी कहते हैं –"इनकी भाषा बदल चुकी है / बदल चुका है इनका पूरा वाक्य विन्यास / अब इनके साथ मिलकर स्वर्ग की मिनारें बनाना सम्भव नहीं / ठहर कर सोचना और पीछे मुड़कर देखना / इनकी बनक में नहीं है / इतने आक्रामक आकर्षक और बेआवाज़ है इनके जूते / कि किसी स्वप्न के उनके नीचे कुचल जाने की भी / कोई आवाज़ सुनाई नहीं देगी कभी / हमारे समय की इस भयावह फ़ैंटेसी में / किसी अदृश्य दैत्य की उँगली थामे जाते हुए लगते हैं कभी-कभी / हमारे समय के ये बच्चे।" [1] बच्चे लगातार एक हिंसक अभियान में शरीक होते जा रहे हैं । सब को कुचल कर आगे बढ़ जाने की त्वरा ने उनके भीतर कितना हिंसक भाव पैदा कर दिया है कि यह ज़रा रुक कर सोचने की फ़ुरसत भी उन्हें नहीं है। घर के पूरे वातावरण में बदलाव इस तरह आ रहा है कि उसकी आहट का पता किसी को नहीं चलता। अपनी 'गिरस्ति' कविता में नरेन्द्र जैन कहते हैं –

"किसी को छूट नहीं
देख ले आँखें खोलकर
अपनी उजड़ती गिरस्ति
रोज़ रोज
धीरे-धीरे
आती है तबाही
X X X X X X X

[1] राजेश जोशी – चाँद की वर्तनी- पृ.सं 30-31

बदतर होती है वे तबाहियाँ
जो धीरे धीरे और रोज़ रोज़ आती है
जानलेवा बीमारी की तरह
लगा ही रहता है उनका आना "[1]

घर के भीतर धीरे धीरे आ रही इस तबाही को हम पहचान नहीं पा रहे हैं। फिर भी उसकी गति कभी भी धीमी नहीं रही। हमारी सोच ही धीमी है जो इसकी गति को पहचान नहीं पा रही है। रोज़ रोज़ आ रहे इस बदलाव को पहचानने पर ही उसकी गति का अनुमान लगाया जा सकता है। बदलाव हमारे पूरे स्मृति बोध को आच्छादित करते हुए जगह बना रहा है। ऐसे हालात में हमारे स्मृतिबोध ही वह संबल है जिस के बदौलत मानवीयता को बरकरार रखा जा सकता है। इसी कारण समकालीन कवि कठिन जद्दोजहद से घर के स्मृतिबोध को मानवीयता से खाली हो रही जगहों में भरने की कोशिश करते हैं।

3.1.2 समकालीन कविता में घर का स्मृति बोध

घर का स्मृति बोध समकालीन कविता का सबसे संवेदनात्मक पहलू है । इसे घर का गृहातुर स्मृति बोध भी कहा जा सकता है। अंग्रेज़ी में गृहातुर स्मृति को नॉस्टाल्जिआ कहा जाता है। नॉस्टाल्जिआ के समानार्थी शब्द के रूप में ही हिन्दी में गृहातुरता शब्द प्रयुक्त होता है। घर से जुडे बहुत सारे स्मृति चिह्न समकालीन कविता की नॉस्टाल्जिआ के केन्द्र में है। पुरानी पीढ़ी से लेकर नयी पीढ़ी के युवा कवियों की कविताओं तक घर का गृहातुर स्मृति बोध विभिन्न स्तरों पर उजागर हुआ है।

तेज़ी से बदल रही सूचना प्रौद्योगिकी के समकालीन समय में चिरंतनता कोई मूल्य नहीं रह गयी है । हर पल चंचल समय छवियों द्वारा मानवीय संबन्धों को निर्धारित

[1] नरेन्द्र जैन - काला सफेद में प्रविष्ट होता है – पृ.सं 33

कर रहा है। मानव के जैविक उद्विकास के इतिहास में इस से पहले कभी भी मानवीय संबन्धों को निर्धारित करने में जैविक सत्तात्मक स्थिति से परे किसी अन्य तत्व ने काम नहीं किया था । सूचना प्रौद्योगिकी ने मानव की मूलभूत जैविक सत्तात्मक स्थिति को ही पलट दिया । ऐसे माहौल में स्मृतिबोध ही वह संबल है जिसके माध्यम से छवियों द्वारा आच्छादित स्वत्व की जडों को पहचाना जा सकता है । समकालीन कविता की पुरानी पीढ़ी के कवियों में यह गृहातुर स्मृति बोध बहुत ही सघन है जो बदल रहे समय में लगातार अपनी जडों को तलाशते हैं । कवि केदार नाथ सिंह के बारे में मनीषा झा कहती है–"केदार की कविता भूलने के विरुद्ध एक हस्तक्षेप है, स्मृतिहीनता के दौर में स्मृति की रक्षा का दायित्व वहन करती उनकी कविता हमें भूले हुए को याद दिलाती है।"[1] केदार नाथ सिंह की कविताओं में घर का स्मृतिबोध विभिन्न प्रतीकों द्वारा कई स्तरों पर उभरा है। समकालीन समय में 'कुदाल' कवि के लिए ऐसा ही एक प्रतीक है । कृषि क्रांति से शुरू होकर औद्योगिक क्रांति से गुज़रकर सूचना क्रान्ति तक आये हुए समाज के लिए 'कुदाल' आज प्रश्न चिह्न बन गया है। -

"उसे दरवाज़े पर रखकर
चला गया है माली
उसका वहाँ होना
अटपटा लगता है मेरी आँखों को ....
काम था
सो हो चुका
मिट्टी थी
सो खुद चुकी है जड़ों तक
और अब कुदाल है कि एक चुपचाप चुनौती की तरह

[1] आलोचना - अप्रैल जून 2009 - पृ.सं 103

खड़ी है दरवाज़े पर "[1]

इतिहास बोध से सघन कवि के लिए कुदाल मानवीय विकास यात्रा की लगाव भरा एक स्मृतिचिह्न है जिसे समकालीन समय में जगह न दे पाने के कारण कवि बेचैन है। कवि कुदाल को न अपने ड्रायिंग रूम में जगह दे पा रहा है न ही रसोईघर में। कुदाल मानव के किसानी रिश्ते का प्रतीक है। सूचना प्रौद्योगिकी के छवि संसार में कुदाल को कहीं जगह न दे पाने की कसक कविता में गहराई से प्रतिध्वनित होती है । -

"और अंधेरे में धीरे धीरे बढ़ता जा रहा था
कुदाल का कद
और अब उसे दरवाज़े पर छोड़ना
खतरनाक था
सडक पर रख देना असंभव
मेरे घर में कुदाल के लिए जगह नहीं थी "[2]

समकालीन दौर में घर से लगातार बेदखल होते जा रहे स्मृति पुंजों को फिर से सहेजना मानवीयता को बरकरार रखने केलिए नितांत ज़रूरी है । विष्णु खरे कहते है –"केदार नाथ सिंह की कविताओं का संसार करीब-करीब समूचा भारतीय संसार है – वह इस अर्थ में कि उन्हें स्रोतों का पता जहाँ से जीवन मिलता है – भले ही आज की सर्वव्यापि मानव विरोधी मुहिम में वह जीवन कुछ कम हो चला हो और कभी कभी उसके लुप्त हो जाने का भी खतरा हो और केदारनाथ सिंह की इस आस्था को उनसे छीन लेना असंभव है कि मानवीय अस्तित्व को , आज के भारत में आदमी बनकर रहने की इच्छा को अर्थ तथा बल देने के लिए उन्हीं स्रोतों पर पहुँचना होगा और जिस

[1] केदार नाथ सिंह - उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ - पृ.सं 17
[2] केदार नाथ सिंह - उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ - पृ सं 18

ज़मीन से वे निकल रहे हैं उसे और गहरा खोदना होगा ।"[1] केदारनाथ जी अपनी कविताओं में लगातार मानवीयता के इन्हीं स्रोतों का जिरह करते हुए नज़र आते हैं ।

अरुण कमल की कविताओं में भी लगातार बेदखल हो रहे घर का गृहातुर स्मृति बोध सघन है । दिग्भ्रमित समय में जहाँ हर स्तर पर घर का वजूद मिटता चला जा रहा है वहाँ कवि जद्दोजहद से अपना घर तलाश रहे हैं । निराशा से भरे माहौल में भी कवि की उम्मीद है कि कहीं से घर का पता बताने वाली आवाज़ सुनाई देगी।-"यहाँ रोज कुछ बन रहा है / रोज कुछ घट रहा है / यहाँ स्मृति का भरोसा नहीं / एक ही दिन में पुरानी पड़ जाती है दुनिया / जैसे वसन्त का गया पतझट को लौटा हूँ / जैसे बैशाख का गया भादो को लौटा हूँ / अब यहीं उपाय कि हर दरवाज़ा खटखटाओ / और पूछो –/ क्या यही है वो घर ? / समय बहुत कम है तुम्हारे पास / आ चला पानी ढहा आ रहा अकास / शायद पुकार ले कोई पहचाना ऊपर से देखकर। "[2] यहाँ घर पूरे मानवीय संबन्धों का प्रतीक बन कर उभरा है । कृत्रिम संस्कृति की चपेट ने आज घर के अंतरंग संबन्धों को बिगाड दिया है । लगातार उभर रही छवियों के बीहड़ में से वजूद की ऊष्मा को बरकरार रखना समकालीन कविता की सब से बडी चुनौतियों में से एक है । अरुण कमल की कविता लगातार इस ऊष्मा को बरकरार रखने के लिए समिधा इकट्ठी करती नज़र आती है । उनकी 'उर्वर प्रदेश' कविता मानवीय संबन्धों की ऊष्मा को संजोये एक ऐसे प्रदेश की ओर संकेत करता है जिस की ओर लौटना मानवीयता के लिए आज नितांत आवश्यक है –

"आज मैं लौटा हूँ अपने घर
दो दिनों के बाद आज घूमती पृथ्वी के अक्ष पर
फैला है सामने निर्जन प्रान्त का उर्वर प्रदेश

[1] विष्णु खरे - कवि केदारनाथ सिंह - पृ सं 18
[2] अरुण कमल - नये इलाके में - पृ सं 13-14

सामने है पोखर अपनी छाती पर
जलकुम्भियों का घना संसार भरे।"[1]

मानवीय अंतरंग सम्बन्धों से शून्य कल्पित समुदाय की झुण्ड संस्कृति की बीहड़ में से निर्जन प्रदेश बन गये हमारे वजूद की ओर लौटना कवि के लिए प्रेम से आप्लावित सहज मनवीयता की ओर लौटना है। इस उर्वर प्रदेश में लौटकर सहज अतरंग संबन्धों की ऊष्मा की पहचान ही अब हमारी मानवता का एक मात्र संबल रह गया है।

घर से प्रेम संबन्ध लगातार बेदखल हो रहे हैं, यह सबसे बड़ी त्रासदी है। समकालीन कविता लगातार छूट रहे इस प्रेम को कसकर पकडने की कोशिश करती नज़र आती है । प्रियदर्शन कहते हैं –

"कि कितने वे चीज़ें बची हुई हैं
जिन्हें खोजना छोड़ दिया था हमने
गुमशुदा मानकर
तब एक कोने में छुपा प्रेम
अचानक सर उठाएगा
हमें चौंका देगा
हो सकता है
छोड दे पसीने-पसीने

उसकी रोशनी में
हम खुद को पहचानेंगे
उसकी फ़ुहार में हम
हो जाएँगे

[1] अरुण कमल - अपनी केवल धार - पृ सं 75

नए-नए से "[1]

कृत्रिम संस्कृति के शोर-गुल से घर के कोनों में जा छिपे प्रेम को वापस पाना ही उर्वर प्रदेश की ओर लौटना है। यह प्रेम ही दरअसल घर की वह नींव है जो घर को घर बनाता है । इसे पहचानना और इसकी ओर लौटना जीवन को फिर से हरा भरा कर देगा ।

घर सिर्फ ईंट-पत्थर से बना मकान नहीं। मानवीय संवेदनात्मक क्षमता का आदिम स्रोत घर के अस्तिस्व में इस तरह रच बसे हुए होते हैं कि ईंट-पथर के अभाव में भी घर संवेदना की ठोस नींव पर बन सकता है। महानगरीय जीवन में ईंट-पत्थर जोडकर मकान तो बहुत बन रहे हैं पर घर कहीं रूपाकार ग्रहण करता हुआ नहीं दिखता । तेज़ी से बदल रहे मानवीय संबन्धों के बीच कवयित्री नीलेश रघुवंशी अपने बचपन के दिनों की याद करती है – "इस मकान की पहली बरसात / याद आ गई घर की । / छोटे भाई-बहनों को न निकलने की / हिदायत देती हुई / जल्दी-जल्दी बाहर से कपडे / समेट रही होगी माँ / पिता चढ़ आये होंगे छत पर / भाई निकल गया होगा / साइकिल पर बरसाती लेने । / पानी ज़रा ठहरो / छत को ठीक होने दो / ले आने दो भाई को बरसाती "[2] कवयित्री यहाँ विभिन्न दृश्यों द्वारा आर्थिक अभाव में भी पारिवारिक संबन्धों की ऊष्मा को संवेदनात्मक धरातल पर उभार रहीं हैं। महानगरीय जीवन का सुविधा संपन्न मकान बरसात में टपकने वाले पुराने घर के सामने कवयित्री के लिए कोइ मायने नहीं रखता । तेज़ी से बदल रहे पारिवारिक संबन्धों के कृत्रिम बीहड़ में कवयित्री के लिए आस्था और विश्वास का आधार आज भी पुराने घर का गृहातुर स्मृति बोध ही है ।

[1] प्रियदर्शन - नष्ट कुछ भी नहीं होता – पृ.सं 69
[2] नीलेश रघुवंशी – घर-निकासी - पृ.सं 11

समकालीन जीवन की काहिली इतनी तेज़ है कि उसकी चपेट में स्मृतियों तक जाने का कोई रास्ता शेष नहीं रह गया है। जिंदगी की भाग दौड में पीछे छूट गये घर को युवा कवि निशान्त लगातार बाहर तलाश रहा है –

"अब तो वह तस्वीर भी खो गयी जिसमें घर था
अब एक घर के बहाने मैं अपने कमरे से बाहर निकलता हूँ
बाहर कमरों का जंगल है
घर शायद मेरे भीतर कहीं दब गया हैं
जिसे रोज मैं बाहर खोजता हूँ "[1]

समकालीन कविता में घर का गृहातुर स्मृति बोध पुरानी पीढ़ी के कवियों से लेकर एकदम नये युवा कवियों की कविताओं में भी विस्तृत कलेवर को घेरता है। जिस समाज में मानव विरोधि मुहिम जितना ज़्यादा होगा उस हिसाब से उसका प्रतिपक्षधर्मी स्मृति बोध का ऐतिहासिक दायित्व भी विस्तृत होगा। समकालीन कविता अपने इस ऐतिहासिक दायित्व को बखूबी निभा रही है ।

3.1.3 समकालीन कविता में घर का आधा सच्च

प्रगैतिहासिक काल से दुनिया की आधी आबादी घर की चार दीवारी के भीतर अपनी सच्चाई छिपाती आयी है। मातृसत्तात्मक समाज जब से पितृसत्तात्मक समाज में बदलना शुरू हुआ तब से दुनिया की आधी आबादी हाशिये में बदलना शुरू हुई थी । अधिकारविहीन होना आधी आबादी का हाशिए में बदलने का प्रमुख कारण है। डॉ प्रमीला के पी कहती हैं -"अधिकारविहीन-सत्ताविहीन रहने के कारण वे अधिकाधिक संदर्भों में उपेक्षित ही रही हैं यहां तक सार्वदेशीय मानव अधिकार घोषणा को भी सिर्फ 'मानव' अधिकार के रूप में गठने की नौबत इस दोहरी व

[1] निशान्त - जवान होते हुए लड़के का कबूलनामा - पृ.सं 20-21

ऐतिहासिक भूल की परिणाम थी।"[1] वे आगे कहती हैं कि मानवी के अधिकारों का एहसास भी दुनिया को बहुत बाद में हुई । नैसर्गिक रूप से ही स्त्रियों में अपने स्थल-काल को पहचानने और सामाजिक संबन्धों के अगुआ करने की क्षमता विद्यमान थी पर पुरुषसत्ता ने मातृसत्ता को उलट कर उनकी सारी क्षमताओं को उनके पाँवों की बेडियाँ बना दिया। दरअसल घर को घर बनाती है स्त्री, परिवार को एकजुट बनाये रखने की क़ुवत उसे क़ुदरत ने ही दी है । उनकी इन सारी क्षमताओं को महिमामंडित करते हुए पुरुषवर्चस्ववाद ने करीने से उसके पाँवों में बेडियाँ बाँध दी । असल में समकालीन कविता सदियों से मूक बना दी गई स्त्री की इस सच्चाई की आवाज़ बन कर उभर रही है। प्रमीला के पी कहती है – "नारी को त्यागमयी, ममतामयी, महामानवी घोषित किया गया और पिता ,पुत्र, भर्ता व मालिक रूपी पुरुष सत्ता के अधीन रखकर आत्मोद्घाटन का मौका नहीं दिया गया। उपर्युक्त सभी स्त्री-स्वरूप ब्राह्मण या मेधावी परंपरा की कड़ियां थीं । जिनको कभी भी प्यार करने और स्वतंत्र विचार रखने की आज़ादी नहीं थी । इसका प्रतिशोध एवं प्रतिकार के रूप में सत्तर के दशकों की स्त्री कविता का तेवर उठने लगा ।"[2]

नब्बे के बाद समकालीन कविता में स्त्री पक्षीय चिंतन और अधिक सशक्त रूप से प्रतिरोधी तेवर अपनाकर उभरने लगा। क्योंकि उत्तर औपनिवेशिक संदर्भ जिस बहुस्वरता की दुहाई दे कर उपस्थित हुआ था वह भी स्त्री के वजूद को दोयम दर्जा ही दे रहा था । के.के वेलायुधन कहते हैं –"स्त्री संदर्भ में नारी चिन्तन का व्यवस्था विरोधी स्वर अपनाने के कई कारण हैं । हमारी सामाजिक व्यवस्था में संवैधानिक स्तर पर स्त्री और पुरुष को समता, स्वतंत्रता एवं अवसर का समान अधिकार प्राप्त है । किन्तु व्यावहारिक स्तर पर यह मात्र कागज़ में रह जाता है । पुरुष अधिकार

[1] कविता का स्त्री पक्ष – प्रमीला के पी –पृ.सं – 17
[2] कविता का स्त्री पक्ष – प्रमीला के पी – पृ.सं – 24

आज़माता है; स्त्री अधीन में रह जाती है । पुरुष सत्तात्मक समाज के शिकंजो से अपने को मुक्त करने में तथा अपना हक पाने में समकालीन स्त्री कविता कटिबद्ध है । उत्पीडित और संत्रस्त स्त्री जीवन की ज्वलंत समस्याओं को अनुभूत सत्य के रूप में वे प्रस्तुत करती हैं । इन स्त्री कवियों की फेहरिस्त लंबी है, जैसे गगन गिल, कात्यायनी, अनामिका, नीलेश रघुवंशी, सविता सिंह, शुभा सुनीता जैन, रेखा मैत्र, रजनी तिलक, ज्योत्सना मिलन, वीरा, अनिता वर्मा, अर्चना वर्मा, वीणा सिंहा , वीणा तिवारी, निर्मला पुतुल आदि ।"[1] नब्बे के बाद भारतीय सामाजिक और पारिवारिक संदर्भ में आमूल-चूल परिवर्तन घटित हुआ फिर भी भारतीय गृहस्थी में स्त्री की स्थिति वैसी की वैसी ही रही । मात्र स्त्री लेखन में ही नहीं पुरुष लेखकों की कविताओं में भी सदियों से उत्पीडित घर की आधी सच्चाई की अभिव्यक्ति गहरी तलखी के साथ हुई है । उदाहरण के तौर पर अरुण कमल की कविता 'स्वप्न' को लिया जा सकता है । वे कहते हैं –" कभी नैहर चली गई / हफ्ते-माह पर थककर लौटी / हर बार मार खा भागी / हर बार लौटकर मार खाई / जानती थी वो कहाँ कोई रास्ता नहीं हैं / कहीं कोई अंतिम आसरा नहीं है / जानती थी वो लौटना ही होगा इस बार भी / गंगा भी अधिक दूर नहीं थी / पास ही थीं रेल की पटरियाँ / लेकिन वह जीवन से मृत्यु नहीं / मृत्यु से जीवन के लिए भाग रही थी / खूँटे से बाँधी बछिया –सी जहाँ तक रस्सी जाती, भागती / गर्दन ऐंठने तक खूँटे को डिगाती / वह बार-बार भागती रही / बार-बार हर रात एक ही सपना देखती / ताकि भूल न जाए मुक्ति की इच्छा / मुक्ति न भी मिले तो बना रहे मुक्ति का स्वप्न / बदले न भी जीवन तो जीवित बचे बदलने का यत्न"[2] प्रस्तुत कविता समकालीन औसत भारतीय गृहस्थी में नारी की स्थिति को बखूबी बयान करती है । विजय कुमार कहते हैं –"एक भारतीय घर परिवार में स्त्री के निरंतर विस्थापन, सींकचों को तोडकर कहीं पहुँचने की एक उद्दाम जीवन इच्छा, आधी निद्रा और आधे

[1] उत्तर – औपनिवेशिक विमर्श और हिन्दी कविता – संपादक – पी रवि –लेखक -के.के वेलायुधन – पृ.सं 130
[2] अरुण कमल – प्रतिनिधि कविताएँ - पृ.सं 90-91

जागने, आधी मृत्यु और आधे जीवन के बीचोंबीच टकराव, स्वप्न और मुक्ति के संदर्भ को यह कविता एक ऐसे अतिभौतिक स्तर पर व्यंजित करती जो सिर्फ और सिर्फ एक कवि द्वारा ही रचा जा सकता है।"[1]

स्त्री मुक्ति का माहौल तो वैश्विक संदर्भ में लगातार उभर रहा है, पर उसकी पहुँच भारतीय गृहस्थी की देहली लाँघ नहीं पा रही है। पुरुष वर्चस्ववाद ने स्त्री के लिए सदियों पहले जो मर्यादा निश्चित किया था उसका दायरा इक्कीसवीं सदी में और अधिक सिमट गया है । नवजागरण के समय में हमने जिस समता मूलक जीवन दृष्टि को आज़माया था उसका क्षरण इक्कीस्वीं सदी में तेज़ी से हो रहा है। आज उसे कायदे में रहने की सीख पति, समाज और सत्ता भी लगातार देते रहते हैं। परंपरा, संस्कृति और मूल्य के नाम पर स्त्री को घर की चार दीवारी के भीतर बन्द रखने की साज़िश आज इतनी है कि उसका प्रतिरोध करना उतना आसान नहीं रह गया है। कात्यायनी कहती हैं -

"घर के अलावा
जिसमें रहते हुए औरत औरत बनी रहे और
घर घर भी बना रहे ,
यानी वह न हो घर का हिस्सा
बल्कि उसकी एक बाशिंदा हो
बस इतनी-सी बात हुई थी कि
उसका पासपोर्ट जब्त कर लिया गया
और दुनिया के हर घर की
नागरिकता के लिए उसे अयोग्य घोषित कर

[1] विजय कुमार – कविता के पते-ठिकाने – पृ.सं – 21

दिया गया ।"[1]

गृहस्थी को बनाये रखने केलिए स्त्री अपनी सभी आकांक्षाओं को न्योछावर कर देती है फिर भी परिवार में उसकी स्थिति दोयम दर्जे की ही बनी रहती है। पहले तो स्त्री लेखन ने पुरुष वर्चस्व के इस रवैये का खुला विरोध प्रकट किया, फिर धीरे-धीरे स्त्री लेखन ने अपनी वयस्कता पाई। घर को घर बनाये रखने की नैसर्गिक क़ुवत तो स्त्री को ही प्राप्त है । आज स्त्री लेखन को यह एहसास है कि पुरुष वर्चस्व के खिलाफ खुला विद्रोह कभी-कभी घर को ही बरबाद कर देगा। इसीलिए खुले मोर्चे के बदले स्त्री लेखन तथा स्त्रीवादी लेखन आज पुरुषवर्चस्व को नारी जीवन की हकीकत से रूबरू करा रही है। निर्मला पुतुल कहती हैं –

"माँ को पता है पिता की नींद
और बच्चों की जिद्द
माँ को मेरी कविताओं के बारे में भी
बेहतर पता है
मगर अपने बारे में वह बेफिक्र है
उसकी झोली में सेवा, सहन और प्यार है
क्या माँ सचमुच धरती है जो कभी नहीं थकती है
तो हमसे कहीं दूर न चली जाए"[2]

समकालीन कविता में स्त्री लेखन में ही नहीं पुरुष लेखकों की कविता में भी नारी जीवन की यह हकीकत बराबर अभिव्यक्ति पाती है। विमल कुमार कहते हैं –

"तो लगभग चीखकर पूछा उसने घर से

[1] कात्यायनी – इस पौरुषपूर्ण समय में – पृ सं 69
[2] निर्मला पुतुल – माँ – वागर्थ जनवरी 2006 – पृ सं 27

तुमने क्यों ली आखिर मेरी माँ की जान
घर ने कहा
देखते हो मेरी हालत
पिछले दस सालों से में बारिश में भीग रहा हुँ
पाँच सालों से तो मुझे जुकाम है
और हर गर्मी में लग जाती है मुझे लू "[1]

समकालीन नारीवादी चिंतन पुरुष के ऊपर स्त्री के वजूद को स्थापित करना नहीं चाहता । पुरुष और स्त्री दोनों को वह अपनी अलग-अलग सत्तात्मक स्थिति में पहचानने लगा है । फिर भी दुविधा यह है कि स्त्री जीवन की हकीकत को पुरुष मुश्किल से पहचान पाता है । अनामिका कहती हैं- " दोषी पुरुष नहीं, वह पितृसत्तात्मक व्यवस्था है जो जन्म से लेकर मृत्यु तक पुरुषों को लगातार एक ही पाठ पढ़ाती है कि स्त्रियाँ उनसे हीनतर हैं, उनके भोग का साधन मात्र।"[2] यह सबसे बडी विडंबना है कि पुरुष द्वारा निर्मित वर्जनाओं के बीच अपने आप को बाँधे रखने में स्त्री भी अपनी सार्थकता खोज रही है। इस मानसिक गुलामी को तोडना समकालीन नारी चिन्तन की सबसे बडी चुनौती है। के.के वेलायुधन कहते हैं – "भारतीय सामाजिक जीवन में स्त्री की भूमिका पूर्व निर्धारित है। बेटी, बहन , बहु, पत्नी और माँ के परंपरागत 'रोल' में उसकी भूमिका दूसरे दर्जे की है । पुरुष वहाँ पर स्वामी है और स्त्री उसकी सेविका रह जाती है । उसका जीवन अभिशप्त एवं 'कंडीशंड' है। पारिवारिक संबन्धों में उसका स्थान महिमामंडित है, परंतु घर-परिवार की शान-शौकत को बनाए रखने में उसका जीवन बर्बाद है ।" [3] समकालीन कविता 'पुरुष द्वारा

[1] विमल कुमार – सपने में एक औरत से बातचीत – पृ .सं 66-67
[2] अनामिका - हंस – जनवरी –फरवरी 2000- पृ.सं -43
[3] उत्तर – औपनिवेशिक विमर्श और हिन्दी कविता – संपादक – पी रवि –लेखक -के.के वेलायुधन – पृ.सं 130

निर्मित स्त्री' के बरअक्स 'स्त्री' के असली वजूद को पहचानने और उसका एहसास दिलाने की पुरजोर कोशिश कर रही है । निर्मला पुतुल कहती हैं - "कहीं कोई घर नहीं होता मेरा / बल्कि मैं होती हूँ स्वयं एक घर / जहाँ रहते है लोग निर्लिप्त / गर्भ से लेकर बिस्तर तक के बीच / कई-कई रूपों में / धरती के इस छोर से उस छोर तक / मुट्ठी भर सवाल लिए मैं / दौडती –हाँफती-भागती / तलाश रही है सदियों से निरंन्तर / अपनी ज़मीन, अपना घर /अपने होने का अर्थ"[1] अपने होने के अर्थ को पुरुष द्वारा निर्धारित पैमाने पर नहीं अपने हिसाब से पहचानने की यह प्रणाली समकालीन नारी चिन्तन की सबसे बडी विशेषता है और स्त्री की यह सच्चाई सार्वजनीन भी है। अनामिका कहती हैं -

"दरअसल जो चुनी जा रही थी
सिर्फ जुएँ नहीं थीं-
घर के वे सारे खटराग थे
जिनसे भन्नाया पड़ा था उनका माथा
क्या जाने कितनी शताब्दियों से
चल रहा है सिलसिला
और एक आदि सखी
दूसरी उतनी ही पुरातन सखी के
छितराए केशों से
चुन रही है जुएँ , सितारे और चमकुल !"[2]

समकालीन स्त्री कविता का आविष्कार वैयक्तिक दिखाई देता है। लेकिन उसकी स्त्री व्यक्ति नहीं, पूरी स्त्री जाती ही हैं। उक्त स्त्री मुक्ति स्त्री व्यक्तित्व का प्रयोजन है।

[1] निर्मला पुतुल -नगाडे की तरह बजते है शब्द - पृ.सं 30
[2] अनामिका - दूब-धान – पृ.सं 68

इसलिए स्त्री जीवन से प्रत्यक्ष एवं परोक्ष से संबद्ध सभी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक क्षेत्रों को वह प्रश्नांकित करती है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि समकालीन कविता पूरी इमानदारी के साथ समकालीन भारतीय परिवार की आधी सच्चाई को हमारे सामने रख रही है। उसमें प्रतिरोध के तेवर के साथ समझदारी की व्यापक चेतना भी सक्रिय है ।

3.2 समकालीन कविता में माँ

शैशवावस्था में हर जीव-जन्तु का सबसे सुरक्षित स्थान माँ की गोद ही होती है। कुदरत ने माँ को ऐसी बहुत सारी क्षमताओं से भरपूर बनाया है जिसके बदौलत ही कोई भी जीव-जन्तु उत्तरजीवित रह पाते है। माँ की इस अतुलनीय क्षमताओं के संबन्ध में बहुत सारे अनुसंधान हुए हैं। मोरगन ने सबसे पहले कहा था कि परिवार का आदिम रूप मातृ-सत्तात्मक रहा है। समकालीन संदर्भ में भी परिवार माँ पर विशेष रूप से आधारित होता है। माँ के बिना 'घर' कभी 'घर' नहीं बन पायेगा। माँ के बिना 'पिता' घर को संभाल तो सकते हैं पर 'माँ' में जो सहजता है वह वे बहुत जतन से ही आर्जित कर पायेंगे। समकालीन कविता माँ की इस अहम भूमिका को बहुत गहराई में संवेदित कराती है।

नारी में एक तरफ़ पितृसत्तात्मक घर के सदियों से चले आ रहे उत्पीडन का प्रतिरोध है तो दूसरी तरफ 'माँ' होने का एहसास भरपूर है। यह अंतर्द्वद्व समकालीन कविता में बराबर अभिव्यक्ति पाता है। सब को तोड देना माँ की फ़ितरत कभी नहीं रही। वह घर को जतन से जोडती रहती है। अनामिका कहती हैं –

"एक दिन पुच्छल तारे की बेचैनी में
सिर धुनकर
बृहस्पति से टकराने के पहले

मैंने सोचा-
मेरे पीछे मेरे इतने बडे कुनबे का
आखिर क्या होगा ?
यह सोचकर मैंने टक्कर स्थगित की,
और मन बदलने के खातिर
घर की छोटी-मोटी चीज़ों के बारे में सोचने लगी "[1]

बृहस्पति यानि पति से टकराने का चाहे सौ कारण हो पर माँ हमेशा अपने परिवार को बनाये रखने के खातिर सब कुछ सहन कर लेती है। इस उत्तर आधुनिक दौर में भी माँ का इतिहास परिवार की मामूली सी लगने वाली बातों से रूपायित होती है, अनामिका कहती हैं-

"तोषकों के नीचे
चिट्ठियाँ, रसीदें, एक्स-रे , रक्त की रपट
और बच्चों के प्रश्नपत्र
मिलजुलकर रहते हैं !

तोषकों पर जो
स्याही के, दूध और बच्चों की शू-शू के
अनगिनत चकते हैं –
इन्हीं चकतों में से
झाँक रहा है मेरे जीवन का
नन्हा – सा इतिहास !"[2]

[1] अनामिका – दूब-धान – पृ.सं 90
[2] अनामिका – दूब-धान - पृ.सं -64,65

चाहे दुनिया लाख क्यूँ न बदली हो पर माँ के मातृत्व की सहजता पर कोई आँच नहीं आयी है। लगातार उपभोगवादी और स्वार्थपरक होने वाली दुनिया में माँ का मातृत्व ही मानवता का एकमात्र संबल शेष रह गया है।

जैविक रूप से ही पुरुष मानसिकता आक्रामक रही है। एक व्यक्ति में पुरुष मानसिकता और स्त्री मानसिकता का समायोजन मानवता केलिए नितांत ज़रूरी है । पुरुष मानसिकता समावेशी नहीं होती। तोडना और तहस नहस करना उसकी फ़ितरत है। समकालीन उपभोगवादी जगत में स्वार्थ सिद्धि के निमित्त पुरुष मानसिकता को काफी बढावा मिल रहा है। स्वार्थ हमेशा व्यक्ति को अकेला कर देता है । निराश और हताश होने के क्रम में व्यक्ति जब टूटने लगता है तब उसके मन पर पडी मातृछवि ही उसका एकमात्र संबल रह जाती है। अशोक वाजपेयी कहते हैं – "विफलता के बेराहत ओसारे में बैठे मैं जानता हूँ / मैंने शायद तहस-नहस कर दिया अपने जीने के आशय को; / मैं हाशिये पर बैठा हुआ / उदास मन देखता हूँ / एक चकाचौंध दृश्य को / जिसमें मेरे लिए कोई जगह नहीं । / मैं हार नहीं मानता हूँ / हालाँकि मैं जानता हुँ कि अंततः मेरी जीत नहीं हो सकती / कभी-कभी मुझे लगता है कि मुझमें बाकी है / हारकर भी अपनी लड़ाई जारी रखने की ज़िद / जो मेरी माँ की आदत थी । "[1] चकाचौंध करते दृश्यों के बीच समकालीन मनुष्य का वजूद कहीं का नहीं रह गया है। हार कर भी अपनी लडाई ज़ारी रखना उतना आसान नहीं होता पर माँ तो हमेश ज़िन्दगी में हारने के बावजूद लड़ती रहीं है। समकालीन मनुष्य के लिए टूटकर बिखर जाने से पहले माँ की इस आदत से वाकिफ़ होना ज़रूरी है।

[1] अशोक वाजपेयी - समय के पास समय - पृ.सं 51

3.2.1 स्मृति बोध में माँ

माँ की गोदी में जिस प्रकार हर जीव-जन्तु शैशवावस्था में अपने आपको सुरक्षित महसूस करते हैं वैसे मनुष्य भी समकालीन जीवन की काहिली से कुछ देर ही सही बचने केलिए माँ की गोदी में लौटना चाहते हैं। टोकर खाकर गिरने पर माँ पुकारना जैसे मनुष्य की जैविक आदत है। समकालीन समय में जहाँ हम चारों तरफ से अमानवीयता के घेरे में है वहाँ कविता मानवीयता को बचाये रखने के जतन में हमेशा माँ की गोदी में शरण लेना चाहती है, इसी कारण समकालीन कविता में माँ का स्मृति बोध बराबर अभिव्यक्ति पायी है। प्रयाग शुक्ल कहते हैं –

"पार कर जीवन को
कहाँ मैं चला गया –
लौटा जब ,वैसे ही भीड थी
वैसे ही चहल-पहल ।
वैसे ही हाथ वह
पीठ पर मां की,
रहा उछल

कितना वह दीर्घ पल "[1]

प्रयग शुक्ल अपनी 'एक रविवार को' नामक कविता में माँ की छवी को गहरी संवेदनात्मक धरातल पर उभारते हैं । ज़िन्दगी के भागमभाग में थका-माँदा कवि के लिए माँ की स्मृति ही एक मात्र संबल रह गया है । "इडली, डोसा, उपमा / तभी वह दिखी- माँ" [2] बचपन में जिस प्रकार माँ खाना खिलाती थी, सान्त्वना देती थी , पुचकारती थी इस की अमिट छाप कवि के दिल में बहुत गहरी पडी है । ज़िन्दगी के

[1] प्रयाग शुक्ल – यहाँ कहाँ थी छाया - पृ.सं 23
[2] प्रयाग शुक्ल – यहाँ कहाँ थी छाया - पृ.सं 22

काहिली से बचने केलिए कवि माँ की उसी गोदी में शरण लेना चाहता है । माँ की स्मृति के उन पलों को दीर्घ पल के रूप में कवि दिल में संजोये हुए हैं ।

समकालीन कविता की स्मृति में माँ की अभिव्यक्ति एक तरफ समकालीन जीवन की काहिली से मुक्ति के एकमात्र रास्ते के रूप में हुई है तो दूसरी तरफ उसकी अभिव्यक्ति सदियों से दूसरों के खातिर अपना सब कुछ न्योछावर करने वाली माँ की हकीकत को बयान करते हुए हुई है । युवा कवि सुशान्त सुप्रिय अपनी कविता 'माँ' में माँ की इसी हकीकत को उजागर करते हैं । माँ कवि के लिए एक उपेक्षित उपन्यास की तरह है जिस का मात्र एक शब्द बनकर उसने जन्म पाया था । कवि कहते हैं – "हालाँकि वह उपन्यास / विधाता की लेखनी से उपजी / एक सशक्त रचना थी / आलोचकों ने उसे / कभी नहीं सराहा / जीवन इतिहास में / उसका उल्लेख तक नहीं हुआ / आखिर क्या वजह है कि / हम और आप / जिन उपन्यासों के / शब्द बन कर / इस धरती पर आए / उन उपन्यासों को / कभी कोई पुरस्कार नहीं मिला "[1] खुद भूखा रहकर भी माँ हमेश बच्चों के पेट की चिन्ता से बेचैन रहती है पर कोई भी माँ की भूख की नहीं पूछती । बडे होकर अनायास ही उस माँ को अकेली छोडकर जाने से युवा पीढी कतई हिचकती नहीं । भले ही भौतिक रूप से समकालीन मनुष्य माँ से दूर हो गये हो पर उसके दिल की गहराई में पडी मातृछवि से वह कैसे दूर होंगे । प्रियदर्शन कहते हैं –

"मैं छुपा रहा था वे रचनाएँ वे लेख
जिनमें उसकी बीमारी और मौत का जिक्र था
मैंने पूछा तुम्हें पता है , मेरी किताब छपी, मेरा एक बेटा है
उसे पता था

[1] सुशान्त सुप्रिय – इस रूट की सभी लाइनें व्यस्त हैं – पृ.सं 19-20

हम बहुत देर तक साथ रहे,
उसने बताया, रात साढे नौ उसे नींद आने लगती है
न जाने किस शहर का ज़िक्र वह करती रही
मुझे लगता रहा वह सिर्फ मेरे बारे में सोच रही है
अपनी परेशानी , अपनी बीमारी और अपनी मौत से बेखबर । "[1]

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि जो हमें सर्वाधिक प्रिय है उनके इस दुनिया से चले जाने के बाद हमारे सपनों में आना एक विशिष्ट अनुभव बन जाता है । हमें लगेंगे कि हम उनके साथ कुछ पल जी लिए है । मरने के उपरांत कवि के सपने में माँ का लौटना अनुभूति और संवेदना की गहनता लिए हुए है । ज़िन्दगी भर माँ दूसरों की ही परवाह करती रही इसका सच्चा एहसास माँ के मरने बाद ही कवि को होता है । सपने के बाद कवि के दिल की गहराई में बसी मातृछवि फिर से तरोताज़ा हो जाती है –

"यह आठ दिसम्बर की सुबह का सपना था
जब आँख खुली
तो लगा , ऐसी उजली, ऐसी मुलायम, ऐसी शान्त सुबह
तो जीवन में कभी आई ही नहीं "[2]

विडंबना यह है कि माँ की अहमियत का एहसास उसके पास रहते या जीते जी हम को नहीं हो पाते। उसके इस दुनिया से चले जाने या दूर होने पर उसके आँचल में कुछ देर जीवन की काहिली से थककर हम शरण लेना चाहेंगे। चन्द्रकान्त देवताले कहते हैं –"वे दिन बहुत दूर हो गए है / जब माँ के बिना परसे / पेट भरता ही नहीं था / वे दिन अथाह कुएँ में छूट कर गिरी / पीतल की चमकदार बाल्टी की तरह / अभी भी दबे हैं

[1] प्रियदर्शन – नष्ट कुछ भी नहीं होता – पृ.सं 35
[2] प्रियदर्शन – नष्ट कुछ भी नहीं होता –- पृ.सं 35

कहीं दूर"[1] ज़िन्दगी की भाग-दौड में माँ का वह ममता भरी आँचल हमसे दूर हो गया है । पर तेज़ भागते हुए जब कदम लड़खडाने लगते हैं और ज़िन्दगी प्रेम विहीन हो जाता है तभी हमें माँ का वह ममता भरा आँचल याद अता हैं ।

"अपने बीवी-बच्चों के साथ खाते हुए
अब खाने की वैसी राहत और बेचैनी
दोनों ही गायंब हो गयी हैं

अब सब अपनी-अपनी ज़िम्मेदारी से खाते हैं
और दूसरों के खाने के बारे में एकदम निश्चिन्त रहते हैं
फिर भी कभी-कभार मेथी की भाजी या बेसन होने पर
मेरी भूख और प्यास को रत्ती-रत्ती टोहती
उसकी दृष्टि और आवाज़ तैरने लगती है

और फिर मैं पानी की मदद से
खाना गिटक कर कुछ देर के लिए
उसी कुएँ में डूबी
उन्हीं बाल्टियों को ढूढ़ता रहता हूँ।"[2]

माँ दरअसल एक पुल है जो घर को इस छोर से उस छोर तक बाँधा रखता है । उस पर चलते हुए हमें कभी उसके वजूद का एहसास नहीं होता है। नरेन्द्र पुण्डरीक कहते हैं –"पिता के बाद / हम भाइयों के बीच / पुल बनी माँ / अचानक नहीं टूटी / धीरे धीरे टूटती रही / हम देखते रहे और / मानते रहे कि / बूढ़ा रही है माँ / माँ के बार बार कहने को /हम मान कर चलते रहे / उसके बूड़े होने की आदत और /

[1] चन्द्रकान्त देवताले – उसके सपने , कविता चयन – पृ.सं 57
[2] चन्द्रकान्त देवताले – उसके सपने , कविता चयन – पृ.सं 58-59

अपनी हर आवाज़ में /धीरे धीरे टूटती रही मां "[1] माँ तिल-तिल कर टूट रही थी इसका अहसास कवि को उसके चले जाने के बाद ही होता है। दरअसल यह समकालीन मनुष्य की विडंबना है। जीवन में लगातार तरक्की करते जाने की क़सीदा पढ़ाने वाले समय के साथ पग से पग मिलाने के खातिर मनुष्य ज़िन्दगी से बहुत कुछ मूल्यवान दरकिनार कर देते हैं । इसका अहसास उसे बाद में चलकर ही होता है । -

"जब तक जीवित रही माँ
हम बदलते रहे अपने कंधे
माँ आखिर माँ ही तो है
बार बार हमें कंधे बदलते देख
हमारे कंधों से उतर गई माँ
और माँ के कंधों से उतरनते ही
उतर गये हमारे कंधे"[2]

घर को घर बनाये रखने की माँ का जतन बेशक़ीमती है। पिता घर को संभाल तो सकते हैं पर एक रोटी से ही सही घर भर के पेटों को भरे रखने की कुवत तो माँ को ही हासिल है। हताश और निराश होने पर अनायास माँ की शरण में दौडना तो मनुष्य का जैविक चरित्र है। संबन्धों के बिखराव के समकालीन दौर में भी मातृछवि हमें आश्वस्त करती हुई दिल की अतल में कहीं रच बसी हुई है । समकालीन कविता लगातार इस मातृछवी को उभार कर मानवीयता के स्रोतों को सूखने से बचा रही है।

3.3 समकालीन कविता में पिता

समकालीन कविता में 'पिता' नॉस्टाल्जिया बनने से बढ़कर देशज अस्मिता का स्मृतिबोध बनकर उभरा है । जब कविता से आधुनिकतावाद का कुहरा हटने लगा

[1] नरेन्द्र पुण्डरीक – इन हाथों के बिना – पृ.सं 23
[2] नरेन्द्र पुण्डरीक – इन हाथों के बिना – पृ.सं 23

तब से कविता में पिता की आदिम संस्कृति को निभाने का जज़्बा बराबर अभिव्यक्ति पाने लगा था । साठोत्तर कविता इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है । वादों के भीहट में रहते हुए भी साठोत्तर कविता में पिता का स्मृतिबोध विभिन्न स्तरों पर अभिव्यक्ति पाया है । नागार्जुन, त्रिलोचन , सर्वेश्वर दयाल सक्सेना , केदारनाथ सिंह और रघुवीर सहाय की कविताओं में 'पिता' देशज अस्मिता के ठोस आधार लेकर उपस्थित हुआ है ।

नब्बे के बाद समकालीन कविता में पिता की आदिम संस्कृति को निभाने का जज़्बा और अधिक सशक्त होने लगा था। सन् 1995 में प्रकाशित केदारनाथ सिंह का काव्य संकलन 'उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ' पिता के स्मृतिबोध से सघन है । प्रस्तुत संकलन की 'जडें 'नामक कविता प्रतीकात्मक रूप से पिता की इसी छवि को उभार रही है –

"दिन भर की तपिश के बाद
ताज़ा पिसा हुआ गरम-गरम आटा
एक बूढ़े आदमी के कन्धों पर बैठकर
लौट रहा है घर
मटमैलापन अब भी
जूझ रहा है
कि पृथ्वी के विनाश की ख़बरों के ख़िलाफ
अपने होने की सारी ताक़त के साथ
सटा रहे पृथ्वी से ।"[1]

[1] केदारनाथ सिंह – उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ - पृ.सं 110

अपने वजूद और मिट्टी की यही महक वास्तव में अमानवियता के हर मुहिम का प्रतिवर्चस्व रचती है । आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के चलते व्यक्ति की सामूहिकता में जो ख़लल पडी थी उस सामूहिकता को फिर से पाने के लिए समकालीन कविता पिता के स्मृतिबोध की कुल जमा पूँजी को फिर से टटोल रही है । पर टूटने के क्रम में जो टूट गया है उसे ठीक उसी तरह पाना कैसे संभव होगा अपनी लंबी कविता 'बाघ' में केदार नाथ सिंह कहते हैं –

"उसे चाहिए वही
और सिर्फ वही बाघ
जो टूटने से पहले वह था"[1]

पिता के स्मृतिबोध से सघन त्रिलोचन कवि को आश्वस्त करते हैं – "कहीं न कहीं / किसी कुम्हार की आखों में / होगा ज़रूर / जस का तस "[2] कवि की दुविधा यही है कि एक बार जो टूट गया है उसे फिर से कैसे जोडा जाए । पर कवि ने त्रिलोचन पर शक नहीं किया चल दिया उसके साथ –

"मैंने शक नहीं किया
हो लिया उसके साथ
तबसे कितना समय बीता
हम अब भी चल रहे हैं
आगे आगे कवि त्रिलोचन
पीछे पीछे मैं
एक ऐसे बाघ की तलाश में
जो एक सुबह धरती पर गिरकर

[1] केदारनाथ सिंह - बाघ – पृ.सं 40
[2] केदारनाथ सिंह - बाघ – पृ.सं 41

टूट जाने से पहले
वह था "[1]

पिता का यह सघन स्मृतिबोध हमारी अपनी मिट्टी से टूटे हुए बाघ को जोडने की आकांक्षा रख रही है । बाघ को जस का तस बनाने के लिए स्मृतिबोध की वह सामूहिकता फिर से पानी होगी जो कहीं बिखर गयी है ।

समकालीन युवा कवियों की कविताओं में भी पिता का यह स्मृतिबोध सघन है । समकालीन समय में निकल रहे किसी भी हिन्दी काव्य संकलन में प्रायः पिता पर एक या दो कविताएं तो दिख ही जाती हैं । समकालीन जीवन में जहाँ व्यक्ति लगातार अपनी इयत्ता खोकर इत्यादि में बदलने केलिए अभिशप्त है वहाँ अपने वजूद को फिर से पाने के लिए पिता की आदिम संस्कृति की ओर लौटना अनिवार्य-सा है । जितेन्द्र श्रीवास्तव कहते हैं –

"फिर भी हमें भूलना नहीं चाहिए
कि हम गुलामी के खिलाफ उबले
उस खून की विरासत हैं
जिसमें हम गलत वक्त में पैदा हुए
यह कहने से बेहतर होता है
अपनी पैदाइश को सही साबित करना

और मित्रों ! यह सब बताने वाले
मेरे पिता के गए अभी
कुछ ही दिन हुए है । "[2]

[1] केदारनाथ सिंह - बाघ – पृ.सं 41
[2] जितिन्द्र श्रीवास्तव – अनभै कथा - पृ.सं 68-69

पिता का यह स्मृतिबोध दरअसल समकालीन कविता का वह तापमान है जो प्रतिकूलताओं में भी मानवीय संबन्धों की ऊष्मा को बरकरार रख रहा है । मानवीयता को भरसक अवसाद के घेरे में रख रही उत्तर पूँजी के हर साज़िश से भिड़ने की शक्ति अब पिता के सघन स्मृतिबोध में ही शेष है । समकालीन कविता पिता के इसी स्मृतिबोध से ऊर्जा ग्रहण कर अवसाद के दायरे को कम करने की जद्दोजहद कर रही है ।

3.3.1 समकालीन कविता में पिता की घिसती घड़ी

समकालीन कविता में एक तरफ पिता का स्मृतिबोध सघन है तो दूसरी तरफ उपभोग की उत्सव धर्मिता के चलते लगातार पीछे खिसक रही पिता की बेबसी गहरी टीस के साथ अभिव्यक्ति पाई है । बाज़ार हमेश चाहता है कि सामूहिकता बिखरे रहें । बाज़ार केलिए महत्वपूर्ण व्यक्ति की क्रय क्षमता ही है । व्यक्ति की पसंदीदा चीज़ें सामूहिकता के आधार पर चुने जाने पर बाज़ार घाटे में पडेगा । इसीलिए बाज़ार झुंड संस्कृति को हमारी यथार्थ संस्कृति के स्थान पर प्रतिस्थापित करने की कोशिश करता रहता है और इसके चलते पिता लगातार फालतु प्रतीत होना शुरू होता है । जितेन्द्र श्रीवास्तव कहते हैं - "जहाँ रखी जाती थी सजाकर किताबें / वहीं सजे है पाप संगीत के एलबम / दादरा-ठुमरी और विरह कौन सुने / परिवार को क्लब से फुर्सत नहीं / ऐसे में बहुत दिन हुए पिता को अपना मनपसंद गीत सुने / बहुत दिन हुए उनके सिवन वाले पीपल में पत्ते नहीं आए / बहुत दिन हुए वे अपनी पसन्द के लोगों से नहीं मिले / बहुत दिन हुए नदी रेत में उनके पाँव नहीं जले / बहुत दिन हुए उन्होंने बाजरे की रोटी नहीं खाई / बहुत दिन हुए राह चलते उन्हें ठोकर नहीं लगी / चारपाई सो चौके तब पिता / ढूँढे तो क्या ढूँढे "[1] समकालीन समय में ढूँढने के लिए पिता के पास

[1] जितेन्द्र श्रीवास्तव - अनभै कथा - पृ.सं 76

कुछ बचा ही कहाँ है ? उपभोगवाद के अन्धाधुंध में तरक्की के पीछे दौड रहे हम यह नहीं समझ पा रहे हैं कि मानव जीवन से महत्वपूर्ण बहुत कुछ बिखरते गये हैं।

अपनी पूर्व पीढ़ी के मुकाबले समकालीन मनुष्य सुखी है या नहीं, यह समाज शास्त्र, नृतत्व शास्त्र और मनोविज्ञान में गहरा अनुसंधान का विषय है । विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने हमें बहुत सारी सुविधाएँ मुहय्या कराई है जिन से ज़िन्दगी पहले के बदौलत आसान तो हुई है पर क्या हमें इन आविष्कारों की वजह ज़्यादा खुशी नज़ीब हुई है ? सच्चाई यह है कि सूचना प्रौद्योगिकी के समकालीन युग में व्यक्ति-व्यक्ति के बीच की भौतिक दूरी को तो 'सूचना' ने पाट ली पर मानसिक दूरी पहले से अधिक बढ गयी है । राजेश जोशी कहते हैं – "औद्योगीकरण ने ऐसी स्पेसेस को निर्मित किया था या ऐसा करना उसकी बाध्यता थी जिसमें एक ही वर्ग के बहुत सारे लोग एक ही समय में, एक ही जगह इकट्ठे होते थे । उनमें अलगाव और जुडाव की प्रक्रियाएँ ,साथ-साथ घटित होती थीं । प्रौद्योगिकी ने ऐसी बड़ी स्पेसेस को लगभग खत्म-सा कर दिया है । वह छोटे-छोटे केबिन या छोटी स्पेसेस बनाती है जिसमें एक-दो या लगभग उँगलियों पर गिने जा सकने लायक लोग ही एक जगह, एक समय के लिए उपस्थित होते हैं । काँच के पारदर्शी केबिन बगल वाले की उपस्थिति का अहसास भले कराते हों लेकिन उसके साथ संवाद करने की सुविधा अक्सर नहीं देते । इस असंवादी स्थितियों के बीच अनुभव की जगह सिकुड़ रही है । अनुभव और ज्ञान की जगह सूचना ने अधिगृहित कर ली है । अन्तर्राष्ट्रीयता का बोध बदल चुका है । अब वह सूचनाओं का या इन्टरनेट चिट-चेटिंग का हिस्सा है । उस बोध को अर्जित करने की आवश्यकता नहीं है , वह रेडीमेड रूप से उपलब्ध है "[1] । छवियों के अंबार में से असलियत को पहचानने की पहली जैसी कोई संभावना अब शेष नहीं रह गयी है। राजेश जोशी के ही शब्दों में – "हमारी आँख आज से पहले कभी इतनी अधिक रंग-बिरंगी और प्रतिक्षण बदलती

[1] राजेश जोशी - एक कवि की दूसरी नोट बुक: समकालीनता और साहित्य – पृ.सं 27

इमेज़ेज़ से नहीं घिरी रही । इलेक्ट्रानिक मीडिया ने चारों ओर बिम्बों का एक मेला–सा रच दिया है । बिम्बों की इस अतिशयता ने हमारे देखने, सोचने, समझने और हमारे पूरे व्यवहार को वैसे नहीं रहने दिया है जैसा वह दो-ढाई दशक पहले था । दिक और काल का वह बोध भी जो अस्सी के दशक से पूर्व था, बहुत कुछ बदल चुका है या बदलता जा रहा है ।"[1] बदलाव की गति जितनी तेज़ है उसको व्यक्त करने का कौशल हम उतनी ही तेजी से प्राप्त नहीं कर पा रहे है । ऐसी स्थिति में पिता हमारेलिए वह पालतु बूढा मात्र रह जाता है जो घर की सारी बातों में व्यर्थ टांग अडाता रहता है । मोहन कुमार डहेरिया कहते हैं –

"उफ ये कैसा बूढा है
अक्सर खडा रहता है अपने ही घर के सामने
पूछता हर किसी से
कौन सी सुरंग ठीक रहेगी
इस घर के मर्म तक पहुँचने के लिए "[2]

पुरानी चीज़ें नई पीढ़ी के लिए कुछ खास मायने नहीं रखतीं । नित नवीन तकनीकों से लैस समकालीन समय केलिए ऑउट डेटेड होने का दर अब घण्टों में बदल गया है । ऐसी स्थिति में पुरानी चीज़ों की क्या हैसियत शेष रह जाएँगी । विष्णु खरे कहते है -

"पुरानी चीज़ों की दुकान के जाँगले के पास
मुडकर खड़ा हुआ बूढा
दूरबीन बेच रहा है

[1] राजेश जोशी - एक कवि की दूसरी नोट बुक: समकालीनता और साहित्य – पृ.सं 28
[2] मोहन कुमार डहेरिया – वागर्थ – दिसंबर 2014 – पृ सं 56

'बेच रहा है' कहना शायद गलत है
वह सिर्फ हाथ में दूरबीन लिए खडा हुआ है
और हर नए देखने वाले के आने पर थोडा हिलाता है
बस इतना कि उस संभावित ग्राहक को
वह और उसके हाथ में लचकी दूरबीन दिख जाए

जो टिकाऊ और भारी है- पुरानी , उपयोगी चीज़ों की तरह
भले ही उसका पट्टा समय की दीमकों ने इधर-उधर से कुतर लिया है "[1]

समकालीन समय में भी ऐसी बहुत सारी चीज़ें अब भी शेष हैं जो आज तक ऑउट डेटेड नहीं हो पाई है । शेष बची इन खास चीज़ों के ऑउट डेटेड होने का मतलब होगा मानवीयता का ऑउट डेटेड होना । एकांन्त श्रीवास्तव अपने पिता के देहान्त के बाद उन्हीं की घडी को अपने कलाई पर बाँधता है । भले ही पिता की पुरानी घडी अपनी बनावट में चमक धमक वाली न हो पर कवि का स्मृति बोध उसे पहनने के लोभ को संवरण नहीं कर पाया था । इसीलिए कवि ने घड़ी के केस,बेल्ट , डायल, ,सूई और ग्लास को आधुनिक काया में बदल दिया । उसका नवीकरण किया-"यहाँ तक कि बदल गया कैप / मगर राड रहा वही पुराना / रही वही पुरानी मशीन ।"[2] पर कवि को भी इसका एहसास है कि पिता की पुरानी घडी सर्वथा समय की तेज रफतार से पग मिलाने में असमर्थ है । इसीलिए ही वह उसे पूर्ण रूप से अपडेट कर देता है । चाह कर भी वह पित के स्मृति पुंज को, उसके संस्कृति को पूर्ण रूप से स्वीकर नही कर पाता । कवि के मन की यही कशमकश कविता में अभिव्यक्ति पाई है-

"इसे पहनकर चलते हुए

[1] विष्णु खरे - पिछला बाकी - पृ.सं 79
[2] एकान्त श्रीवास्तव – बीज से फूल तक - पृ.सं -62

मैं तय नहीं कर पा रहा था
कि मुझे खुश होना चाहिए या उदास
वह कुछ पराई लग रही थी ,कुछ अपनी
जैसे पुरखों का कोई स्वप्न हो
नई आँख से झाँकता हुआ ।"[1]

मानवीय संबन्धों के लिए बहुत अहम कुछ न कुछ दिनों दिन समकालीन जीवन से झर रहा है । अपने वजूद से खाली हम दिनों दिन खोखले होते जा रहे हैं । पिता की आदिम संस्कृति को निभाना यानी अपने सर ज़मीन से वास्ता रखना पिछडेपन का लक्षण माना जाने लगा है । उत्तर संस्कृति की यह जड विहीनता कोई अनिवार्य परिणाम के रूप में नहीं वरन् एक प्रायोजित परिणाम के रूप में पनप रही है । समकालीन कविता जडों से कट रहे हमें पिता के बिम्ब के माध्यम से लगातार अगाह कर रही है कि मानवीय संबन्धों में जो ऊष्मा शेष है उसे बचाना मानवता के उत्तर जीवन के लिए नितान्त ज़रूरी है ।

3.4 समकालीन कविता में स्त्री- पुरुष संबन्ध

परिवार का आधार भूत तत्व तो स्त्री पुरुष संबन्ध ही है । मात्र परिवार के ही नहीं पूरे मानवीय संबन्धों की बुनियाद को हम स्त्री-पुरुष संबन्धों में देख सकते हैं । उत्परिवर्तन के क्रम में अन्य जीव जन्तुओं की अपेक्षा मानव में स्वच्छन्द प्रेम (Romantic Love) उत्तर जीवन के निमित्त ही प्रगाढ़ रूप से रूपायित हुआ था । बिल्कुल असहाय होकर जन्म लेने वाले मानव शिशु के लिए माता पिता का सामीप्य नितान्त ज़रूरी है । माता पिता का संबन्ध जितना दृढ होगा मनव शिशु के उत्तरजीवन की संभावना उतनी ही बढ़ेगी । उत्तरजीवन की इस बुनियादी ज़रूरत के मुताबिक ही

[1] एकान्त श्रीवास्तव – बीज से फूल तक - पृ.सं -62

स्त्री-पुरुष संबन्ध प्रगाढ और जटिल रूप से रूपायित हुआ था । डॉ के .जी प्रभाकरन कहते हैं–"प्रेम आदिम अनुभूति है । प्रेम का स्वप्न मानों करोड़ों वर्ष पुराना है । समय के वाद्य में प्रणय की करोड़ों बरस पुरानी धुन बजती रहती है । प्रणय में कामनाएँ प्रबल हैं प्रणय के आनंद को समूचा ही प्राप्त करने की ललक प्रेमी में रहती है । "[1] मनुष्य की कलात्मक चेतना को यह स्वच्छन्द प्रेम सदियों से मथता चला आ रहा है । समकालीन कविता में भी स्त्री-पुरुष संबन्ध अपने पूरे संवेगों के साथ उपस्थित है ।

समकालीन कविता में स्त्री-पुरुष संबन्ध अपने पूरी संवेग, उद्वेग और मांसलता के साथ उपस्थित हो कर भी स्त्री को भोग्या मानने की रीतिकालीन अश्लीलता से कोसों दूर है । प्रेम के उद्दाम क्षणों की अभिव्यक्ति समकालीन कविता में कोई वर्जित क्षेत्र नहीं है । पुरुषवर्चस्व को चुनौती देती हुई भी वह स्त्री लेखन का भी महत्वपूर्ण हिस्सा बन गया है । स्त्री-पुरुष प्रेम के उद्दाम एवं निर्बाध गहरे प्रवाह को उजागर करते हुए जितेन्द्र श्रीवास्तव कहते हैं –

"मध्य जनवरी की धूप में
लडकियाँ चूम रही हैं अपने-अपने प्रेमी का चेहरा
एक किले के खँडहर के अलग-अलग कोनों में विहँसती
ठंड पिघल रही है मोम की तरह
चेहरे उजास से भरे हैं
देह की नदी में बह रही है मन की नाव
कोई सुधि नहीं है किनारे की
उन्हें डर है

[1] डॉ के.जी प्रभाकर – कवियों के बहाने वर्तमान पर बहस –पृ.सं 93

किनारे रोक देते हैं बहाव को "[1]

बहाव को रोकने की किनारों की साज़िश समकालीन दौर में कम नहीं हुई है । एक तरफ जाति और परंपरा की कठमुल्लापन है तो दूसरी तरफ लगातार कृत्रिम हो रहे मानवीय संबन्ध है । हेमन्त कुकरेती लगातार कृत्रिम हो रहे मानवीय संबन्धों के बीच प्रेम के अस्तित्व को ढूँढ रहा है - "मैं उन्हें बताता हूँ कि / वक्त की मार से पहले / मैंने भी किये प्रेम / कुछ था उनमें जो कहता / 'छुओ मुझे '/ मेरे ही कारण तुम / अलग लगोगे / जो कर सकते है प्रेम / मैं उन्हें ढूँढता हूँ " [2] प्रेम तो शरीर से शुरू होता है पर वह कभी भी शरीर तक सीमित नहीं रहता । उद्विकास क्रम में मानवीय प्रेम संबन्ध ने अन्य जीव जन्तुओं की अपेक्ष बहुत सारी अद्वितीय क्षमताएँ अर्जित की है । तन से शुरू होकर वह लगातार तन के परे जाने की ओर प्रवृत्त रहता है । सुनीता जैन कहती हैं -

"न पुरुष आसक्त था स्त्री पे
न स्त्री आसक्त थी पुरुष पे

सम्बन्ध किन्तु तन गए थे
तन की सीमा से परे

अब जकड में इसकी दोनों
सोचते है, क्या करें " [3]

सच्चा प्रेम हमेशा खोखली नैतिकता को तहस नहस करते आया है । समाज में जब पुरुष सत्ता वर्चस्व प्राप्त करने लगा तब से नैतिकता का पैमाना स्त्री की यौन शुचिता के आधार पर रूपायित होने लगा था । भारत के विशेष संदर्भ में अंग्रेज़ी शासन के

[1] जितेन्द्र श्रीवास्तव - असुन्दर-सुन्दर - पृ सं 79
[2] हेमन्त कुकरेती - कभी जल कभी जाल – पृ.सं 22-23
[3] सुनिता जैन - रसोई की खिड़की में – पृ.सं 23

दौरान विक्टोरियायी नैतिकता अतिनैतिकतावादी स्वरूप में उबरने लगी थी । मैरी ई. जॉन और जानकी नायर द्वारा संपादित 'कामसूत्र से 'कामसूत्र' तक' पुस्तक में कहा गया है "अंग्रेज़ों की रानी विक्टोरिया के नाम से प्रचलित विक्टोरियायी युग अपने अतिनैतिकतावाद या शुद्धतावाद के लिए मशहूर है "[1] इसी के चलते भारतीय नैतिकताबोध ने भी स्त्री की यौन शुचिता को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानना शुरू किया था । "बंगाली भद्रलोक पुरुषों के व्यभिचार को नज़रअंदाज कर सकता था, पर स्त्री का प्रकरण खुल जाने पर उसे वेश्या करार दिया जाता था ऐसी स्त्री तकरीबन अछूत घोषित कर दी जाती थी । लेकिन, वेश्यावृत्ति केवल एक गिरा हुआ पेशा ही नहीं थी । वेश्याओं का अस्तित्व विभिन्न सामाजिक –आर्थिक मुकामों पर था , भले ही हिंदुओं की श्रेणीबद्ध समाज व्यवस्था उन्हें सबसे नीचे के खाने में डालती हो "[2] पर स्त्री को जकडे रखने की नैतिकता की हर मुहिम लगातार प्रेम के आगे निश्चेष्ट होती ही रही है । अनामिका कहती हैं -

"वो जो मैंने एक बंगाली फिलिम में कभी देखे थे –
एक वृद्धा वेश्या के लिए
पन्द्रह मील पैदल जाके लाये थे समोसे
उसके बचपन के किसी साथी ने –
ये इक बात मुझको ज़िन्दा रखती है
किसी भी भुखमरी में " [3]

पर समय की कहार ने प्रेम संबन्धों की इस ऊष्मा को भी अवसाद की आगोश में भर लिया है । प्रेम आज लगातार कृत्रिम होता जा रहा है । भुखमरी में ज़िन्दा रहने

[1] कामसूत्र से 'कामसूत्र' तक – संपादन- मैरी ई जॉन और जानकी नायर –पृ.सं -10
[2] कामसूत्र से 'कामसूत्र' तक – संपादन- मैरी ई जॉन और जानकी नायर – पृ.सं -17
[3] अनामिका – दूब-धान - पृ सं 88

के लिए अब फिलिम वाली वह छवियाँ भी कही शेष नहीं बची हैं । प्रेम में धोखा खाने के दर्द को बयान करते हुए जितेन्द्र श्रीवीस्तव कहते हैं -

"तुम रुकती तो जीवन आकाश हो जाता
हम दोनों साथ होते तो जीवन का छोर नहीं
सिर्फ ओर दिखता

लोग थक जाते ताकते-ताकते
सिर्फ खुशियों का जलधि विशाल दिखता
हंसी का उजास दिखता

पर न समय रुका
न तुम !
बस मैं ही रुका रहा स्मृतियों के घाट पर
अंजुरी में जल संभाल ।"[1]

स्त्री-पुरुष प्रेम की ऊष्मा समकालीन दौर में लगातार कम होती जा रही है । मानवीय संबन्धों के हर बुनियादी रूप आज बाहरी कृत्रिमता से इस कदर लैस हैं कि वह अपना वजूद लगातार खोते जा रहे हैं । जैविक उद्विकास क्रम में उत्तर जीवन के निमित स्त्री-पुरुष संबन्ध जिन कारणों से प्रगाढ बन गया था वह कारण उपभोगवादी दुनिया के लिए शेष नहीं बचा है ।

3.4.1 समकालीन कविता में प्रेम और कामुकता

कामुकता स्त्री-पुरुष प्रेम संबन्ध का अनिवार्य घटक है । उभय लिंगी हर जीव-जन्तुओं में प्रजनन के लिए कामुकता का अस्तित्व नितान्त आवश्यक है । अन्य जीव-जन्तुओं के परे मनुष्य में कामुकता विभिन्न मिथकीय आधारों पर अलग-अलग सामाजिक स्वरूप निरन्तर अख्तियार करते रहे हैं फिर भी उसमें स्त्री की कामुकता

[1] जितेन्द्र श्रीवास्तव - अमर उजाला काव्य डेस्क 2018 – WWW.Amarujala.com

को नियंत्रित कर पुरुष कामुकता को खुली छूट देने का क्रम लगभग समान रूप से सक्रिय रहा है । कामसूत्र की हवाला देकर जानकी नायर कहती हैं – "अन्य प्रजातियों के स्त्रीलिंगों के विपरीत मानव समाज में स्त्रियों के लिए मैथुन हेतु ऋतु अलग से निर्धारित नहीं होती । परिणामस्वरूप लिंगों के बीच का समागम उपायों द्वारा संचालित होता है जिन्हें विनियमित करना जरूरी है । स्पष्ट है कि वात्स्यायन मनुष्य की सेक्शुअलिटी का मूल प्रकृति में देखने के बजाय समाज में मानते थे । साथ ही उनकी निगाह में मानवीय अस्तित्व के लिए कामना का स्थान आहार जितना ही बुनियादी था।"[1] पुरुष कामुकता को मिली इस वरेण्यता ने स्त्री को भोग्या मानने के चलन को कमोबेश सभी संस्कृतियों में रूपायित की है । स्त्री शरीर की विभिन्न झलकियों द्वारा बाज़ार हमेश पुरुष कामुकता को भड़काये रखकर यह जताता है कि बाज़ार के मानक पर चलने पर स्त्री शरीर को प्राप्त किया जा सकता है । ऐसे में प्रेम स्त्री शरीर को प्राप्त करने का मात्र एक उपाय बन जाता है । लीलाधर जगूडी कहते हैं - "सच को भी सोचो तो सच कुछ और निकलता जाता है / प्रेम को सोचो तो जो कर रहा था वह प्रेम नहीं था / इतना कम इतना अलग-अलग किस्म का प्रेम है यहाँ / कि कोई ज्यादा और असीम नहीं लगता / कभी तो इतना कम कि दिखता ही नहीं / कभी थोडा ज्यादा कि जैसे /बिना पानी वाली जगह पर नहीं आ जाए / नमी है या पानी की कमी है यह / प्रेम के पानी की इस चमक में / प्रेम में क्या होना चाहिए सच्चे प्रेम जैसा ? / बिना सोचे बिना किए जो हो गया उसे सोचना / प्रेम को लगातार सोचना होता जा रहा है / इस प्रकार प्रेम के सोच में पड़ गया / कि प्रेम को सोचना प्रेम करना होता जा रहा है / इतना कम और इतना अलग-अलग किस्म का प्रेम है यहाँ / जिस प्रेम में सोचना ही सोचना बचा हो / उस प्रेम का क्या करूँ- सोचता हूँ।"[2] समकालीन समय में प्रेम

[1] कामसूत्र से 'कामसूत्र' तक – संपादन – मैरी ई जॉन और जानकी नायर –पृ.सं -41
[2] लीलाधर जगूडी - वागर्थ जनवरी 2014 – पृ.सं 81

करने के पहले इतना सोचना पडता जा रहा है कि सोचने के बाद प्रेम करने के खातिर कोई समय उपलब्ध ही नहीं रहता । हर स्तर पर प्रेम आज कृत्रिम दिखावे के आगोश में है। प्रेम के लिए प्रेमी-प्रेमिका को एक दूसरे पर आकर्षित होना ज़रूरी है पर आकर्षण का मापदण्ड बाज़ार तैय करता जा रहा है । प्रेम के नियामक तत्व के रूप में बहुत सारी चीज़ें बाज़ार में लगातार उभर रही हैं । प्रयाग शुक्ल कहते हैं -

"प्रेम से भी बडी हो गई चीज़ें

चीज़ें हो गई बडी
उससे भी ज्यादा !!

लीला यह , दुबका हुआ
प्रेम
रहा देख !

लील, पर , पाएँगी
क्या उसे चीज़ें

विस्फारित, अधमूँदी, आँखों
से यहीं वह
रहा जाँच!! " [1]

बाजार हर चीज़ को उपभोग करने योग्य बना देता है । बाज़ार स्त्री मुक्ति के जो प्रयोजित संदर्भ निर्मित कर रहा है वह उतना निरीह और भोला नहीं है जितना वह दिखता है । सविता सिंह कहती हैं – "सोचकर लगता है कि कितना निरर्थक था / बाँध कर उन्हें रखना गायों की तरह / और खुद मरते गहना दाना –पानी के लिए सबके / वैसे भी कब चाहिए थी औरतें प्रेम के लिए किसी के / जिनके साथ करना पडता था साझा तन से ज़्यादा धन का / अच्छा है मुक्त हो रही हैं मिल सकेगी स्वच्छन्द सम्भोग

[1] प्रयाग शुक्ल - यहाँ कहाँ थी छाया - पृ.सं 37

के लिए अब / एक समय जैसे मुक्त हुआ था श्रम पूँजी के लिए / यह सच है पुरुषों के हमेशा काम आयी है औरतें / आज भी प्रेम के बहाने उन्हें ले जाया जा सकता है अँधेरे में "[1] प्रेम लगातार चीज़ों के बीच आच्छादित होकर स्त्री शरीर को प्राप्त करने की बाहरी उत्तेजना तक सीमित होती जा रहीं है । समकालीन समय में प्रेमी स्त्री शरीर प्राप्त करने की हथियार की तरह प्रेम का इस्तेमाल कर रहे हैं । पुरुष कामुकता केलिए स्त्री शरीर को सार्वजनिक प्लाटफॉम पर उपलब्ध करने के सभी साधन इटेरनेट मुहय्या करा रहा है । शिकार होने के बावजूद जहाँ स्त्री दोषी ठहराई जाती है वहाँ पुरुष अपनी मर्दानगी की ढिंढोरा पीटने लगता है । रंजना जायसवाल कहती हैं –

"तुम्हारा आधुनिक प्रेमी
जिसके लिए प्रेम हथियार
लडकी शिकार है
प्रेम के विश्वास में चली आयी
अभिसारिका सी मिलने
शहर के वीरान इलाके में
जहाँ नोची गयी तुम्हारी देह
कुचल दिया गया दिमाग
आज पडी है इस निर्जन स्थान पर
बे पहचान-विद्रुप एक लोथ
जिसे नहीं मारा गया था कोख में
लडकी होने के बावजूद "[2]

[1] सविता सिंह - पचास कविताएँ नयी सदी के लिए चयन - पृ.सं 18
[2] रंजना जायसवाल - सिर्फ कागज़ पर नहीं - पृ.सं 51-52

प्रेम पहले की तरह निश्चल नहीं रहा गया है। छल की संभावना प्रेम के साथ इस कदर घुल मिल गई है कि सच्चा प्रेम कोई अतीत राग रह गया है । प्रेम में धोखा खानेवाली स्त्रियाँ आत्महत्या के लिए विवश हो जाती हैं । मूल भूत मानवीय संवेदनायें धोखा खानेवाली स्त्री का कोई काम नहीं आतीं, सविता सिंह कहती हैं- "प्रेम करती हुई स्त्री ही अब भी पसन्द की जाती है / छल में भी एक अजीब जादू है / जो झूठ में नहीं / कितना मिलता-जुलता है झूठ भी सच से आखिर / मृत्यू ज्यों प्रेम से / अन्त में सच ही बचाता है हर स्त्री को / लेकिन तब तक वह तब्दील हो चुका होता है / झूठ में कुछ इस तरह / कि वह उसके किसी काम का नहीं रहता / छल रहता है ज्यों का त्यों तब भी / अपने काम करता / प्रेम और मृत्यु का रथ हँकता "[1] ऐसे में प्रेम में पडना खटाई में पडने के अतिरिक्त और क्या है ? अनामिका पूँछती हैं -

"क्या प्रेम में पडना खटाई में पडना है, अम्मा ?
जो मुझे प्रेम करेगा-
मेरी ही शान में कसीदें पढ़ेगा
या उसकी भी दो-दो चश्मे हो जएँगे-
एक घर का , एक बाहर का –
घर के लिए दोष ढूँढन चश्मा
और दूसरी औरतों की खातिर
ऐनक वह रंगीन –
आँखों से ही राल टपक देने वाली ? "[2]

[1] सविता सींह - पचास कविताएँ नयी सदी के लिए चयन - पृ सं 17
[2] अनामिका - दूब-धान - पृ.सं 48

पुरुष कामुकता आज स्त्री के पूरे अस्तित्व को तहस नहस करने की क्षमता के साथ सामाजिक जीवन के हर स्तर पर अपना वर्चस्व स्थापित कर चुकी है । स्त्री कहीं भी सुरक्षित नहीं हैं । कार्यालय से लेकर घर तक के हर माहौल आज इस कदर स्त्री विरुद्ध हो चुका है कि स्त्री के लिए खुद उसका शरीर शत्रु बन गया है । 'टायपिस्ट' कविता में पवन करण कहते हैं -

"हम से कोई ऐसा नहीं
जो उसकी और अपने साथियों की
नजरें बचा-बचाकर
उसके सन्तुलित अंगों की उत्तेजना को
उपने अंगों में
करता न रहता हो महसूस

उसे इस बात का कतई पता नहीं
हम उसके साथ कितनी ही बार
कल्पनाओं और सपनों के
चिर-युवा बिस्तर पर कर चुके सहवास "[1]

स्त्री शरीर को इस तरह भोग्या मानने के साथ पुरुष कामुकता स्त्री के शरीर पर हर तरफ से अपना स्वामित्व जताने का प्रयास करती रहती है । स्त्री शरीर पर स्वामित्व प्राप्त करना जहाँ प्रेम के माध्यम से संपन्न नहीं होता वहाँ मर्दानगी को साबित करने के लिए उस चेहरे को ही झुलसा दिया जाता है जो किसी दूसरे पुरुष को मर्दानगी साबित करने का अवसर देने की संभावना रखती हो । तेजाब से झुलसे चेहरे समकालीन भारत में दिनों दिन बढ़ रहे है । अनिल गंगल कहते हैं -

[1] पवन करण - स्त्री मेरे भीतर - पृ सं 47

"तेज़ाब से झुलसे चेहरे के पीछे
किस रूपमति का चेहरा है यह ?

कौन है यह
जिसके चेहरे पर से चमडी गायब है
फफोले हैं रिसते हुए घाव है

जिसकी एक आँख से रोशनी बेदखल हो गयी है

और दूसरी आँख
कुआँरेपन में रखे गये व्रत, त्योहार और देवी देवताओं के शाप
खा चुकी है "[1]

समकालीन समय में स्त्री के लिए ऐसी कोई जगह शेष नहीं बची है जहाँ वह अपनी देह बोध से कुछ देर मुक्त हो सके । घर से लेकर समाज की हर इकाई उसे लगातार उसके शरीर का एहसास दिलाती रहती है जो कभी भी पुरुष द्वारा अपनी मर्दानगी साबित करने के क्रम में झुलस सकती है । समकालीन कविता लगातार हिंसात्मक हो रही पुरुष कामुकता के इस वर्चस्व का हर संभव प्रतिरोध कर रही है ।

3.5 समकालीन कविता में पति–पत्नी संबन्ध

उभय लिंगी प्रजनन व्यवस्था विश्व में सर्वाधिक विकसित प्रजनन व्यवस्था है । स्त्री और पुरुष के रूप में दो विभिन्न किन्तु आधारभूत रुप से समान जैविक संरचना वाले जीवनधारियों से उत्तर जीवन की नवीन संभावना वाले वंशजों का जन्म इस प्रजनन व्यवस्था का मूल लक्ष्य है । जीवविज्ञान इसे रेड क्यून हैपॉतिज़ीस कहते है । अन्य जीव जन्तुओं में जहाँ यह प्रजनन व्यवस्था जैविक है वहाँ मनुष्य में यह एक सामाजिक निर्मिति बन गयी है । प्रारंभ में मनुष्य में भी यह व्यवस्था जैविक थी फिर धीरे-धीरे संस्कृति के उद्भव के बाद विभिन्न मिथकीय आधारों के साथ वह सामाजिक

[1] अनिल गंगल - वागर्थ - आगस्त 2016 - पृ.सं -62

संरचना बनती गयी । स्त्री और पुरुष में जो यौन संबन्ध जैविक धरातल पर रूपायित होता था उसे नियंत्रित रखना ही विवाह नामक सामाजिक संरचना या कहे संस्था की प्रमुख मंशा है । इस प्रकार समाज स्त्री-पुरुष संबन्ध को पति-पत्नी संबन्ध के रूप में वैधता प्रदान करती है । पति पत्नी संबन्ध प्राचीन काल से ही साहित्य और कला का प्रमुख उपजीव्य रहा है । पति पत्नी संबन्धों की विभिन्न संवेदनात्मक पहलुओं की अभिव्यक्ति प्राचीन साहित्य से लेकर समकालीन साहित्य तक बराबर होती रही है । प्रमीला के पी कहती हैं – "प्रेम की कालातीत ऐन्द्रिकता है, मादकता है । आपसी प्यार में अचल विश्वास एवं उसमें आमरण डूबकर पति-पत्नी के अपने-अपने अस्तित्व तक भूलने की अभिभूतता । युगान्तरों से यह विश्वास पति एवं पत्नी दोनों का मंशा था । फिल्मों , नाटकों तथा अन्य ललितकलाओं में इसके प्रतिपादन –प्रस्तुतीकरण सतरंगी रूप में मिलते हैं।"[1]

समकालीन कविता भी समय के चपेट के बाहर पति-पत्नी संबन्धों की ताज़गी को गहरी संवेदनात्मक धरातल पर उभारती है । व्यस्तता के चलते जहाँ पति-पत्नी एक दूसरे को प्यार करना भूल जाते हैं वहाँ कवि हेमन्त कुकरेती प्रेम के उन अद्वितीय क्षणों को फिर से पाने केलिए अहम के संकोच से बाहर आने को कहते हैं – "दैनिक संकोचों को भूलकर / हमने एक-दूसरे को / घर के नामों से पुकारा / हमारे शरीर से टूटकर / अलग हुआ चाँद / हमने उसे शब्दों में नहीं मरने दिया / आँखों में उगे सूरज की पतंग उडाई / हम पानी की तरह बहे / नमक जैसे घुलते रहे /कुछ मामूली उम्मीदों के बारे में सोचा / पराजयों को याद किया / अपनी मूर्खताएँ बताकर / हल्के हो गये हम / हमने घड़ी नहीं देखी / किसी से समय नहीं पूछा / हमने थोडा-सा वक्त चुराया /और आपस में बाँट लिया "[2] आपस में बाँटने के लिए कुछ वक्त चुराने का सब्र

[1] प्रमीला के. पी – कविता का स्त्री पक्ष – पृ.सं 73
[2] हेमन्त कुकरेती - कभी जल कभी जाल - पृ.सं 66-67

समकालीन समय में पति-पत्नी दोनों रख नहीं पा रहे हैं । एक तरफ ज़िन्दगी में तरक्की के लिए अंधाधुंध भागमभाग है तो दूसरी तरफ ज़िन्दगी की काहिली से बचकर कहीं चैन की साँस लेने का मौका ही नहीं मिल रहा है । लेकिन सच्चे प्यार की यही फ़ितरत है कि वह कहिली के बीच से रास्ता निकालकर दिल को वह सुकून मुहय्या कराएँगे जो लगातार अमानवीय हो रही दुनिया में अपना मोर्चा ज़ारी रखने का हौसला देगा । जितेन्द्र श्रीवास्तव कहते हैं - "सोचता था किसी दिन लौटूँगा / सगुन का पान लिए फलों की टोकरी के साथ / जैसे लौटते हैं सपने वसन्त के दिनों में / फागुन के रंगों में / जैसे लौटते हैं पत्ते पतझट के बाद टहनियों तक / मैं भी लौटूँगा उस चेहरे तक / इस प्रकार एक अपरिचित शहर में / असमय मृत्यु से बचाती रही / स्मृतियों में बसी एक स्त्री / स्त्रियाँ कहीं भी बचा लेती है पुरुषों को।"[1] जिस दुनिया में जीवित रहने केलिए ज़्यादा बहाना शेष नहीं है वहाँ पत्नी का चेहरा ही एक मात्र संबल है जो आँधी में दिये की तरह फटफटाती पति की जिजिविषा को बचाये रखते हैं। पर समय का क़हर इस कदर तेज़ रहा है कि पति-पत्नी संबन्ध के बीच जो कुछ ऊष्मा शेष थी वह लगातार विलुप्त होती गयी ।

3.5.1 पति-पत्नी संबन्धों के बीच बढती खाली जगह

विवाह दरअसल एक पुरुषवर्चस्ववादी सामाजिक संरचना है। आदिम युग के मातृसत्तात्मक समाज में स्त्री का चुनाव महत्वपूर्ण रहा था पर निजी संपत्ति के उद्भव के साथ पुरुष ने स्त्री के ऊपर अपना वर्चस्व स्थापित किया। यौन संबन्ध में प्राकृतिक रूप से स्त्री का जो वर्चस्व था उसे उलट कर पुरुष ने उसे अपने हिसाब से व्याख्यायित किया और स्त्री को अपनी यौन दासी बनाये रखने के लिए विवाह का एकमुश्त संरचना रूपाइत किया । प्राकृतिक नियम के विरुद्ध पुरुष ने जो वर्चस्व स्त्री के ऊपर स्थापित किया था वह सदियों से बिना रोक टोक के चले आ रहे हैं । प्रमीला

[1] जितेन्द्र श्रीवास्तव - अनभै कथा - पृ.सं 12

के.पी कहती हैं – "प्रेमियों का एक बार शादी के पवित्र बंधन में जाने के बाद विवाह संस्था का वर्चस्व स्पष्ट हो जाता है । प्रेमी और प्रेमिका दायित्वपूर्ण पति-पत्नी के रूप में औपचारिकताओं को निभाने के लिए अपने स्वप्न व निजी पहचान को नष्ट करते हैं । वहाँ जीवन का प्यार एवं आपसी निभाव नहीं, पैस, परिवार, लिंग-वर्चस्व व लेन देन की राजनीति चलती है । यहीं प्यार का उजाड शुरू होता है।"[1] उत्तराधुनिक समय में भी भारतीय गृहस्थी का पुरुष वर्चस्व इतना प्रखर है कि सदियों से उत्पीडित पत्नी के त्यागमयी स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं आने दिया है – हेमन्त कुकरेती कहते हैं -

"मुझसे बिसराया नहीं गया है प्रेम
जो मेरा घर हो सकता था
वह मेरी रेखाओं में भूकम्प से ध्वस्त
या लावे में धँसता हुआ....
X X X X X X X X X X X
अपने मकान में वह सजाती है सुखी घर की तस्वीरें
और उसके बारे में सोचकर अपने आप हँसती है "[2]

पत्नी लगातार अपने स्वत्व को परिवार के खातिर त्यागने के लिए विवश हो जाती है । पारंपरिक प्रेमपद्धति में पुरुष का जो वैयक्तिक वर्चस्व है, वह विवाह संस्था में सम्मिलित हो जाने के बाद पारिवारिक वर्चस्व के रूप में बदल जाता है । दोनों संदर्भों में सामाजिक मान्यता पुरुष के पक्ष में होने के कारण औरत को चयन का स्वातंत्रय नहीं दिया जाता । यानी पितृसत्तात्मक समाज में प्यार करना भी चयन के हक को बलि देने के बराबर है । इसीलिए ज़िन्दगी भर परिवार की पुरुष सत्ता के लावे में धँसते हुए भी पत्नी सायास चेहरे पर मुस्कान बनाये रखने के लिए अभिशप्त है । पारंपरिक

[1] प्रमीला के. पी – कविता का स्त्री पक्ष – पृ.सं 79
[2] हेमन्त कुकरेती - कभी जल कभी जाल - पृ.सं 41

भारतीय गृहस्थी में पति पत्नी संबन्धों की इसी दरार को, प्रेम विहीनता को अनमिका यों अभिव्यक्ति देती है – "ढाई आखर प्रेम के- / ढाई आखर – / ढरक रहा है मेरे जीवन में / ढ़किया –भर ढ़-ढ़-ढ़ / ढाढस और ढ़कोसला / ढ़ से ढ़ाई, / ढ से ढोल, ढक , ढिठाई, / ढाँक के वही तीन पात, / ढोल वही गले में पडा ढमक-ढम-ढम-ढम-ढम.... / इतना सा ही बस रहा जीवन / खाली घर –सा ढना-ढन / 'ढ' से 'ढाई' / 'ढ' से ढोल –ढक –ढिठाई / और मूलतः 'ढ' से ढोना-ढोना,केवल ढोना / इसीलिए तो, अम्मा / दूर की ढोलकिया / लगती नहीं मुझको / सुहावन- वुहावन "[1] स्त्री के जीवन में ढ़ाई अक्षर से प्रेम नहीं सिर्फ ढ़ोना रूपायित होता है । सदियों से यह क्रम चले आ रहे है । समकालीन समय में जनप्रिय संस्कृति की बहुत सारी छवियाँ भी पत्नी के इस त्यागमयी रूप को उभार कर उसे परिवार की चार दीवारों के भीतर जकडे रख रही है। ज्योति प्रसाद कहती हैं –"आज भी टीवी पर जब तब 'मेरा पति मेरा देवता है टायप की फिल्में रोज़ आती रहती हैं । एक तो गीत भी है ।' भला है बुरा है, कैसा भी है मेरा पति मेरा देवता है!.. ।' वास्तव में यह खतरनाक सोच है । यदि व्यक्ति भला है तो ज़िन्दगी की गाड़ी चल भी सकती है । बुरा होने पर कैसे? यह परम्परा में दिया गया है । माएं, बहनें, बेटियां और पत्नियों के ये सब रिश्ते सामाजिक तौर पर बनाये गए हैं और इनका एक ख़ास तरह का चरित्र गढ़ा गया है । निष्ठा का कोण जोड़ा गया है । किसी भी पत्नी को पति के ख़राब चरित्र को अपनाते हुए साथ रहने के निर्देश दिखाई पड़ते रहते हैं।"[2] ऐसे में एक ही समय में रहते हुए भी पति और पत्नी दोनों का समय अलग अलग हो जाते हैं । अशोक वाजपेयी कहते हैं –

"उसकी आयु
उसके एकान्त में उसका प्रस्फुटन

[1] अनामिका - दूब-धान - पृ.सं 49
[2] स्त्रीकाल – ऑनलइन – 26 सितंबर 2018

उसकी इच्छाओं का सरस वसन्त
और उसके बिस्तर के पास
उठने की घण्टी बजाती घडी
उसका समय अलग है ।
X X X X X X X
अपने समय को वह फर्श पर बिछाती है
आँचल की तरह कसती है अपने शरीर से
घुँघरू की तरह अपने पैरों से बाँधती है

अपने समय से मैं उसे पुकारता हुँ
अपने समय से वह मुझे बुलाती है
हमारा समय अलग है
और साथ है"[1]

पारंपरिक भारतीय गृहस्थी में पत्नी के ऊपर ढायी जाने वाली हिंसा पति का अधिकार जैसा है । वी. गीता कहती हैं–"उसकी खूबियाँ और उसकी भरी-पूरी शख्सियत पति को कमतरी के एहसास से भर देती है । उसकी खुली जुबान पति द्वारा निर्धारित शालीनता की कसौटियों पर खरी नहीं उतरती । दूसरों में अपने प्रति प्रेम पैदा करने की उसकी क्षमता पति में रोष पैदा करती है । पति शायद डर सा जाता है कि उसकी सतत कामनाओं का केन्द्र बन चुकी स्त्री कहीं चली गयी तो उसका क्या होगा ? वह उसकी स्वाधीनता से डरता है कि शादी के दायरे के बाहर भी उसकी अपनी पहचान है । इस आधार पर वह अपनी बीवी को अवज्ञाकारी और जिद्दी

[1] अशोक वाजपेयी - कहीं नहीं वहीं - पृ.सं 76

मानकर उसकी पिटाई करता है ।"[1] अशिक्षित परिवार में जहाँ पति स्त्री के ऊपर अपना बाहुबल आजमाता है वहाँ शिक्षित मध्यवर्गीय परिवार में पति मानसिक उत्पीडन के नये नये तरीके खोज निकालते रहते हैं । 'नमक' कविता में केदारनाथ सिंह भारतीय मध्यवर्गीय परिवार में पत्नी को झेलनी पड रही इन्हीं मानसिक प्रताडनाओं की ओर इशारा करते हैं । -

"कि ठीक उसी समय
पुरुष जो कि सबसे अधिक चुप था
धीरे से बोला –
"दाल फीकी है "
"फीकी है ? "
स्त्री ने आश्चर्य से पूछा
"हाँ, फीकी है-
मैं कहता हूँ दाल फीकी है "
पुरुष ने लगभग चीखते हुए कहा
X X X X X X
न सही दाल
कुछ-न कुछ फीकी ज़रूर है
सब सोच रहे थे
लेकिन वह क्या है ? "[2]

दाल का फीकी होना समकालीन समय में पति-पत्नी संबन्धों की दरार को ही दर्शाता है । समकालीन कविता की काल चेतना के संदर्भ में प्रस्तुत कविता का विश्लेषण

[1] कामसूत्र से 'कामसूत्र' तक –संपादन - मैरी इ जॉन और जानकी नायर– लेखिका वी. गीता - पृ.सं 151
[2] केदारनाथ सिंह - उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ - पृ.सं 20-21

करते हुए ए.अरविन्दाक्षन कहते हैं –"दाल के फीकेपन का जिक्र मामूली वातावरण से अधिक महत्वपूर्ण है । उसके भेदने का प्रयत्न जो स्त्री द्वारा हुआ है, जो स्त्री की स्वत्वेच्छा का प्रश्न है, वह स्वीकार्य होता नहीं है । यह पुरुष का शिलातुल्य यथार्थ है। पुरुष का शिलातुल्य मूल्य है। कविता का काल यहीं से आरंभ होता है । सच को सच के रूप में न पाकर स्त्री की प्रतिक्रिया में कविता का जो इच्छित काल है, उसमें कविता का मानवीय संदर्भ है । लेकिन हमारे जीवन यथार्थ का सबसे गहन त्रासद प्रसंग यह है कि मानवीय संदर्भ अनपहचान-सा रह जाता है । कविता की स्थिति में से हमें यह एहसास होता है भी । पुरुष की चीख वस्तुतः रुके हुए काल का संकेत है। यही जड-काल है जिस घर के वातावरण में यह चीख अराजकता पैदा करती है उसी प्रकार एक अराजक मूल्य का भी बोध कराती है।"[1] पति का यह शिलातुल्य अराजक अलोकतांत्रिक यथार्थ पत्नी को कभी भी रसोई और बिस्तर के गणित के परे जाकर पहचानता नहीं । निर्मला पुतुल पूछती हैं–"तन के भूगोल से परे / एक स्त्री के / मन की गाँठें खोल कर / कभी पढ़ा है तुमने / उसके भीतर का खौलता इतिहास ? / क्या तुम जानते हो / एक स्त्री के समस्त रिश्ते का व्याकरण? / बता सकते हो तुम / एक स्त्री को स्त्री–दृष्टि से देखते / उसके स्त्रीत्व की परिभाषा? / अगर नही !/ तो फिर जानते क्या हो तुम / रसोई और बिस्तर के गणित से परे / एक स्त्री के बारे में "[2] पति पत्नी संबन्धों में एक तरफ पति के वर्चस्ववादी रवैया दरार डालता है तो दूसरी तरफ समय की कहर ने पति पत्नी संबन्धों में शेष बचे प्रेम को भी लीन लिया है । समकालीन समय में पति पत्नी संबन्ध वह नहीं रह गया है जो पहले था । बहुत सारी अर्थ छवियाँ और वर्चस्व का द्वन्द्व आज पति पत्नी संबन्ध के बीच सक्रिय है। डॉ एम . षण्मुखन कहते हैं –

[1] ए अरविंदाक्षन - कविता का थल और काल – पृ.स 95-96
[2] निर्मला पुतुल - नगाडे की तरह बजते शब्द पृ.सं 24

"पति पत्नी सिर्फ
पति-पत्नी नहीं होते
होते है सलीब
कीलों को ठोंककर
घाव बनाए गए सलीब

या सिर्फ घाव होते हैं
मरहम लगाए।
एक दूसरे को नोचती, नचाती
दिल को कुरेदती
असहाय चीख होते हैं
पति-पत्नी "[1]

सूचना क्रान्ति के समकालीन समय में आभासी यथार्थ ने पति पत्नी संबन्ध के बीच ऐसी बहुत सारी जगहों को निर्मित किया है जो सहज प्रेम संबन्ध को बहुत असहज बना देता है । पति-पत्नी में अनुमानाश्रित निकटता मोबाइल और इन्टेर नेट मुहय्या करता है। यह अनुमानाश्रित समीपता पति पत्नी संबन्धों के बीच शुबहा और तनाव को जन्म देती हैं । पवन करण कहते हैं –

"मैं तुम्हें कभी भी मोबाइल लगा सकती हूँ
मैं तुमसे कभी भी मोबाइल पर बाँधो न नाव
इस ठाँव बंधु सुना सकती हूँ मैं ठीक आधी रात
तुम्हें नींद से जगाकर अपनी तारीफ करने की
कह सकती हूँ फिर तुम समझ लो ऐसे में

[1] डॉ एम. षण्मुखन – चार मूर्ति भवन - पृ.सं 16-17

कभी मुझे तुम्हारा मोबाइल बन्द मिला गया
समझो खैर नहीं तुम्हारी तुम उसी दिन
मेरी दुनिया से अपनी प्यार-मुहब्बत बाँध लेना "[1]

ज़िन्दगी की काहिली और आभासी यथार्थ से मिला जुला संसार ने कुछ भी बाकी नहीं रखा है जो दो देहों को देह के परे ले जाते थे । पति–पत्नी के लिए एक दूसरे का जन्मदिन भी बीते हुए पलों की सुखद स्मृति ले कर नहीं आती । पवन करण कहते हैं –"फिर एक-दूसरे के लिए एक-दूसरे के सामने / दो देहों की तरह ही नहीं बचे हम / हमारे बीच दूरबीन के संसार की तरह / आकर फैल गया विस्तार / जिसके सहारे एक-दूसरे को / दूर-पास, पास-दूर देखने लगे हम / और देखते आ रहे हैं आज तक / पत्नी ठीक कहती है यह दिन भी / कोई भूलनेवाला दिन है / वाकई यह दिन भूलनेवाला नहीं है / एक यही दिन है जो हमें / अपनी-अपनी देहों के इतिहास / उलट-पलट करने को करता है तत्पर"[2] लगातार प्रेम विहीन हो रहे माहौल में पति-पत्नी अपने संबन्ध को मात्र दायित्व होने के कारण निभाते चले जाते हैं । संबन्धों के बीच की प्रथमिकताएँ कृत्रिम व्यस्तता के नाम पर दरकिनार कर दी जाती है । विष्णु नागर समकालीन मध्यवर्गीय परिवार के इस यथार्थ को जो हमेशा खामोश रहा है, एक पत्नी के जुबान से कहलवाता है । -

"जब भी तुम घर से जाते हो
कुछ न कुछ भूल जाते
उसे लेने वापिस घर आते हो
कभी-कभी एक नहीं , दो –दो बार ते हो

[1] पवन करण - कहना नहीं आता - पृ.सं 15
[2] पवन करण - स्त्री मेरे भीतर – पृ.सं 40

लेकिन एक बार घर से गए
तो घर को और मुझे भूल जाते हो
हार-थककर जब शाम को वापिस आते हो
तो प्यार करना तक बाहर भूलकर आते हो
उसे ढूँढने–लेने तो तुम कभी वापिस नहीं जाते "[1]

समकालीन समय की यह सबसे बडी विडंबना है कि पति-पत्नी के बीच होने वाले छोटे-छोटे मन-मुटाव भी तलाक़ की नौबत तक आ जाते हैं। जिस 'हैप्पर रियालिट्टी' में हम जी रहे हैं उस में सब्र के साथ समस्याओं को सुलझाना बीते समय की तरह आसान नहीं रह गया है। एक दूसरे से बिछुडने के बाद ही पति-पत्नी को इसका एहसास होता है कि वह एक दूसरे के बिना कितना अधूरा है । सुनीता जैन कहती हैं - "एक- दूसरे से छूट कर / वे टोह रहे हैं अपने-अपने / छूटे घर द्वार । / घर तो वहीं है / वही द्वार / वही हैं वे भी , / लेकिन प्रेम ने रख दिया था उन्हें / जिस फूल की पँखुरि पे , / फूल वह खिलता नहीं । / अब कहीं मिलता नहीं "[2] पति-पत्नी संबन्ध के बीच खाली जगह आज दिनों दिन बढ़ रही है । एक तरफ पुरुष वर्चस्ववाद है तो दूसरी तरफ उसके प्रतिरोध में नव शिक्षित नारी समाज उभर रहा है । सदियों से प्राप्त वर्चस्व के अहम को छोडने के लिए पुरुष तैयार नहीं हो रहे हैं वही स्त्री मानवाधिकार की अवधारणायें निजी ज़िन्दगी में पुरुष वर्चस्व के प्रतिवर्चस्व के रूप में अमल में ला रही हैं । एक दूसरे को लोकतांत्रिक दृष्टि से समझे बगैर समकालीन समय में पारंपरिक घर बसाने का इरादा मूल रूप से ही मानव विरोधी होगा । समकालीन कविता इसी समझ को विभिन्न धरातलों पर उभार कर मानवीय संबन्धों में सबसे अनुपम प्रेम संबन्ध का नया लोकतांत्रिक सौंदर्यशास्त्र ही निर्मित कर रही है ।

---

[1] विष्णु नागर - वागर्थ - आगस्त 2016 – पृ.सं 56
[2] सुनीता जैन - रसोई की खिड़की में - पृ.सं 32

3.5.2 समकालीन कविता और संबन्धों के जायज़ का सवाल

स्त्री की यौन शुचिता पुरुष सत्तात्मक समाज के लिए अपने वर्चस्व को बनाये रखने का सबसे कारगर औजार रही है । दुनिया के लगभग सभी धर्म और नैतिक संहिताओं ने स्त्री की यौन शुचिता को लेकर जितना सिर खपाया है उतना शायद अन्य किसी बात को लेकर नहीं किया होगा । पुरुष सत्तात्मक समाज ने पति-पत्नी संबन्ध को जायज और नाजायज करार देकर सिर्फ स्त्री की कामनाओं को जकड कर रखने के षडयंत्र को बहुत करीने से अंजाम दिया है । अइ.पी.सी की धारा 497 के तहत स्त्री पुरुष की निजी संपत्ति है, अन्य किसी व्यक्ति को उसे हथियाने का अधिकार नहीं है। सुप्रीम कोर्ट ने इस धारा को स्त्री विरुद्ध पाकर 27 सितंबर 2018 को इसे असंवैधानिक करार दिया । "सुप्रीम कोर्ट ने एडल्ट्री से जुडी आइ.पी.सी की धारा 497 को असंवैधानिक करार देते हुए निरस्त कर दिया है । सीजे आई दीपक मीश्रा की अध्यक्षता वाली संविधान पीठ ने इसे मनमाना, एकपक्षीय और महिलाओं के खिलाफ करार दिया । केरल के NRI जोसफ शाइन ने आई.पी.सी की धारा 497 की संवैधानिकता को चुनौती देते हुए सुप्रीम कोर्ट में याचिका दायर की थी । धारा 497 158 साल पुरानी है । इस में पति की अनुमति या मंज़ूरी के बिना शादीशुदा महिला से शारीरिक संबन्ध बनाने को अपराध करार दिया गया है ।"[1] दुनिया भर में नैतिकता से जुडी अवधारणाएँ स्त्री की यौन शुचिता के इर्द गिर्द ही रूपायित हुई है । विक्टोरियाई नैतिकता बोध के साथ यह और अधिक संकुचित हुई । इस के पूर्व भारत में स्त्री के लिए नैतिकता को लेकर वह जकडन नहीं था । केरल के नायर समाज में विशोष प्रकार का बहु पतित्व आम बात थी । शशी तरूर कहते हैं – "Nair community only learn that their wives are free to receive them by seeing if another man's slippers aren't outside her door . Our present concept of morality isn't really

[1] जनसत्ता ऑनलाइन - Sep 28, 2018 www.jansatta.com

Hindu at all; it is a legacy both of the Muslim invasion and of the superimposition of Victorian prudery on a people already puritanized by purdah ."[1] अर्थात अन्य किसी मर्द का चप्पल बाहर न होने पर ही नायर पुरुष पत्नी को प्राप्त कर सकता था । नैतिकता संबन्धी हमारी आज की अवधारणायें दरअसल भारतीय नहीं है । यह मुस्लीम आक्रमण तथा विक्टोरियाई नैतिकता के परतदार आरोप का नतीजा है । आधुनिकता तक आते-आते यह जकडन और अधिक मज़बूत हुआ।

स्त्री की यौन शुचिता के आधार पर रूपायित हर सांस्कृतिक, सामाजिक निर्मिति को समकालीन कविता ज़बरदस्त ढंग से तोड रही है। समकालीन कविता में जायज़ और नाजायज़ संबन्ध की यही परिभाषा है–जिस संबन्ध में प्यार है वह जायज़ है और जिस संबन्ध में प्यार नहीं है वह नाजायज़ है । पवन करण 'पिता की आँख में परायी औरत' कविता में पत्नी द्वारा पिता की पराई औरत को रखैल कहे जाने को ही नाजायज़ ठहराते हैं । -

"रोते-रोते ही लगभग विलाप करते हुए पिता ने कहा
इसे इतनी बुरी तरह से न लो, रखैल बहुत सुन्दर शब्द है ये
कभी भी औरत के लिए इसे इतनी बुरी तरह से नहीं लिया जाना चाहिए
काश, तुमने किसी पुरुष से प्रेम किया होता
तब जान पाती कि पुरुष क्या होता है काश तुमने उठाए होते
किसी पुरुष के प्रेम में कुछ खतरे और किसी ने अपमानित करते हुए
तुम्हें, तुम जिसे प्रेम कर रही हो, उस पुरुष की रखैल कहा होता

[1] THAROOR SHASHI - The Great Indian Novel - Page 85 - Kindle edition

इस शब्द का मर्म तुम तब जान पाती। "[1]

प्रेम को नियंत्रित और जकडकर रखने का हर प्रयत्न मानव जीवन को दूभर कर देगा । पारंपरिक भारतीय गृहस्थी में माता पिता जिस को वर वधु के लिए ढूंढ लेगा उसके साथ प्रेम होने या न होने पर जीवन निभाना अनिवार्य जैसा है । ऐसे में मन का प्रीत न मिलना भारतीय गृहस्थी की सबसे बडी विडंबना बन जाती है । सुनीता जैन कहती हैं –

"पूरी की पूरी आयू गई सखा
तुम्हें खोजते-खोजते
मिले ही नहीं कभी,
जाने कहाँ छूटे । "[2]

प्रेम जो कुदरतन और सहज है कहीं से भी अपना रास्ता बना ही लेगा । पर स्त्री के लिए प्रेम के वर्जित क्षेत्र में प्रवेश आसान नहीं है । प्रेम के इस बहाव को निर्बाध बनाये रखना कुदरत के नियम के अनुसार सर्वाधिक जायज़ है । प्रेम के बहाव में खुद को बहा देना जकडन में ज़िन्दगी गुज़ारने से कहीं ज़्यादा श्रेयस्कर है । अपनी कविता 'रेणुका' में परशुराम की माता और जमदग्नि की पत्नी रेणुका के माध्यम से पवन करण प्रेम के सर्वाधिक जायज़ इस संबन्ध को ही उजागर कर रहे हैं । -

"राजमुकुट की मणी तुम मुकुट में अपने
मजबूती से जड़े होने को तोडकर
चुपचाप कहीं गिरकर खो जाना
और मिल जाना उसे जो तुम्हें प्रिय अत्यन्त
तुम मुकुट की वे सलाखें जिनमें तुम बस

[1] पवन करण – अस्पताल के बाहर टेलिफ़ोन – पृ.सं 19
[2] सुनिता जैन – रसोई की खिड़की में - पृ.सं 29

दमकने के लिए कैद तोड़ते वक्त
अपने पुत्र के मन में उबलते क्रोध
और हाथ में चमचमाते शस्त्र से मत डरना
X X X X X X X X
राजमुकुट में जड़ी जिन मणियों को
खोया हुआ बताया जाता है , दरअसल
वे खोतीं नहीं कहीं, वे वहाँ से निकलकर
चुपचाप अपना रास्ता ढूँढ लेती हैं ।"[1]

सत्यवती के पुत्र जमदग्नि की पत्नी रेणुका का प्रेमसंबन्ध मृतकावति के राजा चित्रगुप्त से था । जमदग्नि के कहने पर पुत्र परशुराम ने उसका का गला काट दिया था । इसी प्रसंग को उपजीव्य बनाती कविता नैतिकता के परंपरागत मापदंडों को जो आज भी बरकरार है, तोडने तथा नए के निर्माण का उर्जा प्रदान करती है। कविता रेणुका के प्रेम संबन्ध को जायज़ ठहराते हुए पुरुषवर्चस्व के राजमुकुट में बरबस जडे रहने को तोडकर अपने गन्तव्य को स्वयं प्राप्त करने की हैसला रेणुकाओं को दे रही है । संक्षेप में कहा जा सकता है कि समकालीन कविता दिनों दिन जटिल हो रहे पति-पत्नी संबन्ध को लोकतांत्रिक धरातल पर लाकर एक ऐसे सौंदर्य शास्त्र को निर्मित करना चाहती है जो पारंपरिक पुरुष वर्चस्व की थोथी नैतिकताओं को तोडकर स्वस्थ स्त्री-पुरुष संबन्ध का नया अलख जगा सके ।

3.6 समकालीन कविता में बेटी

दुनिया में सर्वाधिक कन्या भ्रूणहत्या होने वाले देशों में एक है भारत । लडकी का जन्म भारत में अब भी लडकों के जन्म की तरह खुशी के साथ मनाया नहीं जाता है । सेन्टर फॉर ग्लोबल हेल्थ रिसर्च ने 1991 से 2011 तक भारत की जनगणना के आधार

[1] पवन करण – स्त्रीशतक - पृ.सं 21

पर जो शोध किया है उसके मुताबिक भारत में शिक्षित परिवार में भी कन्या भ्रूणहत्या का दर चौंकाने वाला है । "शोध में मांओं की शिक्षा दर और परिवार के आर्थिक स्तर की जानकारी का अध्ययन भी किया गया जिसके मुताबिक शिक्षित और समृद्ध परिवारों में लड़कों के मुकाबले लड़कियों के अनुपात ज़्यादा गिरावट देखी गई।"[1] शिक्षित होने के बावजूद समकालीन भारतीय समाज में लडकियों को दोयम दर्जे के मानने का रिवाज़ बदस्तूर कायम है । चाहे इसके पीछे अर्थ की भूमिका प्रमुख हो । ऐसी स्थिति में यही कहा जा सकता है कि जो लड़की पलने की योग्यता रखती है उन्हें ही लड़की पैदा होनी चाहिए । समकालीन हिन्दी कविता भारतीय पारिवारिक संदर्भ में लड़की की महत्वपूर्ण उपस्थिति को विभिन्न धरातलों पर गहरी संवेदनात्मकता के साथ अभिव्यक्ति दे रही है । एक तरफ संवेदना के पुंज के रूप में उसकी अभिव्यक्ति हुई है तो दूसरी तरफ सदियों से चली आ रही जकडनों को तोडने की तीव्र अभिलाषा भी अभिव्यक्ति पाई है ।

3.6.1 'बेटी' संवेदनाओं का पुंज

समकालीन हिन्दी कविता में विशेषकर नब्बे के बाद की कविताओं में बेटी की अभिव्यक्ति गहरी संवेदना के साथ हुई है। आर्थिक पक्ष को नज़रअन्दाज़ करने पर भी लड़की का भविष्य स्वस्थ व सुन्दर नहीं दिखाई देता है । चारों तरफ वर्जनाओं से घिरे होने के बावजूद उसे जकडनों को तोडने की हौसला तो आखिर घर से ही प्राप्त होती है । स्त्री का सबसे बडा शत्रु तो उसका शरीर बन गया है । उसे फुसलाकर अंधेरे में ले जाना आज आसान है । स्त्री के शरीर को नोचने के लिए तत्पर खडी पुरुष कामुकता को इंटरनेट आज उन सारी लडकियों का जिस्म परोस रही है जो प्रेम के खातिर ठगी जा चुकी है । ऐसे में समकालीन दौर में लड़की का पिता होना कोई आसान कार्य नहीं रह गया है । भारत में पिता के लिए बेटी की कामनाओं और देह

[1] बीबीसी हिन्दी - 24 मई 2011 – लाखों बच्चियों की भ्रूण हत्या - www.bbc.com

की अभिलाषाओं की समझ आज भी वर्जित क्षेत्र है । बेटी से खुलकर उसके मन की चाहतों के बारे में पूछना जैसे भारतीय संस्कृति के लिए अपरिचित सा है । एसे में पवन करण ज़िन्दगी के विस्फोटक पंद्रहवें साल में चलती अपनी बेटी को समझा रहा है कि देह कोई अपवित्र चीज़ नहीं है, पर वह उतना पवित्र भी नहीं है, इसलिए इस डगर पर काँपते हुए चलने के बजाय संभलकर चलना ज़रूरी है– "अपने भीतर अद्‌भुत स्वाद लिए बैठे प्रेम के इस फल को / वह हड़बड़ी में नहीं धैर्य से नमक के साथ चखे / इसकी खुशबू को वह इस तरह अपने भीतर रोपे / कि वह ज़िन्दगी-भर फूटती रहे उसके भीतर से । "[1] सच्चे प्रेम में देह प्रमुख नहीं रहता । फिर भी वह बिल्कुल देह मुक्त भी नहीं है ।-"प्रेम की तीव्रता एकान्त चाहती है और वह / प्रेमाभिव्यक्ति से देहाभिव्यक्ति की ओर बढ़ती है / और प्रेम में यह बढ़ना हो ही जाता है / मैं नहीं कहता कि देह अपवित्र चीज है / लेकिन वह पवित्र भी नहीं उतनी / कि हर समय उसकी चिन्ता में घुलते रहा जाए / लेकिन मैं कहता हूँ कि प्रेम अमूल्य है / उसका अहसास अवर्णनीय / बहुत गहरा सम्बन्ध है प्रेम का देह से / दरअसल प्रेम का बचना ही देह का बचना है / प्रेम बचा रहता है तो देह भी बची रहती है अपने विश्वास में"[2] कामनाओं के अनंत सागर में पग डगमगाकर गिरना आसान है । जहाँ लड़कों की कमानाएँ चालाकी है वहाँ लडकी की कामनाएँ हमेशा एक गलती है । ऐसे में पवन करण वह पिता बनने की अनुभूति को गहराई में संवेदित कराता है जो हर हाल में बेटी को उभारने केलिए तत्पर खडा है -

"सिर्फ भय ही नहीं एक खूबसूरत बेटी का पिता होने का
जो उल्लास होना चाहिए मेरे भीतर
वह मेरे भीतर है और दो गुना है

[1] पवन करण - स्त्री मरे भीतर - पृ.सं 20
[2] पवन करण - स्त्री मरे भीतर - पृ.सं 20

फिर भी मेरी चिन्ता में मेरी बेटी की खूबसूरती
शामिल है और शामिल है यह दृढ़ता
यदि इन सबके बावजूद भी उससे कोई गलती होती है तो हो जाए
उसके पीछे उसे उबारने के लिए मैं खडा हूँ तत्पर" [1]

बेटी को हर हाल से उभरने की हौसला प्रदान करना दरअसल समकालीन समय में एक पिता की योग्यता की कसौटी है । समकालीन हिन्दी कविता ने बेटी और पिता के संबन्ध को गहरी संवेदनात्मकता के साथ अभिव्यक्ति दी है । राजेश जोशी कहते हैं -

"तुमने देखा है कभी
बेटी के जाने के बाद का कोई घर ?
जैसे बिना चिडियों की सुबह
जैसे बिना तारों का आकाश

बेटियाँ इतनी एकसा होती है
कि एक की बेटी में दिखती है दूसरे को अपनी बेटी की शक्ल "[2]

जिस लड़की को घर भर में आज तक अपना कोई कमरा उपलब्ध नहीं हुई है उसे समकालीन कविता घर की रोशनी के रूप में परिभाषित कर रही है । पर जिसे पहचानने की दृष्टि आज तक भारतीय गृहस्थी को प्राप्त नहीं हुई है । लड़की को दूसरों की अमानत मानने की रिवाज़ आज भी बदस्तूर कायम है । ऐसे में लड़की की एहमियत को गहरी संवेदनात्मक धरातल पर उभार कर समकालीन कविता यही जताती है कि लड़की किसी दूसरों की नहीं घर की अपनी अमानत है ।

---

[1] पवन करण - स्त्री मरे भीतर - पृ.सं 21
[2] राजेश जोशी - चाँद की वर्तनी - पृ.सं 40

3.6.2 'बेटी' वर्जनाओं के बीच

बेटी को वर्जनाओं में जकडे रखने की प्रणाली समकालीन समय में शिक्षा और जीवन स्तर के बढोत्तरी के साथ ढीला होना चाहिए था पर वह नहीं हुआ । स्त्री शरीर को सुरक्षित रखने के नाम पर उस पर लगातार पाबन्दियाँ कसती जा रही हैं । सदियों से घर की चार दिवारी के भीतर लड़की को जकडे रखने की प्रणाली समकालीन समय में और अधिक मज़बूत हुई है। अनामिका कहती हैं - "राम पाठशाला जा ! / राधा, खाना पका ! / राम, आ बताशा खा ! / राधा झाडू लगा ! / भैया अब सोएगा / जाकर बिस्तर बिछा ! / अह, नया घर है / राम, देख यह तेरा कमरा है / और मेरा ? / ओ पगली, / लड़कियाँ हवा धूप, मिट्टी होती हैं / उनका कोई घर नहीं होता।" [1] लड़कियों को वर्जनाओं के बीच जकड़े रखने की प्रणाली आज भी इसी प्रकार बदस्तूर कायम है । मध्यवर्गीय भारतीय गृहस्थी में अपना सपना साकार करने का मौका कुछ नज़ीब वाली लड़कियों को ही प्राप्त है । सत्रह साल की एक लड़की के सपनों के बारे में नीलेश रघुवंशी कहतीं हैं - "सत्रह साल की लडकी के स्वप्न में / आसमान नहीं है / पेड पहाड और तपती दोपहरी नहीं / सुबह की एक आँच भी नहीं / घर में फुदकती चिडिया-सी लडकी / सपना देखती है बस / अठारह की होने और घर बसाने का / लडकी ने तलाशा सुख / हमेशा औरों में / खुद में कभी कुछ तलाशा ही नहीं / सिखाया गया उसे हर वक्त यहीं / लडकी का सुख चारदिवारी के भीतर है / सोचती है लडकी "[2] घर की चार दिवारी के बाहर उसका सपना रूपायित ही नहीं हो रहा है । शिक्षित समाज में भी धार्मिक पाबन्दियों की वजह से जकड़न लगातार मज़बूत ही होती जा रही है । खानदान का नाम रोशन करना तो लड़कों का काम है , लड़की की ज़िम्मेदारी आज भी प्रेम न करके खानदान के नाम को बचाये रखा भर है ।

---

[1] अनामिका - कहती है औरतें - पृ.सं 152

[2] नीलेश रघुवंशी- घर-निकासी –पृ.सं 20

विमल कुमार कहते हैं–"वह बात कर रही आगन्तुकों से सहमी सी / बातचीत में छुपा रही अपने प्रेमपत्र / प्रेमपत्र जो कभी लिखे थे उसने स्कूल में / छुपा रही होती है बातचीत में अपने नाखून / ठीक उसके चेहरे के पीछे आ खडे होते है उसके पिता / तभी वह उठती है अचानक / कुछ गर्म करने के लिए / उसकी आँखों में उसकी माँ काजल की तरह फैल जाती है / वह किताब उठाती है / पढने में उसके भाई छुपे हुए हिदायत दे रहे होते है आँखें तरेर "[1]

इस प्रकार लडकी जो सदियों से वर्जनाओं के बीच पलती आई है उसकी ज़िन्दगी में कोई खासा परिवर्तन समकालीन दौर में भी नहीं हो पाया है । आभासी यथार्थ की सर्वव्यापकता के चलते उसके पाँवों में बेडियाँ और अधिक मज़बूत हुई हैं । परिवार के मान रखने के लिए सम्मान हेतु हत्या (Honour killing) की वारदातें बढ़ती ही जा रही है । ऐसे में जनप्रिय संस्कृति चाहे स्त्री मुक्ति की लाख क़सीदे पढ़ें पर असलियत यह है कि लड़कियों के लिए वर्जनाओं का क्षेत्र कम होने के बजाय विस्तृत ही हुआ है । समकालीन कविता लड़की की ज़िन्दगी की इसी असलियत को लाग-लपेट के बिना गहराई से संवेदित कराती है ।

3.6.3 समय से लडती 'बेटी'

समकालीन समय में एक साथ बहुत सारी अर्थ छवियाँ सक्रिय हैं । अब 'समझ' की कोई एक मुश्त व्याख्या कतई संभव नहीं है जिसका सर्वाधिक कहर तो स्त्री जीवन पर ही पडा है । छवियों की बीहड़ में स्त्री अपने वजूद को कहीं भी स्थापित नहीं कर पा रही है । पुरुष सत्ता के बने बनायें पैमाने के बाहर कदम रखते ही उसे बदचलनी बना दी जाती है । पुरुषाधिपत्य के मूल्यों को वरेण्यता देती सभ्यता में स्त्रियों का अपने वजूद स्थापित करने का हर प्रयास वर्चस्ववादियों द्वारा नियंत्रित होता है । सभ्यता का यह षड्यन्त्र सामाजिक जीवन में बहुत सूक्ष्म रूप से काम काम करता है ।

[1] विमल कुमार - सपने में एक औरत से बातचीत - पृ.सं 62-63

जहां–जहां इसकी आवश्यकता पडती है, वहां-वहां उसकी रासायनिक प्रक्रिया उभर आती है । ऐसे में कविता पूछती है कि सभ्यता की अवसरवादिता का तकाजा इस प्रकार मात्र स्त्रियों पर क्यों है ? लड़की की ज़िन्दगी की इन्हीं सारी परेशानियों को उजागर करती हुई सविता सिंह कहती हैं - "नमन करूँ उस पिता को / जो देता है जीवन बेटियों को / अपनी हड्डियों- रक्त –मज्जा से / बनाता है उनका शरीर / फिर कागज़ की नावों की तरह / बहा आता है उन्हें जीवन के अथाह जल में / नमन करूँ उन छोटी बेटियों को / जो जी लेती है जैसे-तैसे मिला यह जीवन / हो लेती है पार कागज़ की नौकाएँ होते हुए भी / डूबती है कई / कई गल भी जाती है बीच में ही / कुछ लगती है पार / खतरनाक इन गहरे जलाशयों के "[1] खतरनाक गहरे जलाशयों से संघर्ष किये बगैर पार लगना मुमकिन नहीं है । लगातार पेचीदा हो रहे समकालीन समय में बाहरी तौर पर मुलायम और आकर्षक दिखने वाले सभी चीज़ों के खतरनाक इरादों से वाकिफ होना नितांत ज़रूरी है । निर्मला पुतुल कहती हैं –"वे दबे- पाँव आते हैं तुम्हारी संस्कृति में / वे तुम्हारे नृत्य की बडाई करते हैं / वे तुम्हारी आँखों की प्रशंसा में कसीदें पढते है / वे कौन हैं....? / सौदागर हैं वे ... समझों ... / पहचानों उन्हें बिटिया मुर्मु ... पहचानो / पहाडों पर आग वे ही लगाते हैं / उन्हीं की दुकानों पर तुम्हारे बच्चों का / बचपन चीत्कारता है / उन्हीं की गाडियों पर / तुम्हारी लडकियाँ सब्जबाग देखने / कलकत्ता और नेपाल के बाज़ार में उतरती है / नगाडे की आवाज़ें / कितनी असमर्थ बना दी गयी है / जाने उसे..."[2] असमर्थ करा दी गयी नगाडे की आवाज़ को पहचानना समकालीन समय में बिटिया के लिए साँस लेने के समान ज़रूरी हो गया है । लड़की की संघर्षहीन मूकता पुरुष वर्चस्व के लिए सांस्कृतिक रूप से अपने शिकार को धर दबाने की सारी सहूलियत मुहैया कराती है । यथास्थिति को बनाये

[1] सविता सिंह - पचास कविताएँ- नयी सदी के लिए चयन - पृ.सं 27 -28
[2] निर्मला पुतुल - नगाडे की तरह बजते है शब्द - पृ.सं 15-16

रखने के पुरुष वर्चस्ववाद के इस रवैये से आज समकालीन कविता वाकिफ है । विष्णु खरे कहते हैं -"करुणान्ध माँ और कायर पिता के बारे में / सोचती हुई लडकी / जब घर से निकलती है / तो उसे जान-बूझकर सपाट बनाए गए / अपने सीने का पश्चात्ताप/ नहीं / पडोसियों के अधसिले कपडों का ख़याल रहता है"[1]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि समकालीन कविता में बेटी की छवि लगातार अपने वजूद को स्थापित करती हुई उभर रही है । पारिवारिक संबन्धों में संवेदना की गहराईयों को नापने के साथ समकालीन कविता में बेटी सदियों से मूक बना दी गयी अपनी आवाज़ को पुरुष वर्चस्ववाद के प्रतिवर्चस्व के रूप में उभार रही है ।

3.7 समकालीन कविता में भाई-बहन

भारतीय संस्कृति में भाई और बहन के बीच का संबन्ध बहुत ही प्रगाढ रहा है । सदियों से भारत में साहित्य, कला और संस्कृति भाई बहन संबन्ध के रंगतों को विभिन्न प्रकार से उजागर करते हुए चले आ रहे हैं । जिन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण एक त्योहार है रक्षाबन्धन । रक्षाबन्धन ठेठ देहाती त्योहार है जो सामाजिक वर्जनाओं के हर कुहरे को छांटकर भाई-बहन संबन्ध की संवेदना को गहराई में संवेदित कराता है । लगातार कृत्रिम हो रहे समकालीन माहौल में भी 'राखी' का प्रतीक भाई- बहन संबन्ध की ऊष्मा को गहराई में संवेदित करता है । नीलेश रघुवंशी कहती हैं –

"आठ बहनों का इकलौता भाई
कलाई पर जिसके बाँधी पूरी आठ राखियाँ
आठों के आठ डोरे झुलसे हर बार भट्टी में
भाई के माथे पर लगा टीका
लगाया जो हमने हाथों में चूडियाँ पहनकर

[1] विष्णु खरे - पिछला बाकी - पृ.सं 65

पसीने से छूटा हर बार।

त्योहार पर नये कपडे पहन
ख़ड़ा होता है जब भाई तन्दूर के सामने
रोटी की महक और उसके नये कपडों की गंध
जाने कितनी बार गई मेरे अंदर"[1]

वैसे तो रक्षाबन्धन हिन्दू धर्म से संबन्धित है फिर भी मूल रूप से ठेठ देहाती होने के कारण वह हर धार्मिक पाबन्दियों को पार कर मूल मिट्टी की महक को महकाती है । भाई की कलाई में बाँधी हुई राखी भट्टी में जुलस जाने के बावजूद बहन के इस हौसला बुलंद रखती है कि वह इस दुनिया में अकेली नहीं है । नीलेश रघुवंशी जब अपने बचपन के दिनों को याद करती हैं तो उसमें भाई की यह छवि बराबर उभर कर आती है । नीलेश रघुवंशी की तरह अनमिका, सविता सिंह, जितेन्द्र श्रीवास्तव, पवन करण, कात्यायनी, प्रियदर्शन, विमल कुमार आदि की कविताओं में भी भाई बहन संबन्ध की प्रगाढता को गहराई में महसूसा जा सकता है ।

समकालीन कविता में भाई-बहन संबन्धों की प्रगाढता जहाँ एक तरफ संवेदना की गहराईयों को छूती है वहीं दूसरी तरफ समकालीन समय में कुल की खोखली मान-मर्यादा के खातिर भाई द्वार गला घोंटकर मार दी जाने वाली बहनों की दारुण स्थिति की अभिव्यक्ति गहरी टीस के साथ करती है । अनामिका कहती है –

"मीरारानी तुम तो फिर भी खुशकिस्मत थीं,
तुम्हें जहर का प्याला जिसने भी भेजा ,
वह भाई तुम्हारा नहीं था,
भाई भी भेज रहे हैं इन दिनों

[1] नीलेश रघुवंशी - घर-निकासी - पृ.सं- 103-104

ज़हर के प्याले !
कान्हा जी जहर से बचा भी लें,
कहर से बचायेंगे कैसे
दिल टूटने की दवा
मियाँ लुकमान अली के पास भी तो नहीं होती !
X X X X X X XX
"राणा जी ने भेजा विष का प्याला "
कह पाना फिर भीआसान था ,

"भैया ने भेजा "- ये कहते हुए
जीभ कटती !

कि याद आते वे झूले जो उसने झुलाए थे
बचपन में ,
स्मृतियाँ कशमकश मचाती;
ठगे से खडे रहते
राह रोक कर" [1]

राणाजी द्वारा भेजा गया विष का प्याला मीराबाई के दिल को कचोट नहीं पहुँचाई होगी । समकालीन समय में भैय्या द्वारा भेजे गये विष का प्याला इसे समझना कितना दर्दनाक है। बचपन की स्मृतियों में जो भाई रच बसा था उसके द्वारा बहन ठगी गयी है इसका एहसास विष से भी ज़हरीला है। अनामिका जी मानवीय संवेदना की काहिली को' प्रेम के लिए फाँसी (ऑन ऑनर किलिंग) नामक अपनी इस कविता में बहुत गहराई से पकड पाई हैं ।

[1] अनामिका - जन ज्वार ब्लोग स्पॉट अप्रैल 27 – 2018 WWW. Janjwar.com

दिनों-दिन यान्त्रिक हो रहे मानवीय संबन्धों की कहर से भाई-बहन संबन्ध भी छूटा नहीं है । अब रिश्ता निभाना दिखावा मात्र रह गया है । फिर भी समकालीन कविता लगातार बदलने के लिए अभिशप्त मानवीय संबन्धों के बीच से कुछ ऐसे क्षणों को बटोरने की आकांक्षा बरकरार रख रही है जो मानवीय संबन्धों को निस्तेज न होने देगी । लाख काहिली के बीच से भी वह भाई-बहन जैसे संबन्धों की गहराई को दर्शाकर मानवीयता को निरस्त करने की हर मुहिम का प्रतिवर्चस्व रचती ही रहेगी ।

3.8 समकालीन कविता में दोस्त

दोस्त हमेशा से परिवार की प्रचलित परिभाषाओं से बाहर रहा है । पर समकालीन समय में परिवार की बुनियादी शर्त 'संबन्धों की अंतरंगता' को निभाते हुए दोस्त परिवार की अहम हिस्सा बन गया है । इसी कारण समकालीन कविता दोस्त को कभी परिवार के बाहर का नहीं मानती । परिवार वाले जब चुभने लगते हैं तब समकालीन मनुष्य के सामने एक मात्र आसरा अपना पुराना दोस्त ही रह जाता है । भगवत रावत कहते हैं –

"जब कहीं चोट लगती है, मरहम की तरह
दूर छूट गये पुराने दोस्त याद आते हैं

पुराने दोस्त वे होते हैं जो रहे आते हैं वहीं के वही
सिर्फ हम उन्हें छोडकर निकल आते हैं उनसे बाहर

जब चुभते हैं हमें अपनी गुलाब बाडी के काँटे
तब हमें दूर छूट गया कोई पुराना कनेर का पेड
याद आता है"[1]

[1] भगवत रावत - ऐसी कैसी नींद - पृ.सं 40

स्मृतिहीनता के दौर में स्मृति को संजोए दोस्त की उपस्थिति दिल की बेचैनी को शान्त करके सांत्वना देती है । लीलाधर मंडलोई कहते हैं - "इस बुरे समय में /इस उदास काँधे को /एक हाथ चाहिए /चाहिए एक दोस्त"[1] पर धीरे –धीरे वह दोस्त भी हम से दूर होता गया है । समकालीन ज़िन्दगी की काहिली लगातार बढ रही है, संबन्धों के बिखराव आज हर कहीं है । भगवत रावत के शब्दों में –

"पकी उम्र तक आते-आते इस जीवन का मर्म जानकर
रिश्तों को तो पहले से भी ज़्यादा घना-घना होना था
इतना घोर अकेलापन क्या बात हो गई
कुछ तो था जो बहुत ज़रूरी कहीं खो गया
वरना भाषा इतनी अवश तो न थी
कि किसी तक
एक दूसरे के खामोशी से रोने की
आवाज़ नहीं पहुँचा पायेगी"[2]

वर्तमान माहौल की लगातार बढती संबन्धहीनता समकालीन कविता की सबसे बडी बेचैनी है । ऐसे में भगवत रावत बच्चों को वह कहानी सुनाने का आग्रह प्रकट कर रहे हैं जो संबन्ध के घनत्व से बहुत भारी थी –

"थोडा सा समय निकालकर
सुना सकें तो बच्चों को यह कहानी
ज़रूर सुनाएँ
कुछ दिनों पहले तक

[1] लीलाधर मंडलोई - लिखे में दुक्ख - पृ.सं 50
[2] भगवत रावत - ऐसी कैसी नींद - पृ.सं 32

कुछ लोग हुआ करते थे
वे एक दूसरे को दोस्त कहलाते थे
दोस्त उन्हें कहा जाता था
जो एक ही माँ-बाँप की संतान न होते हुए भी
एक ही माँ-बाँप की संतानों की तरह रहे आते थे
वे बे रोक टोक एक दूसरे के घरों में आते-जाते
धीरे-धीरे वे एक-दूसरे के सपनों में भी
आने-जाने लग जाते थे"[1]

समय बदल गया है दोस्त वह पुराना दोस्त नहीं रह गया है । दोस्ती के नाम पर समकालीन समय में जितना कपट-कांड चल रहा है उतना पहले कभी नहीं था । लीलाधर मंडलोई कहते हैं –"नहीं –नहीं / साँप के डसने से / नहीं हुई / यह देह नीली / कल रात मैं अपने दोस्त के साथ था"[2] संक्षेप में कहा जा सकता है कि समकालीन कविता वर्तमान ज़िन्दगी की काहिली को दोस्ती के बलबूते पर फिर से संभालने की उम्मीद बरकरार रख रही है । साथ ही समकालीन कविता को यह एहसास भी है कि बदलाव कोई एक तरफा नहीं है । दोस्त भी वह दोस्त नहीं रहा है जो पहले था । ज़िन्दगी के हर मुकाम आज अंतरंग संबन्धों से बेखबर होते जा रहे हैं । फिर भी कविता दोस्त से यह आशा करती है कि वह स्मृति हीनता के दौर में स्मृति पुंज बने ।

3.9 समकालीन कविता में अनाम मानवीय संबन्ध

मानवीय संबन्धों की यह सबसे बडी विशेषता है कि उसका दायरा कभी सीमित नहीं रहा है । अन्य जीव जन्तुओं की अपेक्षा मानवीय संबन्ध इतना विस्तृत और वैविध्यपूर्ण है कि उस को सीमित करने का हर प्रयत्न लगातार खारिज होता ही गया

[1] भगवत रावत - ऐसी कैसी नींद - पृ.सं 45
[2] लीलाधर मंडलोई - लिखे में दुख - पृ.सं 60

है । आधुनिकता के बाद तेज़ी से विश्वपटल पर रूपायित राष्ट्र राज्यों ने जहाँ मानव-मानव के बीच के संबन्ध को देश की सीमा तक मर्यादित रखा वहाँ मानवीय संबन्ध देश की सीमाओं को पार कर लगातार विश्व सदन में मिसाल बनकर रूपायित होते ही रहे । मानव संबन्धों की यह विशेषता है कि संपर्क में आने वाले हर संबन्ध को वह नाम दे देते है । आधुनिकता के पहले भारत में जब संयुक्त परिवार हुआ करते थे तब संबन्धों का नाम गिनना भी मुश्किल हो जाता था । आधुनिकता के बाद भारत तेज़ी से एकल परिवार में बदलता रहा। तब संबन्धों को सूचित करने के लिए प्रचलित कुछ नामों से काम चलाया जाना शुरू हुआ था । ऐसे में जो संबन्ध प्रचलित नामों के बाहर रूपायित होता है उसे नाम देना आसान नहीं रह जाता है । समकालीन जटिल परिस्थितियों के बीच से नामों के दायरे के बाहर जो संबन्ध रूपायित होता है वह परिवार के 'नामी' संबन्धों के मुकाबले मानवीयता के बृहत परिवार के अनाम संबन्ध बन कर मानवीयता की ऊष्मा को बरकरार रख रहा है । समकालीन कविता इन अनाम मानवीय संबन्धों को बहुत गहराई से संबोधित करती है । विनोद कुमार शुक्ल कहते हैं –

"हताशा से एक व्यक्ति बैठ गया था
व्यक्ति को मैं नहीं जानता था
हताशा को जानता था
इसलिए मैं उस व्यक्ति के पास गया
मैंने हाथ बढ़ाया
मेरे हाथ पकड़कर वह खडा हुआ
मुझे वह नहीं जानता था
मेरे हाथ बढ़ाने को जानता था
हम दोनों साथ चले

दोनो एक दूसरे को नहीं जानते थे
साथ चलने को जानते थे।"[1]

हताशा को जानना और हाथ बढाने को जानना मानव-मानव के बीच के संबन्ध का मूल भाव रहा था । संबन्धों की यही अन्तरंगता मानव प्रजाति के उत्तरजीवन का प्रमुख कारण भी रहा था । पर समय की कहर ने मानव संबन्धों के बीच दीवारें खडी करना शुरू कर दी । साथ ही साथ मानव और मानव 'हम' और 'वे' में विभाजित होकर लगातार अपरिचित होते गये । फिर भी मूलभूत मानव प्रेम इन दीवारों के बीच कहीं विनष्ट नहीं हो गया है । अनिता वर्मा कहती हैं –

"इस समय विकल हूँ मैं
ठीक इसी समय पैदा होते होंगे शिशु
कोमलता और दर्द का व्यापक संसार जन्म लेता होगा
चलते होंगे पूँजी के भयानक व्यापार
ठीक इसी समय चीखती होगी कोई स्त्री वहशियों के बीच
ईर्ष्या और लालच की बाँहों में
गिरते होंगे मासूम स्वप्न
किसी की हँसी फैली होगी आकाश के छोर तक
मृत्यु की सफेद परछाइयों के परे
कहीं जन्म लेता होगा प्रेम "[2]

किसी भी संकट में मानव प्रेम का उभरना अब मानवता का एक मात्र आसरा है । समकालीन समय में यह प्रेम किसी नाम के चौखटे में नहीं बाँधता

[1] विनोद कुमार शुक्ल – अतिरिक्त नहीं – पृ.सं 13
[2] अनिता वर्मा – एक जन्म में सब – पृ.सं 58

इसीलिए इसे हम अनाम मानवीय संबन्ध कह सकते हैं । संक्षेप में कहा जा सकता है कि रह रह कर उभर आने वाला यह अनाम मानवीय संबन्ध ही मानवता के बृहद परिवार को बिखरने से बचाए हुए है ।

निष्कर्ष

समकालीन हिन्दी कविता बदल रहे पारिवारिक संबन्धों को संवेदना की पूरी गहराई समेटकर अभिव्यक्ति दे रही है । लगातार कृत्रिम हो रहे मानवीय संबन्धों के बीच अंतरंग संबन्ध की बुनियाद को पकडकर वह लगातार यह जता रही है कि मानवीय संबन्ध प्रेम से खाली नहीं है। वर्तमान परिदृश्य में लगातार निर्मित और विनिर्मित हो रही छवियाँ पारिवारिक संबन्धों के बीच बिचौलिए का काम कर रही हैं । आभासी यथार्थ ने पारिवारिक संबन्धों के बीच बहुत सारी खाली जगह रूपायित की है, इस अपदृश्य को समझना और उसका प्रतिरोध करना कोई आसान कार्य नहीं रह गया है । समाज की मूल इकाई होने के नाते परिवार के भीतर रूपायित हो रहे इन अपदृश्यों की पहचान काफी महत्वपूर्ण है । समकालीन कविता बहुत शिद्दत से इसे पहचान रही है । लगातार अंतरंग संबन्धों से खाली हो रहे पारिवारिक संदर्भ को मानवीय प्रेम की संवेदनात्मक गहराई से वह रू ब रू करा रही है । स्मृति हीनता के दौर में वह पारिवारिक संबन्धों का संवेदनात्मक स्मृति पुंज बनकर मानवीयता को प्रेम से खाली न होने देने की ज़िद लिए बैठी है ।

अध्याय चार

समकालीन हिन्दी कविता में बदलते सामाजिक संबन्ध

समकालीन सामाजिक संबन्ध जटिलताओं का एक पुलिंदा है । वर्तमान समय में सामाजिक संबन्ध इतना जटिल रूप धारण कर चुका है कि उसे समग्रता में उद्‌घाटित करना लगभग नामुमकिन सा हो गया है । एक आभासी यथार्थ मनुष्य को यथार्थ और अयथार्थ के बीच लगातार गुमराह करते जा रहे हैं । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही कहा था कि सभ्यता के विकास के साथ कवि कर्म भी जटिल होता चला जायेगा। शायद आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी यह नहीं सोचा होगा कि सभ्यता का विकास इतना विकराल रूप धारण करेगा कि यथार्थ और अयथार्थ के बीच फर्क करने का बुनियादी सहज बोध यानि 'कॉमन सेन्स' को भी वह गुमराह कर देगा । समकालीन कवि इन्हीं जटिलताओं के बीच अपनी राह निकाल रहे हैं ।

समकालीन कवि-कर्म की बेहद जटिल होती इन्हीं स्थितियों की ओर इशारा करते हुए विजय कुमार कहते हैं - "जिस धरातल से आज एक कविता उठती है, चारों तरफ से उसे घेरते हुए, उसे आँखें दिखाते हुए कितने सारे तथ्य, विषय, प्रसंग, घटनायें, दृश्य, छवियाँ, शोर-गुल और हो-हल्ला, अर्थपूर्ण और अर्थहीन, सत्य और अर्ध-सत्य, निपट नंगी सच्चाइयाँ और उनसे ज्यादा नंगे उनके प्रपंची व्याख्याकार, अहर्निश सूचनायें, सूक्तियाँ और प्रवचन कभी न बंद होनेवाली आवाजें, ...घटित का अर्थ और अघटित का अनर्थ, वास्तव बनाम आभासी वास्तव, अर्थ का स्थगन बनाम स्थगन की निरंतरता, स्टेशनों पर फँसी हुई दिहाड़ी मजदूरों की बेचेहरा विशाल भीड़ और पोस्टर से झाँकता हुआ सदी का महानायक, थ्री–जी कम्युनिकेशन और स्वाद से मदमस्त हुई आत्मायें ...मार तमाम शब्द, सन्दर्भ और छवियाँ और इन सब में फँसती-उलझी, उन सब से होकर निकलती, छिपती-छिपाती अपनी इज्ज़त की पोटली सँभाले यहाँ वहाँ भटकती, फिरती, बचती कविता– शुध्दता की चाह उसकी नहीं है पर वह इतिहास से गुज़रकर इतिहास की तारीखों का अतिक्रमण कर देने की एक पागल की

इच्छा अब भी अपने भीतर सँजोये है।"[1] इन्हीं सब कारणों से समकालीन कविता में बदलते सामाजिक संबन्धों की पैरवी करना बेहद जटिल कार्य हो जाता है। प्रौद्योगिकी विकास के साथ उत्तरोत्तर जटिल होती मानवीय सामजिक संरचना आज अपने भीतर अनगिनत वर्चस्ववादी अर्थ छवियाँ समेट रहीं है। इसलिए यथार्थ और यथास्थिति के बीच का अंतर और भारी होता दिखाई देता है। अध्ययन की सुविधा के लिए उसे बदलते राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक संदर्भों के तहत विश्लेषित किया जा सकता है ।

4.1 समकालीन कविता में बदलते राजनीतिक संदर्भ

समकालीन भारत का राजनीतिक संदर्भ इक्कीसवीं सदी में कदम रखने से पूर्व ही बेहद जटिल रूप धारण कर चुका था । अस्सी तक आते-आते भारतीय राजनीति में नवउदारतावाद के आसार गहराना शुरू होने लगा था और नब्बे तक वह पूर्ण रूप से अपना वर्चस्व स्थापित करने में कामयाब भी हुआ था। भारतीय राजनीति में आये इन परिवर्तनों को रेखांकित करते हुए रजनी कोठारी कहते हैं कि नवउदारतावाद के कारण - "न केवल राजनीतिक प्रक्रिया की स्वायत्तता खतरे में पडती है, बल्कि नवउदारतावादी चिंतन राष्ट्र-राज्य, गैर-सरकारी संगठनों और सभी जनोन्मुख राजनीतिक परियोजनाओं की स्वायत्तता नष्ट करने पर आमादा है । संक्षेप में भूमंडलीकरण और उदार आर्थिक नीतियों के ज़रिए यह चिंतन आमतौर पर राजनीति और खासतौर पर परिवर्तनकारी राजनीति की भूमिका का हनन करते हुए राज्य की संस्था को उसके शीर्ष स्थान से हटा देने में लगा हुआ है । वह उसकी जगह प्रौद्योगिकी पूंजी और बाज़ार को स्थापित करना चाहता है ।"[2] इस बदले हुए राजनीतिक संदर्भ को समकालीन हिन्दी कविता बेहद राजनीतिक सजगता से अपना कण्टेण्ट बना रही है जो पूर्व की राजनीतिक चेतना से बिल्कुल नये किस्म की है । कवि विजय कुमार

[1] विजय कुमार - कविता के पते-ठिकाने -पृ सं 16
[2] राजनीति की किताब: रजनी कोठारी का कृतित्व – संपादक अभय कुमार दुबे – पृ.सं. 80-81

कहते हैं-"आज़ादी के बाद जिस भारतीय परिवेश को हम मोटे तौर पर राजनौतिक-आर्थिक शब्दावली में सामंतवाद और नवउपनिवेशवाद के गठबन्धन से उपजे एक अवरुद्ध समाज के रूप में देखते हैं – बोध के स्तर पर पाते हैं कि संसदीय पार्टियों के क्षरण, समाज के आधारभूत स्तर पर होनेवाली हलचलों पर राज्य सत्ता की पकड़ के लगातार ढीले पड़ते जाने और इन सबके साथ राष्ट्रीय राजनैतिक नेतृत्व की गरिमा लगातार खत्म होते जाने की प्रक्रिया ने एक नये प्रकार की राजनैतिक अभिव्यक्तियों और कण्टेण्ट की नई परिभाषाओं को जन्म देना आरंभ किया है ।" [1] इस बदले हुए राजनीतिक संदर्भ की अभिव्यक्ति अब मात्र राजनीति तक ही सीमित नहीं है । सामाजिक जीवन के हर पहलु आज किसी न किसी प्रकार अपनी एक अलग राजनीति तय कर रहे हैं । समकालीन कविता की इस बदली राजनीतिक चेतना के बारे में अरुण कमल का कहना है " सीधे-सीधे आह्वान, उद्बोधन या श्राप का स्थान अब व्यंग्य-करुणा मिश्रित कविता ले लेती है जो अपने निहितार्थ में कहीं से भी कम राजनीतिक नहीं है । वास्तव में यह पूरा परिवर्तन राजनीति की एक नयी समझ से परिचालित था, अन्तर्विरोधों-द्वन्द्वों को जाँचने की समझ से- कि राजनीति ऊपर- ऊपर की चीज़ नहीं बल्कि पूरे जीव-व्यापार में पेबस्त है।"[2]

नब्बे के शुरुआती दौर में ही समकालीन कविता में इस बदले हुए राजनीतिक संदर्भ की अभिव्यक्ति होने लगी थी । 1998 में प्रकाशित राजेश जोशी के 'दो पक्तियों के बीच' संग्रह की कविता 'एक शैतान से मुलाकात' इस बदले हुए राजनीतिक चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति देती है। 'एक शैतान से मुलाकात' कविता के बारे में उमाशंकर चौधरी का विचार यहाँ दृष्टव्य है। "कविता में दो शैतान हैं एक वह जो चुका हुआ है और एक वह जो अब वैश्विक पटल पर छाया हुआ है । राजेश जोशी ने इस

[1] विजय कुमार - कविता की संगत - पृ.सं. 16
[2] अरुण कमल - कविता और समय - पृ.सं. 22

शैतान के मर्फत से दो समाज, दो परिवेश को आमने-सामने रखा है । यह पहला शैतान तब का है जब हमारा समाज एक बंद समाज था और जहाँ शैतान इसी ज़मीन से तैयार होते थे । इस ज़मीन पर चाकू-छूरी दिखाते थे । लेकिन यह नया शैतान वैश्विक ज़मीन पर तैयार होता है । यह चाकू-छूरी नहीं दिखाते हैं और ना ही यह खुलेआम हत्या करते हैं । राजेश जोशी अपनी इस कविता में रघुवीर सहाय की कविता 'रामदास' में चित्रित शैतान की छवि को डिकंस्ट्रक्ट करते हैं और एक नए शैतान की छवि को क्रिएट करते है । रघुवीर सहाय ने जहाँ यह दिखाकर कि सड़क के बीचों-बीच एक आम आदमी की हत्या हो सकती है , हमारे न्यायतंत्र पर ऊँगली उठानी चाहिए थी वहीं राजेश जोशी उससे बहुत आगे निकलकर एक ऐसे डर को दिखाना चाहते हैं जो आपके सामने नहीं है।"[1] एक अदृश्य क्रूर संस्कृति हमारे सामाजिक जीवन में इस कदर रच बस गयी है कि उसे पहचानना लगातार कष्टसाध्य होता चला जा रहा है । इस विकराल बाज़ारू संस्कृति के सामने विश्व की सबसे बडी हमारी लोकतान्त्रिक शासन प्रणाली लगातार अपनी प्रासंगिकता को बनाये रखने के जद्दोजहद में हाथ-पाँव मार रही है। राजेश जोशी कहते हैं -

"उसने कहा मैं बहुत अकेला हो गया हूँ और थक गया हूँ
तुम्हें नहीं लगता कि मैं लगभग हास्यास्पद और निरीह हूँ
अब तो कोई बच्चा भी नहीं डरेगा मेरे कारनामों से
एक जौकर या खिलौने से ज्यादा नहीं है अब मेरी औकात
मुझे लगता है मैं बहुत पिछडा हुआ शैतान हूँ
यह दुनिया मेरी करतूतों से कहीं बहुत आगे निकल चुकी है ।" [2]

[1] उमाशंकर चौधरी - राजेश जोशी स्वप्न और प्रतिरोध - संपादक नीरज - पृ.सं. 244
[2] राजेश जोशी - दो पक्तियों के बीच - प्र सं 1998 -पृ सं. 97

भारतीय संविधान में भारतीय नागरिकों केलिए जिन मौलिक अधिकारों का विधान किया था वह लगातार अपनी प्रासंगिकता खोती नज़र आ रही है । इस महा शक्ति तंत्र से उलझने का कोई कारगर हथियार कहीं से मिलने की संभावना भी लगातार कम होती जा रही है । ऐसे समय में जहाँ शत्रु ठीक हमारे सामने नहीं है ऐतिहासिक बोध के साथ अपने समय की पडताल ही सही राजनीतिक चेतना है । मंगलेश डबराल कहते हैं –

"हमारा शत्रु कभी हम से नहीं मिलता सामने नहीं आता
हमें ललकारता नहीं
हालाँकि उसके आने-जाने की आहट हमेशा बनी हुई रहती है
कभी–कभी उसका संदेश आता है कि अब कहीं शत्रु नहीं है
हम सब एक दूसरे के मित्र हैं
आपसी मतभेद भूलकर आइए हम एक ही प्याले से पिये
वसुधैव कुटुंबकम् हमारा विश्वास है "[1]

एक ऐसे शत्रु जो सर्वव्यापी और सर्वग्रासी है उसको पहचानना ही सबसे महत्वपूर्ण कार्य है। उमाशंकर चौधरी कहते हैं " राजेश जोशी अपनी कविता में जिस शैतान की छवि को उभारना चाहते हैं उसका कोई आकार नहीं है, उसका कोई नाम नहीं है, वह महज़ एक प्रवृत्ति है। आज लाखों किसानों की मृत्यु के लिए कौन ज़िम्मेदार है ? किसने मारा है उन्हें इसका जवाब कोई एक नाम नहीं होगा। यह एक ऐसी स्थिति है जब शैतान हमारी फिज़ा को जहरीला बना रहा है ताकि हमारा साँस लेना भी दूभर हो जाए और हम खुद-ब-खुद मर जाएँ ।"[2]

---

[1] मंगलेश डबराल- नये युग में शत्रु - प्र.सं 2013 -पृ सं. 15
[2] उमाशंकर चौधरी- राजेश जोशी स्वप्न और प्रतिरोध- संपादक नीरज - पृ.सं .245

ऐसी विकराल स्थिति में सही राजनीतिक चेतना यही है कि हम लगातार जिरह करते रहें कि कहीं वह शत्रु हमारे भीतर तो पैठ नहीं गया है। समकालीन राजनीतिक चेतना की इस समझ को बहुत ही सशक्त रूप से उमाशंकर चौधरी अपनी कविता 'रामदास 2' में उजागर करते हैं। जहाँ रघुवीर सहाय का रामदास बीच सड़क में एक ठोस अधिनायकवादी राजनीतिक वर्चस्व द्वारा मारा गया था वहीं उमाशंकर चौधरी का रामदास दिल्ली में हुई एक दुर्घटना की वजह मारा जाता है । इस दुर्घटना के भीतरी तहों को कविता में उजागर करते हुए कवि पूछते हैं कि रामदास की मौत हमारी वजह तो नहीं हुई है ? कोलकत्ता में जब हाथ-गाडी खींचने पर प्रतिबन्ध लग गया तब वह नयी उम्मीद लेकर अपने भूखे प्यासे परिवार समेत दिल्ली आ गया था । पर दिल्ली के रफ्तार में उन्हें कहीं जगह नहीं मिल पाई। एक बार दिल्ली में बस के भीतर घुसने की कोशिश करते उसे बाहर धकेल दिया जाता है और वह पहियों के नीचे पडकर दम तोड देता है । कवि कहते हैं -

" यह एक विकासशील राष्ट्र की तस्वीर है
जहाँ लाखों रुपये के मुनाफे में
बस से कुचलकर हुई एक की मौत काफी छोटी है
लेकिन विकास की इस दौड़ में जैसे
आज यह तय कर पाना कठिन है कि हम
पहले संतुष्ट थे या अब , उसी तरह
यह निर्णय कर पाना भी कठिन है कि
इस बार हुई रामदास की मृत्यु
महज़ एक हादसा है या एक सुनियोजित हत्या "[1]

[1] उमाशंकर चौधरी - कहते है तब शाहंशाह सो रहे थे - प्र.सं 2015 -पृ.सं 92

रघुवीर सहाय के रामदास की खातमा खुले आम सबके सामने हुई थी । दोषी को दूध का दूध पानी का पानी की तरह पहचाना जा सकता था । पर उमाशंकर चौधरी के रामदास की ख़ातमा किसने की ? कवि यही पूछना चाहते हैं कि जाने अनजाने हमारे हाथ तो रामदास की हत्या के पीछे नहीं है ? यही समकालीन कविता की बदली हुई राजनीतिक समझ है । बदली हुई इस राजनीतिक समझ को 'शताब्दी के इस अंतिम दशक में ' नामक कविता में मदन कश्यप यों अभिव्यक्ति देते हैं –

" झूठ इतना फलेगा- फूलेगा
कि अपने ही भेजे में नहीं धँसेगा
अपनी भूख का सच

यह भयावह समय है दोस्तों
जब मुझे ही पता नहीं है
अगले पल क्या सोचेगा मेरा दिमाग
किस ओर मुड जाएँगे मेरे पाँव

यह भयावह समय है
और इस समय सबसे ज़्यादा ज़रूरी है
अपने भीतर के लालच से लडना ! "[1]

इस भयावह समय में जहाँ वर्चस्व शक्ति के प्रतिरोध की हर मुहिम लगातार धार हीन होती जाती है वहाँ वर्चस्व शक्ति के हर दाँव-पेंच से वाक़िफ़ रहना निहायत ज़रूरी है । यही समझ एक रचनाकार को समकालीन बनाती है । विजय कुमार कहते हैं-" 'रेडिकल' की एक नयी समझ विकसित हुई है जो परम्परागत राजनीतिक दलों और राज्य की मशीनरी के नियन्त्रण के बाहर की चीज़ रही है । इसी के

[1] मदन कश्यप - नीम रोशनी में - प्र.सं 1993 -पृ.सं. 60

परिणामस्वरूप पिछले कुछ समय में हिन्दी में लिखी गई कविता का सौंदर्यबोध भी बहुत हद तक बदला है । एक औसत आदमी के दैनंदिन संसार में रागात्मकता का अर्थ , हिंसा और अमानवीयता के नए-नए संदर्भ , प्रकृति और मनुष्य के सनातन सम्बन्धों पर आया संकट और घर-परिवार समाज को लेकर एक भारतीय मन का संस्कार बोध , वर्तमान समय में व्यक्ति और समाज के संबन्धों की गतिशीलता और अवरोध—ये तमाम ऐसी चीज़ें हैं जो आज लिखी जा रही कविता को काफी हद तक समकालीन बनाती है।"[1] आज सामाजिक जीवन का हर स्तर इतना अधिक राजनीतिक हुआ है कि बेहद वैयक्तिक लगने वाला संदर्भ भी किसी न किसी प्रकार राजनीति की मुहताज होती जा रही है । युवा कवि हरे प्रकाश उपाध्याय कहते हैं –

"यह इतना राजनीतिक समय है
जिसमें हर क्रिया राजनीतिक है
मल त्यागने से खाने तक

तुम्हारा मुस्कान भी निर्दोष नहीं है बच्चे
उसका भी आशय कम ख़तरनाक नहीं लिया जा रहा है
तितली तुम्हारे उस फूल पर बैठने का
सीधा अर्थ यह लिया जा रहा है
कि तुम इस फूल के खिलाफ हो

अब बताइए भला
इतनी राजनीति के बीच
आप कैसे और कब तक बचेंगे लहुलुहान होने से ! " [2]

[1] विजय कुमार - कविता की संगत - पृ.सं. 25
[2] हरे प्रकाश उपाध्याय - खिलाड़ी दोस्त तथा अन्य कविताएँ -पृ.सं 112

देखा जाये तो समकालीन कविता की राजनीतिक समझ नब्बे के बाद बुनियादी स्तर पर ही बदल गयी है । लगातार जटिल होती राजनीतिक संरचना के परतों को उखाडने की जोखिम उठाने की क्षमता ही आज कवि की समकालीनता निर्धारित करती है । समकालीन कवि इस वास्तविकता को बखूबी पहचानते हैं । लगातार बदल रहे राजनैतिक संदर्भ के बीच से अपनी राजनीति को मज़बूती से स्थापित करने की जोखिम उठाकर वे अपनी समकालीनता सिद्ध कर रहे हैं ।

4.1.1 मनुष्य का इत्यादि में बदलने की राजनीतिक समझ

मनुष्य की सामाजिक इयत्ता को बरकरार रखना आज बेहद जटिल होती जा रही है मनुष्य की इस सामाजिक इयत्ता को एजेंन्सी कहा जा सकता है । एजेंसी दरअसल समाजशास्त्रीय अवधारणा है । समाज विज्ञान विश्व कोश के अनुसार - "एजेंसी का अर्थ है कर्म की योग्यता या क्षमता । इसे व्यक्ति में निहित काम करने के इरादे और उसे कर सकने की क्षमता से जोडकर देखा जाता है " [1] समकालीन दौर में व्यक्ति और समाज दोनों की एजन्सी कुंठित हुई है । बाज़ारू संस्कृति ने व्यक्ति और समाज की इयत्ता को एक भीड में तबदील किया है जिसे अपने कर्तृत्व का कोई एहसास नहीं है । उमाशंकर चौधरी कहते हैं –"आप जिस भीड़ को देखकर हिम्मत कर रहे होंगे / वह एक ठंडी भीड़ है / जिनकी आत्माएँ मर चुकी हैं और जो / निकले हुए है सडक पर दो वक्त की रोटी और / एक अदद अवसर के लिए । / जबकि , जिनके विरुद्ध आप खडे है , उनका / अपना एक कुनबा है / जिसके भीतर एक गज़ब की युनिटी है ।/ इस भीड को ठंडा किसने बनाया / किसने मारा उनकी आत्माओं को / अभी कुछ दिनों तक पूछा जाएगा यह प्रश्न / फिर एक दिन ऐसा आएगा, जब / वह भीड़ आपको भी अपने में समेट लेगी / तब मर जाएगी आपकी भी आत्मा /और प्रश्न

[1] समाज विज्ञान विश्वकोश - खण्ड 1 – पृ.सं. 286

पूछने की ताकत"[1] लगातार अपनी इयत्ता और कर्तृत्व शक्ति को पहचानने में असमर्थ समकालीन समाज एक पैसिव (Passive) समाज में तब्दील होता जा रहा है । समाज का लगातार भीड़ होते जाने की इस स्थिति का विश्लेषण करते हुए विजय कुमार कहते हैं- " मैं समझता हूँ कि हमारा आज का सबसे बड़ा सच यह बन रहा है कि हम जानते हैं कि कोई और यातना सह रहा है और हम सुरक्षित हैं । हमें अमानवीयता की तफसीलें वे लोग देते हैं जो त्रासदियों के बाद बचे रह जाते हैं। लेकिन उनसे हमारे सम्बन्धों का फ्रेम-वर्क कुछ बिचौलिया शक्तियाँ तय करती हैं । वे यह तय करती हैं कि हम कैसे और किन चीज़ों को देखें और कितना देखें । ये शक्तियाँ हमारी प्रतिक्रियाओं तक को गढती हैं । बाज़ार और टेक्नोलॉजी ने अज्ञात पर से पर्दा उठा दिया लेकिन साथ ही शीशे की दीवारें खड़ी कर दीं । आप देखते हैं पर 'मूव' नहीं होते । यह एक भीतरी संघात है । ताकत के इस्तेमाल और क्रूरता के इस खेल में अब कुछ भी रहस्य नहीं रहा । देखने और महसूस करने के बीच की यह अलंघ्य दूरी धीरे-धीरे हमारे सिस्टम में चली आ रही है। संवेदनहीनता, पैसिविटी और विस्मृति की कुछ अजीबोगरीब बाधाएँ पैदा हो रही हैं "[2] लगातार भीड़ होती जा रही इस समकालीन समाज को संबोधित कर बद्री नारायण कहते हैं कि इस समाज से तो अपेक्षाएँ बहुत ज़्यादा थी -

"पर कुछ भी नहीं हुआ
रात के गर्भ में सुबह होने का भ्रम हुआ
औरत के पेट से वैसा बालक पैदा न हुआ
न जन्मी चिडिया के भीतर वैसी महत्वाकांक्षाएँ
न पत्थर में उस कोटी का प्रतिरोध पनप सका

[1] उमाशंकर चौधरी - कहते है शंहनशाह सो रहे थे -पृ.सं .85
[2] विजय कुमार - कविता के पते-ठिकाने -पृ.सं.49

नदी के पानी में जिद्द तो कहीं दिखी ही नहीं

खेत में पकते अनाजों का
बीच में ही टूट गया सपना
अब क्या रह गया अपना "[1]

इस प्रकार लगातार अपनी कर्तृत्व शक्ति और स्मृति को खोकर भीड़ में तबदील हो रहे एक समाज के ऊपर फासीवादी शक्तियों को अपना वर्चस्व स्थापित करना आसान हो जाता है । वर्चस्वशाली शक्तियाँ आसानी से इस भीड़ को इत्यादि में परिभाषित कर देने में सफल हो जाती हैं । राजेश जोशी कहते हैं –

"इत्यादी तादाद में हमेशा ही ज़्यादा होते थे
इत्यादि भाव ताव करके सब्जी खरीदते थे और खाना वाना खाकर
खास लोगों के भाषण सुनने जाते थे
इत्यादि हर गोष्ठी में उपस्थिति बढ़ाते थे
इत्यादि जुलूस में जाते थे तख्तियाँ उठाते थे नारे लगाते थे
इत्यादि लम्बी लाइनों में लगकर मतदान करते थे
उन्हें लगातार ऐसा भ्रम दिया गया था कि वे ही
इस लोकतंत्र में सरकार बनाते हैं "[2]

इस प्रकार लगातार गुमराह किये जाने केलिए अभिशप्त इत्यादि के लिए सरकार जो नक्शा तैयार करती है उसके सारे पैमाने तय करता है वह धनतंत्र जो उपस्थित होकर भी अनुपस्थित है । नरेश सक्सेना कहते हैं -"एक लंबे क्यू में खडे

[1] बद्री नारायण - खुदाई में हिंसा - पृ.सं.15
[2] राजेश जोशी - दो पंक्तियों के बीच –पृ.सं.13-14

बदहवास हम पूछते हैं / भाई साहब / कहीं हम नक्शे से बाहर तो नहीं छूट जायेंगे "[1] लगातार नक्शे से बाहर छूट जाने के डर को बनाये रख कर वे नक्शे के पैमाने को अपने हिसाब से परिभाषित करते हैं । कवि आगे कहते हैं –

"नक्शे में सबसे खतरनाक चीज़ होती है उनका पैमाना
पैमाना घटाते ही
बौने हो जाते है पहाड़
समुद्र पोखर हो जाते है
शहरों को छोडिए
छोटे-मोटे देश तक गायब हो जाते है
इस में कुसूरवार नक्शे नहीं
आँखें ठहराई जाती हैं

तफरीह की जगह नहीं है यह
नक्शे से फौरन बाहर निकल आइए
मुझे लगता है एक दिन
सारे नक्शे को मोडकर जेब में रख लेगा कोई मसखरा
और चलता बनेगा "[2]

पहले मनुष्य के पास अपनी एक कर्तृत्व शक्ति थी । समकालीन मानव के हाथ में ऐसा कोई कारगर हथियार नहीं बचा है जिसके माध्यम से वह वर्चस्व शाली शक्तियों के मानव विरोधी मुहिम पर लगाम डाल सके । सामाजिक जीवन के हर स्तर पर इत्यादी में परिभाषित होने केलिए अभिशप्त समकालीन मनुष्य आज अणु मानव में

[1] नरेश सक्सेना - समुद्र पर हो रहीं है बारिश – पृ.सं .92
[2] नरेश सक्सेना - समुद्र पर हो रहीं है बारिश - पृ.सं. 92

तबदील हो गया है जो हर पल बदहवास होकर किसी नूक्लियस की चारों ओर चक्कर काटने केलिए अभिशप्त है । कुमार अंबुज कहते हैं –

"करोड़ों ऐसे फ़ैसले लिए गए हैं, हमारे वास्ते जिनमें हम शामिल नहीं
लोग पसीज रहे हैं मगर दाँव पर कुछ नहीं लगा पा रहे
जिन्हें दुखों को पार करना था वे अब रह रहे हैं दुःखों के ही साथ
अंत में मेरे पास फिर वहीं कुछ निराश शब्द बचे रहते हैं
चमक-दमक और रईसी के बीच चमकते हैं करोड़ों पैबंद
अनंत आश्वासनों के बीच मेरे पास कोई नारा नहीं है
न मैं मारो-काटो-बचाओ कह सकता हूँ
मैं ही क्या करोड़ों लोग हैं जो इतनी आपाधापी में हैं
कि रोजी-रोटी के अलावा बमुश्कल ही कर सकते हैं
कोई और काम । "[1]

सामाजिक जीवन की इस संकटग्रस्त अवस्था को पुरानी पीढी के कवियों की तरह समकालीन कवि रुमानी आक्रोश की ओर नहीं ले जाते हैं। विजय कुमार कहते हैं - "अन्यायपूर्ण समाज व्यवस्था में इन मानव समुदायों को विरूपित होते देखने के बाद का रास्ता सिनिसिज़्म या रुमानी आक्रोश की ओर नहीं जाता, बल्कि इन वंचित मनुष्यों से एक बुनियादी, गतिशील और ऐन्द्रिक लगाव की ओर जाता है, ताकि रचना इस अमानवीय तंत्र के सामने प्रतिपक्ष की भूमिका निभा सके। इसीलिए समकालीन कविता के संसार में रचनाकार की पेशकश यदि एक ओर अपने माहौल में व्याप्त अत्यन्त क्रूर किस्म की सच्चाइयों को मूर्त करने में है तो दूसरी ओर वह शोषितजन की नैसर्गिक आस्था ज़िन्दा रहने और जूझने की प्रवृत्ति को उकेरने, करने में है। रचनाकार

[1] कुमार अंबुज - अनंतिम - पृ.सं 10

और परिवेश के बीच एक नए किस्म के लगाव और ऐन्द्रिक रिश्ते ने संघर्ष का नया सौंदर्यशास्त्र इधर की कविताओं में रचना आरंभ किया है।"[1] मानव विरोधी राजनीति की हर मुहिम से समकालीन हिन्दी कवि आज वाकिफ है । इसी कारण लाख विषमताओं के बावजूद भी , सीमित संसाधनों के बदौलत ही सही वे हर एक मनुष्य में जिजीविषा की अलख जगाना चाहते हैं । अरुण कमल का कहना है –

"जो जितना ज़्यादा लोगों का जितना ज्यादा नुकसान कर सके
वो उतना ही बडा है ।
छोटा है वो जो किसी का नुकसान न कर सके
उस हर बात में राजनीति है
जहाँ दो में से एक को चुनना पड़े
कम से कम कपडे अश्लीलता नहीं
अश्लीलता है ज़रूरत से ज़्यादा कपड़े
जो सरकार ऊपर से कुछ न करे
वो अमीरों का काम सबसे अच्छा करती है
सितारे बनने से अच्छा है
गन्दी गली का लाम्प पोस्ट बनना- कवि की इच्छा है"[2]

इस दिग्भ्रमित समय में अधिनायकवादी शक्ति से गले मिलेंगे तो सितारा बनकर चमकने का मौका कुछ ज़्यादा ही मिलेगा । पर जिन रचनाकारों को समकालीन राजनीति का सही अंदाज़ा है वे गन्दी गली का लाम्प पोस्ट बनकर घुप अंधेरे में इत्यादी का सहारा बनेगा । दरअसल यही दृष्टि एक समकालीन रचनाकार की समकालीनता तय करती है ।

---

[1] विजय कुमार – कविता की संगत - पृ.सं 18
[2] अरुण कमल – मैं वो शंख महाशंख - पृ.सं 59

4.1.2 राजनीति और बाज़ार की मिलीभगत का प्रतिरोध

समकालीन भारतीय राजनीति प्रजातंत्र से प्रचार तंत्र में तेज़ी से बदलती जा रही है। इक्कीसवीं सदी की सूचना क्रान्ति ने बाज़ार को वे सभी सुविधायें मुहैया कराई है जिस के बदौलत राज्य व्यवस्था की हर लोक कल्याणकारी योजनाओं को मुनाफे के नाम पर निरस्त किया जा सकता है । इस बृहत प्रचार-तंत्र की ओर इशारा करते हुए रजनी कोठारी कहते हैं- "भारत में बाज़ार की ताकतों और उपभोक्तावाद की ताकत सरकारी दूरदर्शन पर अभिव्यक्त होने लगी है । नियोजन, विकास और वित्त की कई संस्थाएँ कारपरेट सेक्टर के कहने पर पहले से ही चल रहीं हैं । निजी क्षेत्र का कारपोरेटीकरण और बहुराष्ट्रीकरण बढ रहा है उसका वर्चस्व उछाल पर है । उसके द्वारा नियंत्रित जनसंचार माध्यमों की भूमिका बढ रही है । विज्ञापन एजेंसियों और मीडिया की मदद से लोगों की रुचियों और चयन को नया मोड़ दिया जा रहा है । अगर मौका मिले तो निजीकरण पर ज़ोर देते हुए ये ताकतें लोकतांत्रिक राजनीति की जगह प्रौद्योगिकीय समाधानों को स्थापित कर डालेंगी।"[1] इस बृहत प्रचार तंत्र ने राजनीतिक शासन प्रणाली को इस तरह अपने में समा लिया है कि साधारण लोगों का भरोसा अब भारतीय लोकतंत्र से उड चुका है " यह भूमंडलीय प्रचारतंत्र अपने धुआँधार प्रोपेगंडे के ज़रिये राज्य को कमजोर और अधिकारहीन करने में लगा हुआ है । कुछ खास तरह के नेताओं (तकनीकशाह कम राजनेता), नौकरशाहों और उद्योगपतियों के उदीयमान गठजोड़ को यह स्थिति पसंद है । राज्य की जगह बाज़ार रखने की थीसिस पर यकीन करने की प्रवृत्ति साधारण लोगों में काफी दिखायी पड़ती है । इसकी वजह एक विचारधारात्मक और राजनीतिक शून्य में देखी जा सकती है।"[2] जनसाधारण का यही 'राजनीतिक शून्य' बोध समकालीन हिन्दी कवियों को चिंतित

[1] राजनीति की किताब: रजनी कोठारी का कृतित्व – संपादक अभय कुमार दुबे - पृ.सं 313
[2] राजनीति की किताब: रजनी कोठारी का कृतित्व – संपादक अभय कुमार दुबे - पृ.सं 308

कर रहा है। विजय कुमार का कहना है- "यह हमारा समय है जब दलबद्ध राजनीति के दैनिक मनसूबों और सांस्कृतिक परम्पराओं की ओवरलैपिंग हो रही है। मिथकों के साथ की जा रही छेड़छाड को हम इस तरह अपनी विषयवस्तु नहीं बना पाये हैं कि झूठ को एक वैलिडिटी, एक वैधता देनेवाले प्रचार-तन्त्र और नागरिक जीवन की असुरक्षा का आपसी सम्बन्ध हमारी कविताओं में उद्घाटित हो रहा हो। यह दिनोंदिन ज़्यादा कठिन बनती जाती चुनौती है। कविता को उस नयी आर्थिक क्रियाशीलता और खुशहाल दुनिया के मिथक को भेदना है जिसने शक्ति-तंत्र के बाहर अँधेरे में खड़े मनुष्य के प्रति 'अन्य' की अवधारणा को रचा है। "[1] इस शक्ति तंत्र से बाहर हुए लोगों के पक्ष में ही बद्री नारायण ने अपनी कविता 'मोर नाच' में 'मोर'का मिथक गढा है। यह बृहत प्रचार-तंत्र ने मनुष्य के लिए बेहद सुन्दर शब्दों को गढा है । उन में से एक शब्द है 'मोर' जो जन साधारण का प्रतीक है। सत्ता ने हमेशा से जन साधारण को इस प्रकार के शब्द जाल में उलझाकर रखा है। इसी शब्दजाल के माध्यम से ही सत्ता ने हमेशा से अपना जनपक्षधर होने का ढोंग रचा है – "जब यह पता करना कठिन हो कि / कार्यपालिका की संरचना में कौन-कौन कहाँ-कहाँ / और कितने-कितने शिकारी हैं शामिल / कि संविधान के किन-किन अनुच्छेदों में / थोडी-सी उत्तर –आधुनिक व्याख्या के बाद ही / शिकारियों के पक्ष में तबदील हो जाने से / बच सकने का माद्दा है शेष / कि कौन महामंडलेश्वर ,कौन धर्माचार्य मोर वध का / रचा करता कर्मकांड / कि सभ्यता ,संस्कृति एवं राष्ट्रीय एकता के नाम पर / कौन मोर को आतंकवादी बताने में लगा है /कि कौन मोरध्वज मोरों को बचाने के जगह / उनके मांस के स्वाद के प्रचार के लिए किसी /बहुराष्ट्रीय विज्ञापन एजेंसी के साथ कांट्रेक्ट / सइन करने की योजना बना रहा है?"[2] दलबद्ध राजनीति जिस मोरध्वज के नाम पर सत्तासीन होती है

[1] विजय कुमार - कविता के पते-ठिकाने - पृ.सं 43
[2] बद्री नारायण - खुदाई में हिंसा - पृ .सं. 22

उसी मोर के मांस को मल्टिनाशनल करपरेटों को बेचने की ताक पर है । मोर मांस को बेचने की पूरी तैयारी पृष्ठभुमि में गुप्त रूप से चलेगी और अंत में जनसंचार के पूरे औजारों के साथ यह प्रचारित किया जायेगा कि सारे मोरों के हित में कुछ मोरों का मांस बेचा जाना लाजमी था । कुछ मोरों का मारा जाना प्रचार-तंत्र के शब्दों में सर्वानुमति से हुआ है और यह साबित किया जायेगा कि सरकार तो मोर हित के पक्ष में हमेशा से थी और आगे भी रहेगी । विमल कुमार कहते हैं –

"सर्वानुमति से
सरकार चलानेवाले लोगों ने कहा
अब सर्वानुमति से ही
की जाएगी किसी की हत्या
सर्वानुमति से ही होगा
अब किसी का बलात्कार
गठबन्ध दौर की
यही राजनीति है " [1]

मात्र भारतीय परिवेश में ही नहीं पूरे वैश्विक परिवेश में अब इस शक्ति तंत्र का दबदबा बदसत्तूर कायम है । इराक़ पर आक्रमण करते हुए अमरिका ने पूरे विश्व के सामने अपनी यही छवि प्रस्तुत की थी कि वे पूरी मानवता की हिफाज़त के लिए इराक़ को दबोच रहा है । मदन कश्यप के शब्दों में –

"वे सदी के सबसे चालाक हत्यारे हैं
उनका दावा है
उन्होंने दुनिया भर की बेहतरी के लिए की हैं
दुनिया भर की हत्याएँ "[1]

[1] विमल कुमार - पानी का दुखडा - पृ.सं 28

आज पूरे विश्व में मानवता के एकमात्र पैरोकार अमेरिका है । वह जो छवियाँ गढेगा वहीं मानवता का मापदण्ड होगा। पूरे विश्व का बाज़ार किसी न किसी प्रकार आज अमेरिका द्वारा नियंत्रित हो रहा है। अमेरिका के हितों के विरुद्ध होने का मतलब हो गया है पूरी मानवता से दुश्मनी मोल लेना । रजनी कोठारी के शब्दों में -" सभी प्रमुख पहलकदमियाँ भी अमेरिका की तरफ से होने की संभावनायें रहती हैं। चाहे पूर्व सोवियत संघ के गणराज्यों का मामला हो या पूर्व युगोस्लोविया का, इस्लामिक दुनिया हो या इस्लामी बहुराष्ट्रीयता के दावे हों, इजराइल-फिलस्तीनी टकराव हो, दक्षिण आफ्रिका का मसला हो या फिर चीन की विस्तारवादी महत्वाकांक्षायें हों, हर जगह अमेरिका का हस्तक्षेप दिखायी देता है। जाहिर है कि पैक्स-अमेरिकाना या चौतरफा अमेरिकीकरण की प्रक्रिया को नज़रंदाज नहीं किया जा सकता, क्योंकि कारपरेट पूँजीवाद की दैत्यकार संस्थाओं और अमेरिकी विदेश विभाग की जुगलबंदी ने ही भूमंडलीकरण के नये केन्द्र का निर्माण किया है।"[2] कहा जा सकता है कि भारतीय राजनीति और बाजार की मिलीभगत जितनी हमारी आँखों के सामने हो रही है उसके कई गुना आँखों के पीछे घटित हो रही है । यह समुद्र में ऊपर से दिखने वाला बर्फ के टुकडे के समान है जिसका आकार अनुमान से कई गुना ज़्यादा है । पूरी अनिश्चितता के इस दौर में राजनीति और बाज़ार की मिलीभगत जनसाधारण को तमाशबीन बनाती जा रही हैं । मदन कश्यप कहते हैं – "तमाशा हमेशा ही सहज होता है क्योंकि इसमें / बनी-बनाई सरल प्रक्रिया में चीज़ें लगभग पूर्व निर्धारित गति से / चलकर पहले सोचे समझे अंत तक पहुँचती है / कैसे होता है वह देश / जिसका

[1] मदन कश्यप - नीम रोशनी में - पृ.सं 67

[2] राजनीति की किताब : रजनी कोठारी का कृतित्व – संपादक अभय कुमार दुबे - पृ.सं 319- 320

शासक बडे से बडे मसले को तमाशे में बदल देता है / और जनता को तमाशबीन बनने पर मजबूर कर देते हैं "[1]

4.1.3 सांप्रदायिक राजनीति का प्रतिरोध

भारत में सांप्रदायिक राजनीति की शुरुआत उपनिवेश काल से हुई थी । उपनिवेश काल से पूर्व भी भारत में सांप्रदायिक कट्टरता तो विद्यमान थी पर शासन को इससे प्रत्यक्ष रूप से कुछ लेना देना नहीं था । अंग्रेज़ों ने ही सर्वप्रथम अपनी 'फूट डालो और राज करो' चाल के तहत सांप्रदायिक आग्रह को भटकाया । राम पुनियानि के शब्दों में " एक तरह से देखा जाए तो यह विरोधाभास-सा लगता है। सांप्रदायिक तनाव मध्ययुगीन काल में भी मिलते हैं। पर सांप्रदायिक राजनीति का उदय उपनिवेशवाद के दौरान हुआ। औद्योगिक समाज की ओर संक्रमण के दौरान सामंती तत्वों की राजनीति से सांप्रदायिकता का उदय हुआ।"[2] भारत में सांप्रदायिक राजनीति का परिदृश्य आज इतना भयानक रूप धारण कर चुका है कि उसने सामाजिक संबन्धों को हर स्तर पर तहस-नहस करने की क्षमता आर्जित कर ली है। सांप्रदायिक राजनीति राजनेताओं के लिए सत्ता हथियाने का सबसे कारगर औजार बनती जा रही है। प्रौद्योगिकी और तकनीकी विकास के इस युग में भी सांप्रदायिक राजनीति का अयुक्तिक मिथक बहुत कारगर साबित हो रहा है । दिनोंदिन जटिल होती जा रही सांप्रदायिक राजनीति एक सामान्य नागरिक के सामने सवालों का अंबार खडी करती जाती हैं। राम पुनियानी पूछते हैं -"लोकतांत्रिक समाज- जिसमें सभी नागरिक शांति और सद्भाव के साथ रहते हैं- अपनी धार्मिक पहचानों के प्रति इतना सचेत क्यों हो गया है ? समाज, जिसे गरीबी , भूख और बीमारी के उन्मूलन में लगा होना चाहिए था ऐसे बेकार के मुद्दों में क्यों उलझ गया है जिनका सामाजिक प्राणी होने के नाते हमारे

[1] मदन कश्यप - नीम रोशनी में - पृ.सं 54
[2] राम पुनियानी –(अनु. रामकिशन गुप्ता) - सांप्रदायिक राजनीति तथ्य एवं मिथक - पृ.सं 14

जीवन से कुछ लेना-देना नहीं है ? इस उप महाद्वीप में गढे गए सांप्रदायिकता के सिक्के ने पूरे देश को अपनी काली लंबी छाया को आगोश में कैसे ले लिया ? और वास्तविक सामाजिक समस्याओं को दरकिनार क्यों कर दिया गया है ?"[1]

इन सवालों का कोई सीधा समाधान आज किसी के पास नहीं हैं । फिर भी इन सवालों के कारणों को स्पष्ट पहचाना जा सकता है । इन कारणों को पहचानना ही समाधान का पहला सोपान है । राम पुनियानी के मत में - "यह राजनीतिक नेतृत्व के कुछ तत्वों द्वारा खेले जा रहे सांप्रदायिक राजनीति के खेल की भयानक अभिव्यक्ति है । सांप्रदायिक राजनीति सभी सामाजिक पहचानों पर धर्म का मुखौटा लगा देती है । "[2] इन धार्मिक मुखौटों की पहचान सबसे महत्व पूर्ण है । पर प्रायः हम अपनी सहज बुद्धि यानि कांमन सेन्स से इन मुखौटों को पहचानने में चूक जाते हैं । क्योंकि सांप्रदायिक मिथक हमारे दिमाग में इस कदर रच बस गया होगा कि उसे अलग से पहचानना बहुत मुश्किल का काम हो जाता है । " लोगों के दिमागों में तथा विद्रुपित पाठ्यपुस्तकों के जरिए इतिहास के सांप्रदायिक रूप को वैधता मिल गयी है, जहाँ आम बहुसंख्यक लोगों के जीवन पैटर्न और सामाजिक संबन्ध प्रणाली को पृष्ठभूमि में धकेल दिया गया है। लोगों के जीवनों पर बल और 'सामाजिक संबन्धों 'की उचित समझ से कई पूर्वाग्रह खत्म हो सकते हैं और सच्चाई उजागर हो सकती है। "[3] प्रौद्योगिक विकास के इस युग में जहाँ सोशल मीडिया छवियों और स्मृतियों के निर्माण का कारखाना बनता जा रहा है वहाँ कवियों को पहले के अतिरिक्त बहुत सजग रहना होगा। तेजबीर सिंह कहते हैं -"लेकिन जब मिथकीकरण केवल फैंटसी न रह जाए और सत्ता बटोरने का आधार बन जाए, जब ऐतिहासिक लगने वाले साक्ष्य के आधार पर व्याख्या के अनुसार इतिहास को तोडा-मरोडा जाने लगे तो उसका पर्दाफाश

[1] राम पुनियानी –(अनु. रामकिशन गुप्ता) - सांप्रदायिक राजनीति तथ्य एवं मिथक - पृ सं 14
[2] राम पुनियानी –(अनु. रामकिशन गुप्ता) - सांप्रदायिक राजनीति तथ्य एवं मिथक - पृ सं 14
[3] राम पुनियानी –(अनु. रामकिशन गुप्ता) - सांप्रदायिक राजनीति तथ्य एवं मिथक -पृ..सं. 26- 27

किया जाना चाहिए।"[1] समकालीन कवि अपनी कविताओं के माध्यम से यही काम कर रहे हैं। वीरेंन डंगवाल धर्मांधता की पोल खोलते हुए कहते हैं –

"मनुष्य मात्र की एकता प्रामाणित करने के लिए
एक जैसी हुंगार, हाहाकार ।
प्रार्थनाग्रह ज़रूर उठाये गये एक से एक आलिशान
मगर भीतर चिने हुए रक्त के गारे से
वे खोखले आत्महीन शिखर-गुम्बद-मीनार
ऊँगली से छूते ही जिन्हें रिस आता है ख़ून !
आख़िर यह किनके हाथों सौंप दिया है ईश्वर
तुमने अपना इतना बडा कारोबार ?

अपना कारखाना बंद कर के
किस घोंसले में जा छिपे हो भगवान ?
कौन –सा है आख़िर वह सातवाँ आसमान ?
हे, अरे ,अबे ओ करुणानिधान !! " [2]

मनुष्यमात्र की एकता प्रामाणित करना सभी धर्मों की आंतरिक सत्ता है पर राजनीति को इस से कुछ खास लेना देना नहीं है । इसी कारण सांप्रदायिक राजनीति मनुष्य मात्र की शुद्धता या असलियत की पाखंड को छवियाँ बनाकर लगातार उभारती है । पियरे बोर्दिओ की हवाला देकर बद्री नारायण कहते है " पियरे बोर्दिया अपनी पुस्तक लैग्वेज एण्ड सिम्बोलिक पावर में अत्यन्त विस्तार से बताते हैं कि किस प्रकार समाज

[1] उद्धरण - सिंह तेजबीर ,मिथिफइंग हिस्ट्री (संपादकीय) सेमिनार ,सं 364 दिसंबर 1989 – सांप्रदायित राजनीती
तथ्य एवं मिथक - राम पुनियानी पृ.सं 26
[2] वीरेन डंगवाल – दुश्चक्र में स्रष्टा - पृ.सं 24-25

का प्रभु वर्ग प्रतीकात्मक उत्पादन के सभी साधनों पर कब्जा कर लेना चाहता है तथा इनकी मदद में ऐसे प्रतीकात्मक संसार की रचना करता है, जो उसके हितपरक ज्ञान एवं विचारधारा का वहन करे, उनका प्रसार करें तथा उन्हें लोकप्रिय बनायें ।"[1] समकालीन राजनीति के इसी संदर्भ की ओर इशारा करके स्वप्निल श्रीवास्तव कहते हैं –

"खुदाई में वे ढूंढ रहे हैं
इतिहास की प्राचीन अस्थियाँ
वे किसी धर्म भीरू राजा का प्रलाप
और ईश्वर की
दया ढूढ रहे हैं

अपनी कुर्सी के लिए वे
खोज रहे थे देवताओं की
मज़बूत पीठ
सप्तऋषियों के आशिर्वाद "[2]

छवियों का निर्माण आज सत्ता केलिए बेहद ज़रूरी है। इन्हीं छवियों के बलबूते पर सत्ता लोगों की मानसिकता को अपने अनुकूल बनाये रखने में कामयाब होती है। छवियों के माध्यम से गढे गये शुद्ध और मूल की परिकल्पना सत्ता विरोधी हर पक्ष को अपना हाशिया बना देता है। लगातार छवियों की निर्मित होते रहने की प्रणाली बहुसंख्यकों को गुमराह कर देती है। बद्रिनारायण कहते हैं- "आधिपत्यशाली शक्तियाँ अपना आधिपत्य बनाने, बढाने एवं बचाने के लिए स्मृतियों को अपनी सुविधानुसार

[1] बद्री नारायण – प्रतिरोध की संस्कृति - पृ.सं 25
[2] स्वप्निल श्रीवास्तव – मुझे दूसरी पृथ्वी चाहिए -पृ.सं 23

'मैनुपुलेट' करती रहती हैं। इसके लिए वे शब्द, वाक्य, प्रतीक एवं बुद्धिजीवियों की सेना का इस्तेमाल करती रहती हैं। प्रिण्ट एवं इलेक्ट्रॉनिक टेक्नोलॉजी उनकी सेवा में तो तत्पर रहती ही है। सत्ता एवं आधिपत्यशाली शक्तियाँ इस हेतु 'इन्ट्रैक्शन जोन' बनाती हैं, जो व्यक्ति, समुदाय एवं जाति उनके 'इन्ट्रैक्शन जोन' में आ जाती हैं, उनकी स्मृतियों को 'मैनुपुलेट' करना सत्ता के लिए आसान हो जाता है।"[1] सत्ता की इसी प्रणाली को अपनी कविता 'कांठ की कुर्सी , काठ की लाठी ' में रवीश कुमार यों अभिव्यक्ति देते हैं-"वो जो मज़हब के नाम पर डराता है / वो लाश जलाने के बाद बची हुई / लकडियों से / कुर्सी बनाता है / कुर्सी से बची लकडियों से / लाठी बनाता है / और बनाता है / मज़हब के बेकार होते उसूलों से / लाठी थामने वाले लठैत / हम सब के भीतर / वही काठ है जो बार बार चढ जाती है / नफरतों की हांडी चढाने वाले जानते हैं / इसीलिए लाठी लेकर आते हैं / लाठी के डर से हम लाठी बन जाते है / कांठ की लाठी / कांठ की कुर्सी "[2] छवियों की लगातर निर्मित होने की स्थिति के चलते कवि हमें आगाह करते हैं कि हमें अपने भीतर छिपे काठ से सावधान रहना है । क्योंकि अनुकूल स्थिति पाकर चकरा गयी हमारी बुद्धि कहीं नफरत की लाठी को ना थामने लग जायें । इस प्रकार लगातार उभर रहे छवियों से लोगों को आगाह करना भी कोई आसान कार्य नहीं है । विजय कुमार कहते हैं " सच्चाई का एक और नया रूप इधर के वर्षों में विकसित हुआ है कि प्रभु वर्गों ने विकास प्रगति और खुशहाली के कुछ नये किस्म के मिथकों को जनमानस में प्रचारित करने की अपनी क्षमता में जबरदस्त इज़ाफ़ा किया है। यथार्थ का यह बदला हुआ रूप बहुत जटिल और बहुस्तरीय है और एक सुकवि के लिए बहुत नयी तरह की मुशकिलें पैदा करता है।"[3]

---

[1] बद्री नारायण - प्रतिरोध की संस्कृति - पृ.सं 68

[2] रवीश कुमार कस्बा ब्लॉग - http://naisadak.org/kath-ki-kursi-kath-ki-lathi/ January 25, 2016

[3] विजय कुमार – राजेश जोशी स्वप्न और प्रतिरोध - संपादक नीगज - पृ.सं .203

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि नस्ल परक तथा जातीय शुचिता की सोच शासन से सदियों पहले ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से संबन्धित रही थी। यह शुचिता की सोच ही सांप्रदायिकता का भी मूल उत्स है। पहले उसे पहचाना जा सकता था पर समकालीन संदर्भ में छवियों से आच्छादित सांप्रदायिक आग्रह की पहचान इस कदर कष्टसाध्य होती जा रही है कि उसका पोल खोलना भी जोखिम भरा होता जा रहा है।

4.2 उदारीकरण के दौर में बदलते मानवीय संबन्ध

अर्थ मानवीय सामाजिक संबन्धों का केन्द्रीभूत तत्व है । मानव इतिहास में जब से पैसे का पदार्पण हुआ तब से उन्होने मानवीय सामाजिक संबन्धों की बुनियादी नियामक भूमिका हथिया ली थी । प्रारंभिक तौर पर मात्र वर्तमान सामाजिक जीवन को आसान बनाना उसका मकसद था । पूँजी के विकास के साथ पैसे की सामाजिक भूमिका भी बदलती गयीं । वर्तमान समय में पैसे की भूमिका इस कदर पेचीदा हो गयी है कि उसे सही ढंग से विश्लेषित करना भी कष्टसाध्य है। भविष्य को वर्तमान से कहीं अधिक सुख-सुविधा पूर्ण बनाने की आकांक्षा को हर मनुष्य में जिलाये रखना समकालीन अर्थ व्यवस्था के लिए बेहद ज़रूरी है । इसीलिए आज हमारी बैंकिग्ङ व्यवस्था हर किसी को साख यानि क्रेडिट से सराबोर कर देना चाहती है। लोगों की क्रय अभिवांछा को भड़काने की सारी तिकड़म जहाँ बाज़ार तैयार करता है वहाँ लोगों की क्रय क्षमता को पर्याप्त बनाये रखने की सारी सुनियोजित योजनाओं को बैंक मुहय्या कराते हैं । नये युग के इन्हीं बैंकों को लक्ष्य करते हुए मंगलेश डबराल अपनी 'नया बैंक' कविता में कहते हैं कि नया बैंक पुराने बैंकों की तरह नहीं है, वहाँ मानवीय संवेदनाओं केलिए जगह लगातार सिकुड गया है । मुनाफे की रफतार को हर पल नापती बैंक हर खाते से बखूबी वाकिफ़ है । कवि के शब्दों में - "नये बैंक में वे ख़ज़ांची नहीं हैं जो महान गणितज्ञों की तरह बैठे होते थे / किसी अंधेरे से रहस्यमय पूंजी को निकालते थे / और एक प्रमेय की तरह हल कर देते थे / वे प्रबंधक नहीं हैं /

जो बूढ़े लोगों की पेंशन का हिसाब संभाल कर रखते थे / नया बैंक सिर्फ दिये जानेवाले क़र्ज़ / और लिए जानेवाले ब्याज का हिसाब रखता है / प्रोसेसिंग शुल्क मासिक किस्त चक्रवृद्धि ब्याज / लेट पेमेंट चार्जेज और पैनल्टी वसूलता है । / और एक जासूस की तरह देखता रहता है कि कौन अमीर हो रहा है / किसका पैसा कम कम हो रहा है कौन दिवालियेपन के कगार पर है / और किसका खाता बंद करने का समय आ गया है"[1]। इस अर्थ व्यवस्था से आम लोग इस कदर आक्रान्त हैं कि वह सही गलत का निर्णय कर पाने में लगातार असमर्थ होते जा रहे हैं । विनय विश्वास कहते हैं- "विवेक मनुष्य की अपनी शक्ति है । अच्छे-बुरे उचित-अनुचित के बीच अंतर करता है। बाह्य जगत से मनुष्य के द्वंद्वात्मक संबंधों द्वारा परिवर्तित-विकसित होने वाली शक्ति है यह । आज का बाह्य जगत वस्तुओं से भरा है । वस्तुओं के साथ-साथ मनुष्य-विवेक का विकास ना होने पर वस्तुओं से मनुष्य का संबन्ध द्वंद्वात्मक नहीं हो सकते । उनमें कोई टकराव नहीं हो सकता वे स्वीकारात्मक और एकयामी ही हो सकते है।"[2] लगातार मनुष्य की सहज बुद्धि को कुन्द करती 'वस्तु' के इस यथार्थ की ओर इशारा करते हुए निर्मला गर्ग कहती हैं –

"क्या करते हैं हम
रिश्तों की जगह चीज़ों को रखते हैं
चीज़ें पहले घेर लेती हैं
फिर मौका पाकर अकेला कर देती हैं " [3]

मनुष्य और वस्तु के बीच जो द्वंद्वात्मक संबन्ध है उसे निरस्त करने की पूरी सुनियोजित व्यवस्था आज बाज़ार के पास है । सांप्रदायिक राजनीति जहाँ छवियों को मैनुपुलेट

[1] मंगलेश डबराल - नये युग में शत्रु - पृ सं 23
[2] विनय विश्वास - आज की कविता - पृ.सं 26
[3] निर्मला गर्ग – कबाडी का तराज़ू - पृ.सं 12

कर के अपना स्वार्थ सिद्ध करती है वहाँ बाज़ार नयी छवियों को लगातार निर्मित करके लोगों को गुमराह रखता है ।

4.2.1 कविता में वैश्वीकरण का यथार्थ

आज की विश्व व्यवस्था को हम भूमंडलीकरण के रूप में अभिहित करते हैं। हमारी व्यावहारिक बुद्धि में भूमंडलीकरण की संकल्पना इस कदर रची बसी है कि उसके लिए आज कोई अलग व्याख्या की भी ज़रूरत नहीं है। प्रभा खेतान समकालीन भूमंडलीकृत व्यवस्था को भूमंडलीकरण का तीसरा चरण मानती हैं। उनके अनुसार "समकालीन भूमंडलीकरण वास्तव में कोई नई घटना नहीं है । इसकी प्रक्रिया सौ वर्ष पहले शुरू हो चुकी थी यानि उस समय जब न्यू डील की स्थापना हुई थी । वास्तविकता यह है कि हम आज भूमंडलीकरण के तीसरे चरण में हैं । उद्योग व्यवस्था के संदर्भ में प्रत्येक चरण में नया दृष्टिकोण और नई तकनीक रहते हैं । व्यापार और पूंजी के निवेश में नई राष्ट्रीय उर्जा को संलग्न होते हुए देखा जा सकता है। किन्तु समकालीन दौर गुणात्मक रूप से भूमंडलीकरण के पिछले दो चरणों से अलग है । आज समकालीन व्यवस्था ज़्यादा लचीली और गतिशील हैं, क्योंकि उद्योग-व्यवस्था में सूचना तकनीक की महती भूमिका है।"[1] सूचना प्रौद्योगिकी की महती भूमिका आज बाज़ार को नये सिरे से पुनर्गठित कर रही है। कल तक जो निष्क्रिय उपभोक्ता था वह आज बाज़ार के लिए सक्रिय उपभोक्ता के रूप में तबदील हुआ है । भू-मंडी आज उपभोक्ता को कर्तृत्व शक्ति से भरपूर होने के आभासी यथार्थ में फँसाये रखने में कामयाब हुआ है । जगदीश्वर चतुर्वेदी और सुधा सिंह द्वारा संपादित भूमंडलीकरण और ग्लोबल मीडिया नामक पुस्तक में अर्मांड मेतलार्द का हवाला दे कर कहा गया है कि-" सक्रिय उपभोक्ता की धारणा ने उस संदर्भ में एक खास अर्थ ग्रहण कर लिया जब नव्य उदारपंथी सांस्कृतिक मालों के उपभोक्ता की संप्रभुता पर

[1] प्रभा खेतान - भूमंडलीकरण ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र -पृ.सं 14

जोर दे रहे थे। उपभोक्ता की इस धारणा को जबर्दस्त समर्थन मिला, किन्तु इस प्रक्रिया में विभिन्न सांस्कृतिक एवं आर्थिक व्यवस्थाओं के बीच विनिमय की असमानता के सवाल छिपा दिए गए ।"[1] चीज़ों को ऑनलइन खरीदने और रेटिग्ङ देने की सुविधा ने हमें जो स्वतंत्रता और कर्तृत्व शक्ति प्रदान की है वह दरअसल एक आभासी यथार्थ है । ज्ञानेद्रपति कहते हैं - "आजादी के गोल्डन जूबली साल में / आजादी का मतलब है / बाजार से अपनी पसन्द की चीज चुनने की आजादी / और आपकी पसंद / वे तय करते हैं / जिनके पास उपकरणों का कायाबल / विज्ञापनों का मायाबल / आप की आजादी पसंद है उन्हें / चीजों का गुलाम बनाने की आजादी / यान्त्रिक सभ्यता के शीर्ष पर / उन्होंने केवल कम्प्यूटर ही नहीं बनाए हैं / आपके दिमाग को भी कम्प्यूटर में बदल दिया है / जिसका साफ्टवेयर वे सप्लई करते हैं / घर बैठे होम डिलिवरी / मुफ्त, बिल्कुल मुफ्त "[2] वर्तमान समय में आज़ादी की परिकल्पना नये सिरे से व्याख्यायित हो रही है । आज आज़ादी सीधे मनुष्य की क्रय शक्ति और बाज़ार में चुनाव एवं पसंद को संबोधित कर रही है । ज्ञानात्मक प्रपंच (Sensory illusion) सूचना प्रौद्योगिकी के सहारे इतना गहरा हो चुके है कि मनुष्य की सहज बुद्धि कुन्द पड गयी है । आज सामाजिक जीवन के हर स्तर को ज्ञानात्मक प्रपंच या आभासी यथार्थ नियन्त्रित कर रहा है और इसी कारण अन्य किसी भी युग से बढकर समकालीन रचनाकार का दायित्व कई गुना बढ गया है । राजेश जोशी कहते हैं - "इस समय जो कविता लिख रहा है वह एक ऐसा कवि है जो दो शताब्दियों के बीच आवाजाही कर रहा है। उसके पास पिछली सदी में बने और टूटे स्वप्न और स्मृतियाँ भी हैं और इस सदी की नई वास्तविकताएँ भी । आज के कवि को उद्योग और प्रौद्योगिकी जैसी दो अलग-अलग चरित्रों वाली विकट प्रणालियों और उसकी जटिल

[1] जगदीश्वर चतुर्वेदी और सुधा सिंह - भूमंडलीकरण और ग्लोबल मीडिया - पृ.सं 18
[2] ज्ञानेन्द्रपति - संशयात्मा - पृ.सं 123

वास्तविकताओं के बीच आवाजाही करनी पड़ रही है । अन्तःकरण विहीन मुक्त बाज़ार और लोकतान्त्रिक स्पेस को दिनोदिन कम करती प्रौद्योगिकी ने समाज की गति और संरचना को ही नहीं बदला है , हर रचना की प्राख्या और उपाख्या को भी बदला है।"[1] बाज़ार के बने बनाये भूल-भुलैये से बाहर निकलकर छद्म वास्तविकता की पोल खोलने का महान दायित्व समकालीन साहित्यकारों के कन्धों पर है। पंकज राग कहते हैं-

"ऐसी ही रातें सौ साल पहले भी थीं
लेकिन तब शायद एक स्पष्ट पहचान थी
अब सब कुछ गड्ड-मड्ड हो गया है
विभेद डूब गया है
शक्लें तरल हो गई हैं
अब विमर्श ही विमर्श है
तकनीकों का वैज्ञानिक विमर्श
ताक़त के नए सिद्धान्त
चकाचौंध कर खींचते हुए नए चुम्बक
रोशन कर के झुलसा देने की कला
हर तरीके के पले पाले कलाकार
बुद्धिजीवियों और तालिमयाफ़्ता नुमाइंदों की बढ़ती कतार" [2]

आज छद्म को पहचानना कोई आसान कार्य नहीं है। संस्कृति, कला और साहित्य इस कदर गड्ढ-मड्ड हो गए हैं, और उसके बीच से रास्ता निकालना बाज़ार केलिए आसान हो गया है। इस माहौल में साहित्यकार को जागरूक रहना नितान्त अवश्यक है; नहीं

[1] राजेश जोशी - एक कवि की दूसरी नोट बुक : समकालीनता और साहित्य - पृ.सं 20
[2] पंकज राग – यह भूमंडल की रात है - पृ सं 10

तो वह जिसका प्रतिरोध कर रहा है उसी का पैरोकार बन जाने की पूरी संभावना है। विष्णु नागर कहते हैं –

"एक दिन ऐसा आएगा
जब पंछी बहेलिया के घर जाएगा
जाल में फँसना चाहेगा
मौत की खुशी मनाएगा

एक दिन ऐसा आएगा
जब बहेलिया जाल समेत उड़ जाएगा
पंछी आकाश से उतरना भूल जाएँगे
सारे दाने ख़त्म हो जाएँगे
किस्से याद नहीं आएँगे " [1]

वर्चस्वशाली शक्तियों ने सूचना प्रौद्योगिकी के बदौलत हमारे इतिहास बोध को बाज़ार के अनुकूल इस तरह उलट-पलट दिया है कि यथार्थ का पता लगाना ही दुष्कर हो गया है । विजय कुमार कहते हैं- "टेक्नॉलाजी की इस उन्नत अवस्था में कला का सच अब एक आत्मिक और अमूर्त धारणा नहीं है । वह किसी के द्वारा प्रायोजित और परोसा गया 'मैन्युफैक्चर्ड' सच है, सच आज जनसंचार माध्यमों पर से नियोजित तरीके से तैयार की गयी एक छवि है, एक इमेज़ है । आप इस सच को खोजते नहीं , यह सच किसी 'दूसरे' द्वारा आपके लिए एक उत्पादन की तरह तैयार किया जाता है और यह तैयारशुदा सच आपकी रुचियों , प्रवृत्तियों और विश्वदृष्टि को नियंत्रित कर रहा है । इतिहास में यह पहली बार हो रहा है कि आपकी अभिव्यक्ति के अनुसार आपका माध्यम नहीं बन रहा, बल्कि माध्यम पहले से तैयार है , आपको उसके खाँचों में अपने

[1] विष्णु नागर – कवि ने कहा : चुनी हुई कविताएँ - पृ.सं 49

सच को अंटाना भर है । आज सच का प्रदर्शन और निष्पादन सच से ज़्यादा महत्वपूर्ण बनने लगा है।"[1] इस प्रकार पहले से विन्यस्त' सच' के आभास को यथार्थ के रूप में स्वीकार करने के लिए हम आज विवश हैं । वन्दना देवेन्द्र कहतीं हैं –

"नटीय कुशलता प्राप्त
ये महत्वाकांक्षी खिलंदड़े
समय और स्थान के अनुकूल
आँखें दिखा या खीसें परोस
किसी विन्यस्त सच्चाई की ओट में
आपकी अपनी सहज समझ पर
प्रश्नचिह्न ठोंक भ्रमित कर चुके हैं "[2]

बाज़ार ने हमें इस कदर भ्रमित कर के रखा है कि हमें इस का पता ही नहीं चलता कि हम कब उपभोक्ता से विक्रेता बन गये हैं । 'मानो न मानो 'शीर्षक कविता में भगवत रावत कहते है–

"अब जबकि उदारता के ताश के
सारे पत्ते खुल चुके हैं
एक दिन बाज़ार में बेचने-ही-बेचनेवाले बचेंगे
कहीं कोई खरीदनेवाला नहीं होगा "[3]

भू मंडी के यथार्थ ने आज सामाजिक जीवन के यथार्थ को अपने सुनियोजित व्यवहार कुशलता के बदौलत अपने हिसाब से रूपायित कर दिया है । इसी कारण झूठ और सच के बीच अंतर करने की हमारी क्षमता लगातार कमज़ोर होती जाती है । जो सच

[1] विजय कुमार - कविता की संगत -पृ.सं 31
[2] वन्दना देवेन्द्र – आत्महत्या के पर्याय - पृ.सं 21
[3] भगवत रावत - ऐसी कैसी नींद - पृ.सं 95

को थोडी बहुत पहचानने की क्षमता रखती है उन्हें डराकर-धमकाकार अपने अनुकूल कराना बाज़ार केलिए आज आसान हो गया है युवा कवि राहुल राजेश कहते हैं –

"डर झूठ का जनक है
और साहस सत्य का पिता

विडंबना तो देखिए

झूठ पूरे साहस के साथ
अडा रहता है आखिर तक

और सच आखिर तक आते-आते
बदल जाता है एक झूठ में
डर के मारे " [1]

आज वर्चस्वशाली शक्तियाँ सामाजिक जीवन को अपने काबू में रखने केलिए डर के विभिन्न रूपों को व्यापक पैमाने पर इस्तेमाल कर रही हैं। अभिजनों को आरामदायक ज़िंदगी और सोशल स्टाटस को बनाये रखने के प्रलोभन में तथा अभावग्रस्तों को अभाव में बनाये रखने के आतंक को समाज में जिलाये रखने में बाज़ार ने निपुणता हासिल की है । खुली आँखों से जहाँ हम इस आतंक को पहचानने में अक्षम रह जाते हैं वहाँ क्रान्त दर्शी कवि बाज़ार के पोल खोलकर अपने सामाजिक दायित्व को निभाते हैं ।

[1] राहुल राजेश - वागर्थ - दिसंबर 2017 - पृ. सं 59

4.2.2 बाज़ार : हिंसा का स्थल

बाज़ार आज पहले की तरह खरीद-फ़रोख्त की जगह मात्र नहीं रहा है । पूरे सामाजिक संबन्धों की लगाम आज बाज़ार के हाथ में है । बाहरी दृष्टि से तो बाज़ार उतना क्रूर नहीं दिखेगा जितना वह वास्तव में हैं । अभिव्यक्ति के पूरे संसाधनों पर बाज़ार का कब्ज़ा है । इसीलिए हम वहीं देखेंगे जो बाज़ार चाहता है । विनय विश्वास कहते हैं –"बाज़ार का वर्तमान विस्तार अभूतपूर्व है । पहले वह स्थान-मात्र था अब उसका अपना समय है , जो किसी भी स्थान पर हो सकता है। पहले वह ज़रूरतें पूरी करने का माध्यम ही था अब ज़रूरतें पैदा भी करता है । पहले वह मनुष्य के लिए था अब मनुष्य उसके लिए भी है । एक ऐसी वास्तविकता है वह, जिसे समझे और जिसके प्रति अपना रवैया तय किए बिना किसी का काम नहीं चलने वाला । उसकी पैठ ज़िंदगी के तक़रीबन हर कोने में है।"[1] ज़िन्दगी के प्रायः हर स्तर पर व्याप्त बाज़ार आज अपने आप को बहुत निरीह और भोला दिखाने में माहिर हुआ है। पर वास्तव में बाज़ार का हाथ मासूमों के खून से सना है, पर उसने अपने नाखुनों को छिपा रखा है । लीलाधर मंडलोई कहते हैं -

"बाज़ार हिंसा का स्थल है
यहाँ से शुरू होता है आपका वध
और आप को अपनी मृत्यु का बोध नहीं होता "[2]

आज हमारे सामाजिक जीवन में ऐसी कोई जगह नहीं बची है जो बाज़ार से बाहर है । आल्विन टाफलर का हवाला देते हुए कृष्णदत्त पालिवाल कहते हैं- "ज्ञान, धन और हिंसा तीनों मिलकर इक्कीसवीं शताब्दी का दरवाज़ा खटखटा रहे हैं। एक नया 'विश्व साम्राज्यवाद', 'विश्व उपनिवेशवाद' सामने ख़ड़ा है और यह 'तीसरी दुनिया'

[1] विनय विश्वास - आज की कविता - पृ सं 253
[2] लीलाधर मंडलोई - लिक्खे में दुख - . पृ सं 83

के देशों को अपना स्थायी उपनिवेश बनाने की तैयारी में है । इसलिए हमें शक्ति का नया नव्य पूँजीवादी अर्थ 'द न्यू मीनिंग ऑफ पॉवर' को समझना ही पड़ेगा । यह विवशता है पर इससे बचा नहीं जा सकता।"[1] आल्विन टाफलर के अनुसार बाज़ार आज पॉवर शिफ्ट का खेल खेल रहा है जिसके मूल में ज्ञान, धन और हिंसा काम कर रहे हैं । पॉवर शिफ्ट से बाज़ार ने आज अपनी एक सुनियोजित विचारधारा रूपायित की है जो व्यापक पैमाने पर हो रही हिंसा को ज्ञान और धन में घुला मिलाकर तथा पॉलिश कर के हमारे सामने परोस रहा है । कृष्णदत्त पालीवाल कहते हैं कि- "एक ऐसी चुनौती भरी विचारधारा जिसमें समस्त मानवीय चिंतन, साहित्य, व्यवस्था, विचारधारा, धर्म, दर्शन, इतिहास, आंदोलन, प्रवृत्तिवाद, सभ्यता, संस्कृति, मूल्य व्यवस्था सभी को 'उत्तर' 'पोस्ट' व्यतीत घोषित कर दिया है । जिसमें 'वाइलेन्स नॉलेज और वेल्थ' का संश्लिष्ट त्रिक्-दर्शन है या 'माइंड-मनी-मॉसल'तीन मकारों की मायावादी लीला। एक ऐसी लीला जिसका लीला नायक कोई एक नहीं है। पल-पल परिवर्तित अर्थतंत्र की महामाया लुभावनी ठगिनी । इसके अनेक रूप हैं । अनेक मुखौटे। आदमी इस माया को भोग रहा है और यह माया आदमी को भोगकर प्रसन्न है।"[2] इस हिंसात्मक बाज़ार के बीच रह कर हम महसूस करने में अक्षम रहते हैं कि हम लगातार दूसरों के हिस्से का अतिक्रमण करते जा रहे हैं । कुमार अंबुज कहते हैं –

"फिर मनुष्य ही करते हैं मनुष्यों पर अतिक्रमण
घेरते हुए खुद को वस्तुओं से
आसक्ति की चाशनी में वे पगते चले जाते हैं
एक ऐसा नया संसार

[1] कृष्णदत्त पालीवाल - उत्तर आधुनिकतावाद और दलित साहित्य - पृ.सं 13-14
[2] कृष्णदत्त पालीवाल - उत्तर आधुनिकतावाद और दलित साहित्य - पृ.सं 18

जिसमें मानवीय दिखता हुआ हर उपक्रम
किसी नयी वस्तु को ले सकने की सामर्थ्य बताता है " [1]

बाज़ार में रहकर हम यह पहचान नहीं पाते कि हिंसा का कितना हिस्सा हम सांझा कर रहे हैं । बाज़ार हमें आराम के तलब में इतना मशगूल रखता है कि हमारी जैविक ज्ञानात्मक क्षमता कुंठित हो जाती है । यह स्थिति समकालीन कवि के सामने ऐसी पेचीदगी उपस्थित करती है जिस से निस्तार पाना कोई आसान कार्य नहीं है । कवि विजय कुमार कहते हैं – "बाज़ार ,पूँजी और टेक्नोलॉजी की इस दुनिया में आज कवि का एक नयी तरह का द्वन्द्वात्मक अनुभव है । वह एक ही समय में पूँजी की इस मायावी शक्ति-संरचना का हिस्सा भी है और बाहर भी खड़ा है । न वह सभ्यता की इस विकास-यात्रा से अलग-थलग रह सकता है और ना उसका अन्ध समर्थन कर सकता है । अपनी इस घेराबन्दी की कुछ मोटी-मोटी बातें उसे मालूम है । वह कहता है कि टेक्नोलॉजी आज की राजनीति, समाजनीति और अर्थनीति , सभी कुछ से मनुष्य तत्व को विस्थापित कर देना चाहती है । वह कहता है कि एक नया मनुष्य बन रहा है , जिसे एक साथ पूरी दुनिया की खबर है और वह अपने ही पड़ोसी के दुख-दर्द से बेखबर है । यह एक ऐसा समय है जब दुनिया में दूर-दराज के किसी हिस्से में एक भयावह युद्ध होता है और वह युद्ध दृश्य –माध्यमों में वीडियो गेम में तब्दील हो जाता है । निर्दोष नागरिक बस्तियों पर बम गिरते हैं , कत्लेआम होते हैं , आगजनी और गोलाबारी होती है । चारों तरफ भगद्दड, धर-पकड़, चीख-पुकार , आर्तनाद और असहायता के दृश्यों की बारात-सी होती रहती है और हम सब यह जब देख रहे होते हैं तो उसी समय अपने कमरे में डइनिंग टेबल पर बैठे सुस्वादु भोजन भी कर रहे होते हैं । "[2] हमें बहुत कुछ का रंज है ,दुनिया बेहतर होने की आकांक्षा हम सब को है पर

[1] कुमार अंबुज - अतिक्रमण - पृ.सं 27-28
[2] विजय कुमार - कविता के पते-ठिकाने - पृ.सं .38-39

हमारे आराम को दाँव पर लगाकर हरगिज़ नहीं । इसलिए मंगलेश डबराल कहते हैं –

"इन दिनों लोगों को परवाह नहीं उनके साथ क्या हो रहा है
कोई अन्याय को महसूस नहीं करता
लोग अत्याचार को धूल की तरह झाड़ देते हैं
सहसा चिल्ला उठते हैं नहीं नहीं
कहीं से तुरंत कोई ख़ुशी खोजकर ले आते हैं
उसे जमा कर लेते हैं अपने पास जैसे वह सिर्फ उनके लिए बनी हो
बहुत सारे कपड़े और जूते पहन लेते हैं बहुत सारा खाना खा लेते हैं
एक महंगा मोबाइल निकालते हैं पने अश्लील संदेशों के साथ
दंगों में मारे गये लोगों के घर से उठाकर ले आते हैं
एक टेलिविज़न ताकि जारी रह सके मनोरंजन " [1]

आराम और मनोरंजन की जितनी सारी सुविधायें उपलब्ध होंगी उसकी पृष्ठभूमि में अनवरत हिंसाएं भी चल रही होंगी। इस हिंसा को पहचानना आज महत्वपूर्ण है। सिर्फ हिंसा को पहचानना ही नहीं उसके विरुद्ध आवाज़ उठाना भी ज़रूरी है। पर बाज़ारूव्यवस्था ने हमें इस तरह कायर कर दिया है कि अकेले आवाज़ उठाने की क्षमता हम खो चुके हैं। प्रतिरोध का हर स्वर आज लाचार प्रतीत हो रहा है। राजेश जोशी कहते हैं –

"पहले एक बकरी के मिमियाने की आवाज़ थी
फिर एक रेवड़ कहीं से अचानक आ गया
और सैकडों बकरियाँ मिमियाने लगीं

[1] मंगलेश डबराल – नये युग में शत्रु - पृ.सं. 41

मैं घाटी के बीच था
यहाँ कुछ भी बोलो प्रतिध्वनित होता था
प्रतिध्वनित होकर मिमियाना कई गुना हो गया

एकाएक अपनी कलई पर बाँधी घड़ी की तरफ
गई मेरी नज़र
समय की टिक-टिक
मिमियाने में बदल चुकी थी वहाँ "[1]

प्रितिरोध के हर स्वर को बाज़ार आज मिमियाने में बदला रहा है। अखबारों की सुर्खियों से लेकर मीडिया के हर स्तर को नियंत्रित करने में आज बाज़ार सक्षम है । इसी कारण बाज़ार द्वारा निर्मित हाशिया लगातार हिंसा भोगने केलिए अभिशप्त हो गया है । प्रतिरोध का हर मुहिम जहाँ मिमियाने में बदल रहा है वहाँ कविता में ही हाशिये पर लगे चादर हटाकर हिंसा के स्वरूप को दिखाने की क्षमता शेष रह गयी है। इसीलिए ही राजेश जोशी कहते हैं -"कविता संभवतः हमारे समय की वह आखिरी आवाज़ है जिसे बाज़ार और हिंसा अभी तक मलिन और गुमराह नहीं कर सकी है। "[2]

4.2.3 अमरिकीकरण का हौआ

द्वितीय-विश्व युद्ध के बाद शीत-युद्ध के दौरान वैश्विक स्तर पर अमेरिका का दबदबा शुरू हुआ था। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद सोवियत संघ और विजयी मित्र राष्ट्रों (अमेरिका , ब्रिटन, फ्रांस) के बीच लगातार तीसरा विश्व युद्ध का माहौल बना रहा । युद्ध छिड़ने का आसार बने रहने के उस संदर्भ को शीत-युद्ध नाम से अभिहित किया गया है । 'समाज विज्ञान विश्व' कोश के अनुसार –"अंतार्राष्ट्रीय राजनीति पर शीत-युद्ध

[1] राजेश जोशी – ज़िद – पृ.सं .36
[2] राजेश जोशी - एक कवि की दूसरी नोट बुक : समकालीनता और साहित्य - पृ.सं.19

की परिघटना क़रीब चार दशक से ज़्यादा समय तक छाई रही। यह अवधि 1945 से नब्बे के दशक के शुरुआती वर्षों तक मानी जाती है । इसे दो महाशक्तियों (अमेरिका और सोवियत संघ) के बीच हथियारों का इस्तेमाल किये बिना चले विश्व-प्रभुत्व के संघर्ष के रूप में भी देखा जाता है "[1] सोवियत संघ के पतन के साथ शीत-युद्ध समाप्त हुआ और पूरे वैश्विक संदर्भ में अमेरिका का वर्चस्व स्थापित हुआ। शीत युद्ध के बाद अमेरिका ने बहुत सुनियोजित रूप से वित्त पूँजी और उदारीकरण की व्यवस्था के प्रबन्धन द्वारा अपने आप को विश्व पुलीस के रूप में प्रतिष्ठित किया। इसी संदर्भ को रेखांकित करते हुए ज्ञानेन्द्रपति कहते हैं –

"शीतयुद्ध की समाप्ति पर
देखो , अब कितना शीतल है उनका मस्तिष्क
बन्द हो गया है सन्निपाती प्रलाप
वह जो लाल दैत्य रह-रहकर सपनों में चिंघाड़ता आता था
चारों दिशाओं से
बिला गया है
उन्होंने फेंक भी दिया है बाँह से खोल
अतलांतिक महासागर में
हिन्दुस्तानी पार्टनर का बाँधा हुआ
बजरंगबली का सिद्ध ताबीज

अब चिन्ता की कोई बात नहीं
वे निश्चिन्त हैं
विश्व-बाज़ार खुला है

[1] समाज विज्ञान विश्वकोश - सं. अभय कुमार दुबे- पृ.सं .1818

आकाश खुला है

आकाश में मँडराते उन्हीं के हैं बमवर्षक
बाज़ार पर टूटती चीज़ों की वर्षा उन्हीं की है "[1]

सोवियत संघ के पतन के बाद अमेरिका का रास्ता निष्कंटक हो गया । अपने वर्चस्व को वैश्विक संदर्भ में बनाये रखने और किसी के भी घर में घुस कर मारने की उनकी क्षमता पर आज कोई सवाल उठा नहीं सकता । रजनी कोठारी कहते हैं – "जब से सोवियत संघ एक सामाजिक राज्य के रूप में ध्वस्त हुआ है , तीसरी दुनिया के कई राष्ट्रों के आत्मगौरव और ताकत का क्षय हुआ है और 'नयी विश्व-व्यवस्था ' बननी शुरू हुई है तब से यह प्रक्रिया बहुत ज्यादा आक्रामक हो गयी है । बाँटो और राज करो के पुराने हथकंडे को नये तरीके से इस्तेमाल किया जा रहा है। सामाजिक और जातीय विविधता की नयी अभिव्यक्तियों और उनमें निहित राजनीतिक-सांस्कृतिक बहुलता का चालाकी के साथ शैतानी लक्षयों के साथ दोहन किया जा रहा है। भूमंडलीय समरूपीकरण की यह मानसिकता चाहती है कि प्राकृतिक और मानवीय विविधता और तरह-तरह की सामुदायिक जीवन-शैलियों के विराट दायरे को एक दैत्याकार और वर्चस्वी संरचना के तहत ले आया जाये ।"[2] विश्व व्यवस्था के नियामक होने के नाते आज अमेरिका चाहता है कि सभी राज्य उनसे प्यार करें पर बदले में अमेरिका से प्यार पाने की जुर्रत को न पाले । विष्णुनागर कहते हैं –

"इसलिए अमेरिका चाहता है कि इस धरती के समस्त जन न केवल उसे प्यार करें बल्कि प्यार करने का एक इकरारनामा भी करें जिसका कि वक़्त-ज़रूरत उनके विरुद्ध इस्तेमाल किया जा सके । वे प्यार करें मगर उससे यह

[1] ज्ञानेन्द्रपति - संशयात्मा -पृ.सं 97
[2] राजनीति की किताब : रजनी कोठारी का कृतित्व – संपादक अभय कुमार दुबे -पृ सं 321

पलटकर न पूछें कि क्या वह भी उन्हें प्यार करता है क्योंकि यह प्यार करने के करारनामे के विरुद्ध है और इसलिए अमेरिका की बेइज़्ज़ती है और अमेरिका
उनसे अपनी तौहीन करवाना कभी बर्दाश्त नहीं कर सकता जो कि उसे प्यार करते हैं क्योंकि यह छूट तो उन्हें भी नहीं दी है जो कि उससे प्यार नहीं करते हैं उससे प्यार न करने की सज़ा है मौत, जो कि संयोग से उसे प्यार करने का पुरस्कार भी है । "[1]

अमेरिका पूरे विश्व का समरूपीकरण इस प्रकार चाहता है कि अमेरिका के वर्चस्व को वैश्विक धरातल पर प्रतिरोध विहीन स्वीकृति मिल जाये । इस के लिए अमेरिका ने बहुत ही सुनियोजित रूप से बाज़ार को व्यवस्थित कर रखा है। अमेरिका की वर्चस्ववादी बाज़ारीकरण की इस प्रवृत्ति की ओर इशारा करते हुए मंगलेश डबराल कहते हैं -

"ज़्यादातर चीज़ें उलट-पुलट हो गयी हैं
इन दिनों दिमाग पर पहले क़ब्ज़ा कर लिया जाता है
ज़मीनों पर क़ब्जा करने के लिए लोग बाद में उतरते हैं
इस तरह नयी ग़ुलामियां शुरू होती हैं
तरह-तरह की सस्ती और महंगी चमकदार रंग-बिरंगी
कई बार वे खाने-पीने की चीज़ों से शुरू हो जाती हैं
और हम सिर्फ एक स्वाद के बारे में बात करते रह जाती हैं
कोई चलते-चलते हाथ में एक आश्वासन थमा जाता है
जिस पर लिखा होता है 'मेड इन अमेरिका' " [1]

[1] विष्णु नागर -चुनी हुई कविताएं- कवि ने कहा - पृ.सं 72-73

लगातार तीसरी दुनिया के मन और मस्तिष्क में डेरा डाल रहे अमेरिका संस्कृति का एकमुश्त ढाँचा तैयार कर रहा है इसी वजह से लगातार हमारी आँखों के सामने घटित हो रहे अपसंस्कृतीकरण को भी हम पहचान नहीं पाते है। संस्कृति के मानक रूप को स्थापित करते हुए अमेरिका बाकी सारे सांस्कृतिक वजूदों को बाज़ार की चमक में धूमिल कर रहा है । इस में सर्वाधिक चीर हरण स्त्री शरीर का हुआ है । बाज़ार के लिए स्त्री शरीर मुनाफे का सबसे किफ़ायती साधन है । प्रभा खेतान कहती हैं–"इस नव-पूंजीवाद ने स्त्री के यौन वस्तुकरण को भी बढ़ावा दिया है, जिससे बाजार में होड़ एवं प्रतियोगिता के साथ पश्चिमी पुरुष के मूल्यों का वर्चस्व बढ़ा है। भारत से संपृक्त पश्चिमी पुरुषों ने भारत को एक 'सेक्सी बाजार ' के रूप में उभरते हुए पाया। ये नये प्रबन्धक, निवेशक हैं, जो अपनी 'मर्दवादी दृष्टि' (शॉवनिसेट एप्रोच) के कारण यह सोचते हैं कि इस अछूते बाजार का शीलहरण कैसे किया जाए ? 'प्ले बॉय' में वर्णन है– खरीदने और बेचने की एक विशालकाय बहुराष्ट्रीय क्रीडा । बाजार का उतार-चढाव, उसका वर्णन, निवेशीकरण के खेल की तुलना कामक्रीड़ा से की जाने लगी है; और कहा जाने लगा है कि यह 'वर्जिन टेरिटोरी' यानी कुंवारी जमीन है, जहाँ पश्चिमी पुरुषों को अपना वर्चस्व एवं अपनी पुरुषवादी पहचान को पुनर्स्थापित करना है।"[2] पूरे विश्व बाज़ार के लिए अमेरिका ने स्त्री शरीर को आज पुरुषों की मर्दानी अदा के आखेट के रूप में स्थापित किया है और आँखों में धूल झोंककर कहता जा रहा है कि वे स्त्री मुक्ति के सबसे भरोसेमंद पैरोकार है। अमेरिकीकरण स्त्री मुक्ति के नाम पर उसका चीर हरण किस प्रकार कर रहा है उसी की ओर इशारा करते हुए रंजना जायसवाल कहती हैं –

---

[1] मंगलेश डबराल - नये युग में शत्रु - पृ.सं.26

[2] प्रभा खेतान - भूमंडलीकरण ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र - पृ सं 25

"चौदहों भुवन नाप लेने को व्याकुल
बुश का उठा हुआ पाँव (दायँ कि बायँ)
जिसकी छाया में
तुम लहलह हो रही हो
क्या जानती हो कि
दरअसल वह
स्त्री– आज़ादी के नाम पर
तुम्हारी जंघाओं के बीच
संस्कृति का 'ट्रेड टावर' खड़ा करने का
खुला अभियान है "[1]

हम लगातार मानक और आधिकारिक बनाये गये सच के बीच रहने के लिए आज अभिशप्त हैं । यह सच एक ऐसा नृशंस समरूपीकरण चाहता है जो बाज़ार के प्रतीक व्यवस्था द्वारा अनुशासित होता है । इस दिक्-भ्रमित समय में कविता ही वह आश्रय स्थली है जहाँ से सच की अर्थ छवियों के वर्चस्ववादी उन्मुखीकरण को पहचाना जा सकता है । साहित्य की वर्चस्व विरोधी इस उन्मुखता को व्यक्त करने केलिए विजय कुमार अपनी पुस्तक 'कविता के पते-ठिकाने' में सूसन सोन्ताग की पंक्तियों को उद्धृत करते हैं – "साहित्य उन अर्थछायाओं, प्रतिकूलताओं और असंगतियों का द्वार है, जहाँ किसी भी सरलीकरण के विरुद्ध आवाज उठती हो । एक लेखक का काम यह है कि वह हमें दिखाये कि इस संसार में आधिकारिक और निरंकुश बना दिये गये सच के विरुद्ध तमाम दावे अभी शेष हैं। "[2] वर्तमान जीवन में अमेरिकीकरण द्वारा स्थापित

[1] रंजना जायसवाल - सिर्फ कागज़ पर नहीं - पृ सं 11-12
[2] सूसन सोन्ताग – उद्धृत - विजय कुनार – कविता के पते-ठिकाने - पृ.सं 167

मानक सच की पृष्ठभूमि में सक्रिय नृशंसता को समझना समकालीन जीवन के स्थल-काल को पहचानने केलिए अनिवार्य है ।

4.2.4 बाज़ार और पर्यावरण

प्रकृति मानवीय रागात्मक संबन्धों का आधार तत्व है । प्रकृति की विस्मयकारी शक्ति से मनुष्य का लगातार संवाद उसकी सौंदर्य चेतना का मूल उत्स रहा है । इसी कारण ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मनुष्य के रागात्मक संबन्धों के विस्तार को प्रकृति के कण-कण से जोडकर व्याख्यायित किया था। 'कविता क्या है' निबन्ध में वे कहते हैं -"जिन रूपों और व्यापारों से मनुष्य आदिम युगों से ही परिचित है, जिन रूपों और व्यापारों को सामने पाकर वह नर जीवन के आरंभ से ही लुब्ध और क्षुब्ध होता आ रहा है. उनका हमारे भावों के साथ मूल या सीधा सम्बन्ध है।"[1] पर आधुनिकता के साथ मानवीय रागात्मक संबन्ध नये सिरे से परिभाषित होना शुरु हुआ। तकनीकी क्रान्ति ने मनुष्य को प्रकृतिक संपदा का स्वामित्व सौंप दिया और तब से प्रकृति का निर्बाध दोहन भी शुरू हुआ । ज्ञानोदय के बाद रूपायित तार्किक प्रणाली ने शेष प्रकृति के साथ मानवीय रागात्मक सम्बन्ध को बर्बरता के रूप में व्याख्यायित किया और प्रकृति के निर्बाध शोषण को विकास के लक्षण के रूप में तरजीह दी ।

आधुनिकता से उत्तर आधुनिकता तक आते-आते विज्ञान ने प्राकृतिक संपदा के शोषण के नये-नये तकनीक इजाद किया । मुक्त बाज़ार ने प्राकृतिक संपदा के शोषण के लिए राष्ट्र राज्य के पाबन्दियों से छुटकारा पाने का वैश्विक प्रबन्धन को अंजाम दिया । मुक्त बाज़ार एक विनाशकारी प्रणाली है, खासकर तीसरी दुनिया के देशों के लिए । दुनिया को वणिक कार्य केलिए खोलदेना, वह भी पूर्ण आज़ादी के साथ याने बिना कोई रोकटोक के, यह मानवता के विनाश का दरवाज़ा है । वहाँ मुनाफे से बढ़कर कोई

[1] रामचन्द्र शुक्ल – चिन्तामणी - पृ सं -82

मूल्य नहीं है। इस शोषण का सबसे विनाशकारी प्रभाव प्रकृति पर ही पड़ा है, नतीजतन आज पूरे विश्व का वातावरण विनाश के कगार पर खड़ा है। वर्तमान समय के इस अंधाधुंध प्राकृतिक शोषण को रेखांकित करते हुए प्रभाकर क्षोत्रिय कहते हैं – "जंगलों को मुण्डित कौन कर रहा है ? पशु-पक्षियों को आहार बनाकर उनकी तमाम प्रजातियों को धरती से मिटा देने के लिए कौन पगला उठा है ? नदियों में रसायन , मलबा और गंदगी कौन उँड़ेल रहा है ? कूड़ा-करकट से पृथ्वी को पाट देने के बाद उसे अंतरीक्ष में किसने उछाला है ? ओजोन के धरा-कवच को कौन क्षीण कर रहा है ? वसंत को कांक्रीट के जंगल से कौन धक्के मार रहा है ? - जाहिर है कि वह जो अपने को संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानता है, और जिसे निसर्ग ने शब्द, स्पर्श, रस, रूप, और गंध की ढ़ेर सारी निर्मल सौगातें दी थी –सब कुछ दूषित कर दिया है उसने । वैज्ञानिक और औद्योगिक प्रगति पर बहुत नाज़ है उसे, और होना भी चाहिए, परन्तु इस शती के प्रारंभ से ही बच्चे-बच्चे को रटा दिया गया है कि विज्ञान ने प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली है । मानो प्रकृति विज्ञान की शत्रु हो । इस मूर्खता पूर्ण और खतरनाक विचार ने प्रकृति की उपेक्षा की, उसे अपने अधीन समझा, जिसका एक प्रतीक घर में बंधक बनाए जाने वाले बोंसाई वृक्ष हैं । नतीजे में मनुष्य प्रकृति के वास्तविक अवदान से धीरे-धीरे वंचित होता चला गया । उसने न केवल प्रकृति की निर्मलता, संतुलन और उत्सव छीन लिए बल्कि उन्हें अपने जीवन से भी खारिज कर तमाम तरह की कृत्रिमताओं से अपने को पाट लिया।"[1] मुक्त बाज़ार की मादकता में डूबे मनुष्य प्रकृति से पृथक हो गए हैं उन्हें समकालीन कविता जड़ों की ओर वापस लाकर पाटने की उम्मीद रखती है । इसी कारण समकालीन कविता में प्रकृति प्राकृतिक सुषमा के वर्णन लेकर नहीं , वजूद की गहरी संसक्ति लेकर सामने आती है । बाज़ारू संस्कृति के स्मृति हीन समय में प्रकृति के नाना रूप रंग स्मृतिबोध के गहरे

[1] प्रभाकर क्षोत्रीय - सौदर्य का तात्पर्य – पृ सं 16

संवेदनात्मक क्षणों को लेकर समकालीन कविता में उभरता है । निर्मला पुतुल कहती हैं –

"थोड़ा-सा वक्त चुराकर बतियाया है कभी
कभी शिकायत न करनेवाली
गुमसुम बूढ़ी पृथ्वी से उसका दुख ?

अगर नहीं , तो क्षमा करना !
मुझे तुम्हारे आदमी होने पर सन्देह है !! " [1]

बाज़ार के शोर-गुल में लगातार अपने वजूद से कटे जा रहे हम महसूस नहीं कर पा रहे हैं कि हमारा क्या कुछ कट गये हैं। 'संथाल परगना' कविता में निर्मला पुतुल अपने वजूद से कटे जाकर विस्थापित होने की त्रासद स्थिति को गहरी संवेदनात्मक धरातल पर उभारती हैं–

"सन्थाल परगना
अब नहीं रह गया सन्थाल परगना
बहुत कम बचे रह गये हैं
अपनी भाषा और वेशभूषा में यहाँ के लोग

बाज़ार की तरफ़ भागते
सब कुछ गड्डमड्ड हो गया है इन दिनों यहाँ
उखड़ गये है बड़े-बड़े पुराने पेड़
और कांक्रीट के पसरते जंगल में
खो गयी है इसकी पहचान " [1]

[1] निर्मला पुतुल - नगाडे की तरह बजते है शब्द – पृ.सं. 31-32

जिस बिशनोई आदिवासी परगना ने सैकडों जानें कुरबान करके पेड़ों को बचाया था जो बाद में चलके चिपको आन्दोलन की मुलभूत प्रेरणा स्रोत बनी थी उन्हीं के वंशज आज आँखों के सामने कट रहे बड़े-बड़े पेडों-जंगलों को निसंग भाव से देख रहें हैं।

बाज़ार आज हमें अपने वजूदों से बेहद करीने से बेदख़ल करता जा रहा है । मात्र उपभोक्ता बना दिये हम महसूस नहीं कर पा रहें है कि हम क्या कुछ खरीद रहे हैं । शुद्ध पेय जल जो कि प्रकृति के अनमोल वरदानों में से एक था पहले बहुत आसानी से उपलब्ध होता था । धीरे-धीरे वह बिकाऊ होता गया । पानी के बिकाऊ होने की स्थिति के बारे में हमारे दादा-नानी ने कभी सपने में भी नहीं सोचे होंगे । पर आज सबसे अधिक बिकने वाली चीज़ों में शामिल है पानी । नब्बे के शुरुआती दौर में ही पानी की बिकाऊ होने की स्थिति एकान्त श्रीवास्तव के दिल में कचोट बन कर उभरी थी । वे कहते हैं –

"दिल्ली के एक चौराहे पर
मैं उसे देखकर डर गया
कि जो आकाश से बरसता है बेमोल
जो नदियों में बहता है खुले आम
तो अब यह पानी भी बिकाऊ हो गया बाज़ार में "[2]

मात्र पानी ही नहीं पूरी नदी आज बिकाऊ हो गयी है । 'पेरियार का पानी' कविता में ए अरविंदाक्षन जी इसी की ओर इशारा करते हैं । पेरियार नदी दक्षिण केरल के सांस्कृतिक विरासत की प्रवाहमान धारा है । जिससे लिपट कर अतीत से वर्तमान तक

[1] निर्मला पुतुल – नगाडे की तरह बजते है शब्द - पृ.सं 26
[2] एकान्त श्रीवास्तव - बीज से फूल तक - पृ.सं. 44

की स्मृतियों की अनवरत धारा प्रवहामान रही है उसी के पानी बिकाऊ होने की खबर कवि के दिल को दहला देती है –

"कल की ख़बर एकदम अजीब
पेरियार का पानी बिक रहा है ।
पेरियार हमें सहेजकर बहती है
पेरियार हमारे लिए नदी नहीं
मेरा हृदय काँप उठता है
माँ का पानी भी बिका जा सकता है ? "[1]

पानी तो दूर अब प्राण वायु भी बिकाऊ बन गयी है । यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है । पहले पहल पानी के बिकाऊ होने पर भी हमें आश्चर्य हुआ था पर वह बहुत जल्द ही सामान्य-सी बात हो गयी । आज शुद्ध प्राण वायू की बोतलें आमज़ोन पर उपलब्ध होना शुरू हो गयी हैं । कल या परसों वह दूकानों के शीशों में चमकती दिख जायेगी ।

पूरे विश्व के इतिहास में मानव का आविर्भाव अन्य जीव-जन्तुओं की अपेक्षा बहुत छोटी समय सीमा को घेरता है । फ़िर भी इस छोटी समय सीमा के भीतर मनुष्य ने बहुत सारे प्राकृतिक संपदाओं को विनाश के कगार पर पहुँचा दिया है । मनुष्य ने अपनी स्वार्थ सिद्धि केलिए प्रकृति का निर्बाध और निर्द्वन्द्व शोषण ज़ारी रखा जिस के फ़लस्वरूप पूरी पृथ्वी आज प्राकृतिक क्षोभ का कहर झेल रही है । अपनी कविता 'झारखण्ड के पहाडों का अरण्यरोदन' में कवि ज्ञानेद्रपति मैग्मा के प्रतीक द्वारा पृथ्वी की सहनशीलता की इसी सीमा की ओर इशारा करते हैं –

"एक नया दिन
कि पुराना दिन

[1] ए. अरविन्दाक्षन – आसपास - पृ.सं. 23

है इन प्राचीन पहाडों के सामने
तेज हवाओं में जिनकी ठोस काया में भीतर ही भीतर
अभी भी बज उठता है मैग्मा- धरती का वह मूल द्रव-जलतरंग-सा
जिनकी आग्नेय चट्टानें
धरती की प्राचीनतम रचनाएँ हैं "[1]

सत्तर करोड वर्ष पुराने इन पहाडों का हाड़ आज गिद्ध रूपी लालची मनुष्य का भोजन मात्र रह गया है । पर मनुष्य यह भूल गया है कि इन पाहाडों के मूल में मैग्मा है जो सृष्टि के साथ संहार की भी क्षमता रखती है । कवि यहीं कहना चाहते हैं कि समय रहते मानव सचेत नहीं होंगे तो आगे सचेत होने के लिए मानव शेष नहीं बचेंगे ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि भविष्य वर्तमान से कहीं अधिक सुख सुविधापूर्ण और संसाधनों से भरे-पूरे होने की महत्वाकांक्षा पर आधारित समकालीन अर्थ व्यवस्था दरअसल एक धोखा है । इसे एक कपोल कल्पना कहना अत्युक्ति नहीं होगी । पूरे देश की आर्थिक व्यवस्था को तहस-नहस कर आर्थिक मंदी लाने में एक छोटी सी प्राकृतिक दुर्घटना ही काफी है। समकालीन कविता आज हमारी अर्थ व्यवस्था के इसी पोल को खोलकर दिखा रही है । वह हमें लगातार आगाह कर रही है कि समय रहते हमें सचेत होना है। नहीं तो मानवता का अंत उतना दूर नहीं होगा जितना हम सोच रहे हैं।

4.3 समकालीन कविता में बदलते सांस्कृतिक संदर्भ

संस्कृति एक जटिल शब्द है । उसकी कोई एकमुश्त व्याख्या कतई संभव नहीं होगी। इसी कारण रेमण्ड विलियम्स संस्कृति को अंग्रेज़ी भाषा के दो या तीन सर्वाधिक

[1] ज्ञानेन्द्रपति - संशयात्मा – पृ.सं. 23

संकीर्ण शब्दों में एक गिनते हैं।[1] उनके अनुसार संस्कृति की परिघटना को तीन तरह से व्याख्यायित किया जा सकता है। -प्रथमतः संस्कृति का मतलब है बौद्धिक, आध्यात्मिक और सौंदर्य शास्त्रीय विकास की सर्वमान्य प्रणालीयों से । दूसरा मतलब है विशेष प्रकार की जीवन शैलीयों से । तीसरा और अंतिम व्याख्या का संबन्ध है बौद्धिक और कलात्मक प्रक्रिया से जो विशेष रूप से बिम्ब-विधानात्मक प्रणाली से जुडे होते हैं।[2] उत्तर संरचनावादी आलोचक संस्कृति की इस तीसरी व्याख्या को यानी बिम्ब-विधानात्मक प्रणाली को बहुत महत्व पूर्ण मानते हैं । उनके अनुसार मानवीय क्रिया-कलाप प्रमुख रूप से सिग्निफाइग्ङ प्राक्टीस (signifying practice) अर्थात संकेतक (signifier) और संकेतित(signified) द्वारा संपन्न होता है । नगेन्द्र द्वारा संपादित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में कहा गया है – "उत्तर संरचनावादियों की मुख्य समस्या संकेतक और उसके अर्थ की द्वन्द्व की है । इस द्वन्द्व में संकेतक या पाठ उसके अर्थ की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है । संकेतक और उसके अर्थ के बीच व्याघात उत्पन्न करने वाली अनेक चीज़ें हैं , साथ ही शक्ति का खेल भी है जो उपलब्ध ज्ञान असिद्ध कर देता है । "[3] प्रसिद्ध समाजशास्त्री सतीश देश पाण्डे संस्कृति के इस बिम्बविधानात्मक प्रणाली को महत्व पूर्ण रेखांकित करते हुए कहते हैं - "Human action and communication are based on a shared set of 'background understandings' which are never , and can never be fully spelt out . We interact by exchanging symbols that convey much more than their literal meaning; human communication is inevitably 'indexical' in that it necessarily depends on what remains unsaid, just like a pointing finger (the index finger as it is called)

---

[1] STOREY JOHN - CULTURAL THEORY AND POPULAR CULTURE AN INTRODUCTION – Pag 1
[2] STOREY JOHN - CULTURAL THEORY AND POPULAR CULTURE AN INTRODUCTION – Pag 1 -2
[3] संपादक - डॉ नगेन्द्र और डॉ हरदयाल - हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ.सं 425

always refers to something beyond itself."[1] अर्थात मनुष्य का क्रिया-कलाप और संचार प्रणाली विशेष रूप से पृष्ठभूमिगत सांझी समझ पर आधारित होती है जो पूर्ण रूप से व्याख्यायित कभी नहीं हो सकती । हम एक दूसरे से बातचीत करते हुए प्रतीकों का आदान प्रदान करते हैं जो उसके शाब्दिक अर्थ से बहुत आगे जाते हैं । इस प्रकार मानव-मानव के बीच का संचार अनिवार्य रूप से एक निर्देशक प्रकार्य बन जाता है। यानि वह कहे पर नहीं अन कहे पर बहुत कुछ आधारित होता है जैसे तर्जनी (जो तर्जीह देने के कारण तर्जनी कही जाती है) अपने आगे के मतलब की ओर इशारा करता है । इस प्रकार संस्कृति की बिंबविधानात्मक प्रणाली संस्कृति की व्याख्या में बहुत महत्वपूर्ण हो जाती है। संस्कृति की इसी बिंबविधानात्मक प्रणाली की ओर इशारा करते हुए लीलाधर जगूडी 'प्रतीति की कोई सीमा नहीं 'कविता में कहते हैं- "यह कुछ का कुछ लगना ही प्रतीतत होना है / कोई भी न बहुत मूर्ख होता है न बहुत बुद्धिमान-बस प्रतीत होता है / जबकि कोई भी कम मूर्ख बुद्धिमान प्रतीत होता है / और कोई भी कम बुद्धिमान मूर्ख प्रतीत हो सकता है / यह खेल तभी तक रोचक है तब तक जिज्ञासा बनी रहे / और प्रतीत करने की कल्पना शक्ति भी अनुभव का हिस्सा बनती चले / तो युगधर्म की दृष्टि से / कितना आकस्मिक और मूर्खताजन्य मगर बौद्धिक संयोग प्रतीत होता है / कि कल्पना और शक्ति में द्वन्द्व भी है और समास भी / जो कि व्याकरण के एक पत्थर से साहित्य के दो शिकार / जैसा प्रतीत होता है"[2] संस्कृति की यह बिम्बविधानात्मक प्रणाली संस्कृति की कृत्रिम निर्मिति की संभावनाओं की ओर भी इशारा करती है । संकेत अर्थ के बीच व्याघात उत्पन्न करने वाली चीज़ों तथा वर्चस्व प्रणालियों को व्यावहारिक बुद्धि यानि कॉमन सेन्स द्वारा उतनी जल्दी पहचानी नहीं जा सकती । इसी कारण संस्कृति का समकालीन संदर्भ दिनोंदिन जटिल

[1] DESHPANDE SATISH - CONTEMPORARY INDIA - Pag 3

[2] लीलीधर जगूडी - खबर का मुँह विज्ञापन से ढका है – पृ.सं 9

होता जा रहा है । संस्कृति के सहज स्वरूप को उद्घाटित करते हुए शंभुनाथ कहते हैं - "यह संस्कृति है, जो मनुष्य को दूसरे प्राणियों से अलग करती है, दूसरी जातियों से अलग पहचान देती है और दुःसमय में आज़ादी की सच्ची प्रेरणा बनती है । कुछ मामलों में दुनिया के सभी मनुष्यों से समान पहचान रखते हुए भी ,हर समाज की अपनी स्वतंत्र आकांक्षाओं और ज़रूरतों के अनुरूप विकसित अपनी विशिष्ट संस्कृति होती है । वह स्थिर और शाश्वत चीज़ नहीं है, लेकिन सूचना के आकाश मार्ग से भी नहीं उतरती । वह ठोस समाज से पैदा होती है । वह निरी बाजार की वस्तु नहीं , मूलतः मनुष्य की सृजनात्मक , आलोचनात्मक और आध्यात्मिक क्षमता की उपज है "[1] सूचना के आकाश मार्ग से जो कृत्रिम सांस्कृतिक बिम्बविधान निर्मित होकर उतर रही है उसे पहचानना बेहद ज़रूरी है । समकालीन हिन्दी कविता दिनोंदिन जटिल हो रहे इसी सांस्कृतिक संदर्भ को उसकी पूरी जटिलताओं साथ उद्घाटित कर रही है ।

4.3.1 समकालीन कविता में सांस्कृतिक संकट

समकालीन समय में सांस्कृतिक संकट बहुआयामी है । बद्री नारायण अपनी 'प्रतिरोध की संस्कृति' पुस्तक में समकालीन सांस्कृतिक संकटों के मूल कारण के रूप में हमारे बौद्धिक चिन्तन प्रणाली को गिनते हैं । जहाँ एक देश की पूरी बौद्धिक चिन्तन प्रणाली ही अपने स्वत्व को स्थापित करने में नाकामियाब हो जाती है वहाँ सांस्कृतिक संबन्धों की जड विहीनता उत्तरोत्तर बढती जाती है। बद्री नारायण कहते हैं - "समकालीन चिन्ताधारा जिस बौद्धिकी की उपज है, उस बौद्धिकी की जड़ उन्नीसवीं शती में है । यह सत्य समाज वैज्ञानिकों द्वारा खोजा जा चुका है कि औपनिवेशिक काल में ब्रिटेन और भारत के बीच जो अधीनस्थता का संबन्ध बना और 1947 ई. तक चलता रहा उसने न केवल आर्थिक और सामाजिक विकास को विकृत किया, बल्कि एक

[1] शंभुनाथ - संस्कृति की उत्तरकथा - पृ.सं. 174

प्रकार की बौद्धिक गुलामी को भी पैदा किया, जिसने लोगों के भौतिक और नैतिक रचनात्मकता के लिए हानिकारक परिणामों को जन्म दिया"[1] पाश्चात्य बौद्धिक चिन्तन प्रणाली सभ्यता और संस्कृति के बीच कुछ खास अंतर नहीं पैदा करती है । इसी कारण अंग्रेज़ी में संस्कृति और सभ्यता शब्द को परस्पर परिवर्तनीय (Interchangeable) रूप में इस्तेमाल किये जाते हैं। उसी के चलते हमें भी आज जनप्रिय संस्कृति को संस्कृति कहना पड रहे हैं। भारतीय चिन्तन प्रणाली ने हमेशा से ही संस्कृति को मानवीय संबन्धों के संघीय ढांचे के तहत व्याख्यायित किया है। और भौतिक विकास प्रणाली को सभ्यता के रूप में परिभाषित करते हुए उसे संस्कृति से व्यतिरिक्त माना है । सभ्यता और संस्कृति के बीच के इस अर्थान्तर को रेखांकित करते हुए भगवत रावत कहते हैं –

"सभ्य आदमी समूह में मिलकर नहीं गाते
समूह में मिलकर नहीं नाचते
समूह में मिलकर समय नहीं गँवाते
सभ्य आदमी अकेले रहना पसंद करते हैं
सभ्य आदमी समूहों में नहीं पाये जाते
पिछडे हुए लोग समूह में मिलकर गाते हैं
समूह में मिलकर नाचते हैं
समूह में मिलकर समय बिताते हैं
पिछडे हुए लोग समूहों में पाये जाते हैं
X X X X X X X X X
पिछडे हुए लोग पुश्त-पुश्त
संस्कृति के वृक्षों की रखवाली करते हैं
सभ्य लोग संस्कृति के पके फल खाते हैं "[2]

[1] बद्रिनारायण - प्रतिरोध की संस्कृति - पृ.सं. 13
[2] भगवत गावत - सच पूछों तो - पृ.सं .23

भारत में सभ्य लोगों के लिए सांस्कृतिक वजूद आज भी पिछडेपन का एहसास से भरा है । अपनी जडों से कटे हुए कृत्रिम सांस्कृतिक स्वरूप को वे अपना सांस्कृतिक स्वत्व समझ रहे हैं । संस्कृति के इस उत्तर संदर्भ को शंभुनाथ झुण्ड संस्कृति कहते हैं । उनके अनुसार "हम 'मास कल्चर' को समूह या झुंड संस्कृति कहेंगे, जन संस्कृति नहीं । समूह संस्कृति एक व्यावसायिक और संकीर्ण संस्कृति है, उसे कभी भी जन संस्कृति या जनता की राष्ट्रीय संस्कृति नहीं कहा जा सकता। यह धारणा ही गलत है कि झुंड संस्कृति कभी भी किसी जन-समूह की अपनी संस्कृति है और जनता के हित से उसका कोई संबन्ध है। दरअसल झुंड संस्कृति संस्कृतिहीनता की संस्कृति है । वह व्यावसायिक-राजनैतिक हित में बनाई गई एक कृत्रिम सार्वभौमतावादी संस्कृति है।"[1] इसी तान में भगवत रावत कहते हैं कि " पिछडे हुए लोग सभ्य आदमियों के लिए विज्ञापन होते हैं।"[2] अपने वजूद को सभ्य समाज आज क्रय क्षमता के आधार पर महसूस कर रहे हैं। दरअसल यह उत्तर सांस्कृतिक संदर्भ हर चीज़ को पण्य में बदल देता है । सांस्कृतिक धरोहर की हर चीज़ आज बाज़ार में पूरे तडक-बडक के साथ स्वयं बेचे जाने के लिए तैयार खडी हैं ।

सांस्कृतिक संदर्भ की लगातार संकीर्ण होती इसी स्थिति को अभिव्यक्त करते हुए ज्ञानेन्द्रपति कुकुरमुत्ता और मशरूम के उदाहरण को सामने रखते हैं । कुकुरमुत्ता तो खेत-खलिहानों में सहज ही उपलब्द हुआ करता था। निराला ने जिसे मौलिक कहकर गुलाब को केपीटलिस्ट कहा था उस कुकुरमुत्ते का पूरा सामाजिक संदर्भ आज बदल गया है । अपनी सारी जनपक्षधरता को त्यागकर आज वह स्वयं बुर्जुआ बन गया है।

[1] शम्भुनाथ - संस्कृति की उत्तर कथा – पृ.सं 177
[2] भगवत गावत - सच पूछों तो - पृ.सं .23

"यह नहीं वह मुँहफट महामना
यह तो इतराता आज गुलाब का गोतिया बना
कुकुरमुत्ता नहीं, मशरूम
सबाल्टर्न नहीं ,अल्ट्रामाडर्न
पंचतारा होटलों का डिश
प्लाइंग किस
वायुयानों में भर विदेशगामी
अभिमानी
वर्गारोही स्वर्गारोही
आधुनिक नवाबों का लाडला"[1]

सांस्कृतिक संकट के इस विकराल माहौल ने मूल्य को वाल्यु में तबदील कर दिया है। सेवा का मतलब आज भुगतान के उपरान्त मिलनेवाली सेवा यानी पेइड सर्वीस हो गया है। इन विकट परिस्थितियों के चलते समकालीन कविता का दायित्व पूर्ववर्ती किसी भी युग से पेचीदा हो गया है। विजय कुमार पूछते हैं- "समकालीन कविता की सार्थकता का प्रश्न हमारे आज के मौजूदा परिवेश और उससे रचनाकार के संबन्धों को पुनः परिभाषित करने में निहित है। एक भयावह विषमताग्रस्त समाज में जहाँ नैतिक मूल्यों का ह्रास बहुत तेजी से हो रहा है, जहाँ मनुष्य के शोषण और उत्पीड़न की बहुत विकल कर देने वाली सच्चाइयाँ सामने है, जहाँ वर्गों के बीच की सामाजिक आर्थिक खाई को ढकने के लिए भोगवाद, जातिवाद और सांप्रदायिकता को लगातार बढ़ावा दिया जा रहा है, समाज की प्रगतिशील शक्तियों का नेतृत्व करने वाले मध्यवर्ग और समाज के उत्पीडित वर्ग के बीच लगातार फासला बढ़ाया जा रहा हो–

[1] ज्ञानेन्द्रपति संशयात्मा - पृ.सं. 60

कविता की सार्थकता के प्रश्न आप कहाँ से, किस कोण से उठायेंगे ?"[1] समकालीन कविता इन जटिल परिस्थितियों का कोई तयशुदा समाधान पेश नहीं करती। वह लगातार उलझ रहे सामाजिक संदर्भों में से कुछ ऐसी मोहलतों को चुनती हैं जो मानवीयता से बेदखल हो रहे समाज को कुछ पल ठहरकर अपनी मानवीयता के बारे में सोचने केलिए बाद्य कराती है । संजय कुन्दन कहते हैं–

"एक आदमी हर रात यह सोचता था
कि कल वह आँखें खोलेगा भविष्य में
पर हर सुबह उपने को वर्तमान में ही पाकर
खीजता था
फिर सुबकने लगता अतीत के कन्धों पर सिर रख कर "[2]

समकालीन कविता समय के इसी यथार्थ को ही उजागर कर रही है । आज समाज लक्ष्य हीन होकर भागे जा रहा है । बाज़ारू संस्कृति लगातार व्यक्ति को हौसला दे रही है कि कल का दिन उस के लिए अच्छा होगा । पर बेहत्तर कल कभी अभाव ग्रस्तों के लिए संदर्भ बिन्दु नहीं बन पाता ।

इक्कीस्वी सदी में गहराती जाती सांस्कृतिक संकट की भयावहता के बीज रचनाशीलता के अर्थ संदर्भ को लक्ष्य करते हुए विजय कुमार पूछते हैं - "21वीं सदी की कला में रचनाशीलता का कोई भी विमर्श क्या धरती पर लाखों–करोडों की परम्परागत आजीविकाओं के उन्मूलन, मनुष्यों के विस्थापन, भूमि, वन, चरागाहों, जल संसाधनों के विनाश, प्रकृति और पर्यावरण के हालत, सामाजिक अन्याय के दैनन्दिन अनुभव, विकास तरक्की के नाम पर अधिग्रहण, अधियाचना, विस्थापन की राजनीति,

[1] विजय कुमार - कविता की संगत -पृ.सं .15
[2] संजय कुन्दन - चुप्पि का शोर - पृ.सं .18

विशेषज्ञों और मीडिया की व्यूह रचनाओं, संगठित अपराध और साधारण आदमी के भीतर की असुरक्षा, बेगानेपन, बदहवासी, आरोपित सुख, सनसनी और एक मस्त समय के भीतर विस्मृति के मंजर से अलग-थगल होगा ?"[1] समकालीन कविता आज इन्हीं उलझनों के बीच से मानवीयता की ऊष्मा संजोने की जद्दोजहद कर रही है । जहाँ लगातार अमानवीय होती जाती नागरिक संस्कृति का वर्चस्व अपना हाशिया रचकर मीडिया की पूरी प्रतीक व्यवस्थाओं के ज़रिए अपनी करनी को पॉलिश करके दिखा रही है, वहाँ समकालीन कवि पूरी प्रतीक व्यवस्थाओं से छनकर आ रही अमानवीयता के यथार्थ को पर्दाफार्श करने का उद्यम करते रहते हैं । नागरिक संस्कृति की दाग बनते जा रहे बस्ती (Slum) जीवन के यथार्थ को बद्री नारायण अपनी 'सुभाषनगर' कविता में यों अभिव्यक्त करते हैं -

"जैसे जैसे बढेगा शहर
वैसे वैसे बढेगा सुभाषनगर
वे शहर की अभिजात्यता के खिलाफ
उसकी ज़रूरत बन बढ़ेंगे
वे रहेंगे इस शहर के नागरिक समाज के
भीतर अपराधबोध बनकर
वे भारतीय आज़ादी की साठ साल की आलोचना बन बढ़ेंगे
वे उभरेंगे शालीन चेहरों की शालीनता के खिलाफ उस पर गुम्मड़ बन कर
लोकतंत्र के चेहरे पर दाग बनकर रहेंगे । "[2]

[1] विजय कुमार - कविता के पते-ठिकाने - पृ.सं 15
[2] बद्रीनारायण - खुदाई में हिंसा - पृ.सं 26

लगातार अमानवीय होती जा रही सांस्कृतिक जटिलताओं के बीच से अभाव ग्रस्त और हाशियेकृतों के पक्षधर होकर आज कुछ महान कार्य कर गुज़रने की आकांक्षा समकालीन कविता की नहीं है। समकालीन कविता का तेवर आज वार ऑफ पोजिशन (War Of Position) का है । अन्तोनियो ग्राम्शी ने सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग किया था । उनके अनुसार वर्चस्ववादी शक्ति लगातार प्रतीक एवं बिम्ब विधान द्वारा अपनी सत्ता को बनाये रखने के क्रम में हाशिये पर जुल्म करते रहेंगे ।[1] उसका प्रतिरोध कोई एकयामी नहीं होना चाहिए । लगातार सहज बुद्धि को चकरा देने वाले प्रतीक एवं बिम्ब व्यवस्थाओं का प्रतिरोध सतत चलने वली प्रक्रिया है। समकालीन कविता अपनी क्षमताभर कृत्रिम सांस्कृतिक संदर्भों की अमानवीयता का प्रतिरोध कर रही है। बद्री नारायण चूहे का प्रतीक द्वारा समकालीन कविता की इसी प्रतिरोध की प्रणाली की ओर इशारा करते हैं। कवि के अनुसार चूहा हर कहीं से अपनी छोटी-छोटी प्रतिरोध की कहानियाँ इकट्ठा कर रहा है । -बडे-बडे अभियानों के विरुद्ध जतन से किये प्रतिरोध की कहानियाँ ही चूहे की धरोहर है । कवि कहते हैं –

"हे पाठक लोगों ! एक दिन आई तेज़ आँधी
और उड गई उसकी झोंपडी की टाटी
झोंपडी की टाटी के टूटते ही हे पाठक लोगों !
उडकर उधिया गई उसकी सारी कहानियाँ
उन्हीं कुछ कहानियों में से ही हे पाठक लोग !
कुछ उडकर मेरे तक आ गई
जिन्हें मैं गा रहा हूँ
बिन राग , बिन लय, बिना बलाघात के
आपको सुना रहा हूँ "[2]

---

[1] Deshpande Satish - Contemporary India - Pag. 4

[2] बद्रीनारायण - खुदाई में हिंसा - पृ.सं 29

समकालीन कविता आज छोटी ही सही प्रतिरोध को सतत दर्ज करती जा रही है । बहु आयामी संस्कृतिक संकट के समय में समकालीन कविता अपनी छोटी ही सही प्रतिरोध की जीवट को धुंधला नहीं होने देती । वंदना मिश्र के शब्दों में–"ये शब्द मेरे नहीं, वे शताब्दियों से चले आ रहे मानवीय संघर्ष को अपना दाय मानती हैं और इस प्रकार कविता के समष्टिगत स्वभाव की पुनःप्रतिष्ठा करती हैं। ये कवितायें अपनी 'साधारणता' के ताने–बाने में, सच पूछों तो असाधारण है"[1] साधारणता की यह असाधारणता ही सांस्कृतिक संकट के प्रायोजित समय में समकालीन कविता को प्रासंगिक बनाती है ।

4.3.2 आभासी यथार्थ और समकालीन कविता

आभासी यथार्थ अंग्रेज़ी के वर्चुअल रियालिटि का समानार्थी शब्द है। आभासी यथार्थ को प्रायः एक अवधारणा के रूप में विश्लेषित किया जाता है, पर वास्तव में आभासी यथार्थ एक तकनीक है। मात्र एक तकनीक होते हुए भी आभासी यथार्थ ने हमारे सामाजिक संरचना को इस तरह बदल दिया है कि संरचना और अधिरचना की सारी पुरानी व्याख्यायें आभासी यथार्थ के सामने निरीह प्रतीत होने लगी हैं । इसी के चलते हमने स्वयं आभासी यथार्थ को ही एक अवधारणा के रूप में स्वीकार किया । जगदीश्वर चतुर्वेदी के अनुसार – "वर्चुअल रियालिटी यानी आभासी यथार्थ एक तकनीक है । यह अवधारणा नहीं है । यह एनवारनमेंट है । वातावरण है । साहित्य के लोगों में यह भ्रम है कि यह अवधारणा है उम्र में संचार तकनीकी रूपों में सबसे छोटी है । इसका जन्म 1989 में हुआ था"[2] इस कम समय सीमा के तहत आभासी यथार्थ ने मनुष्य के सोचने समझने और निर्णय लेने की सारी क्षमताओं को अपने हिसाब से पुनर्व्याख्यायित किया । अब यथार्थ वह नहीं रह गया है जो वास्तव में यथार्थ है ।

---

[1] वंदना मिश्र - वे फिर आये है - पृ.सं 11

[2] संपादन - जगदीश्वर चतुर्वेदी , सुधा सिंह - भूमंडलीकरण और ग्लोबल मीडिया – पृ.सं 24

समकालीन हिन्दी कविता बेहद जटिल हो रहे इन्हीं संदर्भों के बीच से हमें अगाह कर रही है कि हम जो कुछ समझ रहे है वह सहज समझ के बदौलत समझ में आयी बातें नहीं है। सुनियोजित योजनाओं के तहत इस समझ को निर्मित किया गया है । पंकज राग व्यंग्य करते हैं । -

"अब विमर्श ही विमर्श है
तकनीकों का वैज्ञानिक विमर्श
ताक़त के नए सिद्धान्त
चकाचौंध कर खींचते हुए नए चुम्बक
रोशन कर के झुलसा देने की कला
हर तरीके के पले पाले कलाकार
बुद्धिजीवियों और तालिमयाफ़्ता नुमांइंदों की बढ़ती कतार
रात को ख़ीचकर निकाला जा रहा समय
दिनों को निचोड़कर बनाई जा रही जगह
जैसे रात के अन्तिम प्रहर में पूरी पार्किंग को चौंधियाती एक नई कार
जैसे भूमंडल में एक नए तारे का आविष्कार ।" [1]

भूमंडल का यह नया तारा पहले अपनी चकाचौंध करने वाली रोशनी से हमें ख़ींचता है फिर मौका पाकर हमें झुलसा देता है। वर्चस्ववाद का सारा स्वरूप आज इस तकनीक की गिरफ़्त में आ गया है । मनुष्य की सहज बुद्धि द्वारा इस आभासी यथार्थ की व्याप्ति का जायज़ा करना आज लगभग असंभव है । जगदीश्वर चतुर्वेदी कहते हैं- "नए –क्षेत्रों में इसका इस्तेमाल बढ़ रहा है । इसमें व्यक्ति और निजता के बारे में, समुदाय, समय, आकार आदि के बारे में हमारी अब तक की समस्त धारणाओं को

[1] पंकज राग - यह भूमंडल की रात है - पृ.सं.10

बदला है। वर्चअल रियालिटी में ऐतिहासिक, पौराणिक या अतिमानवीय चरित्रों का बोलबाला है। इसमें रूपकों का खूब प्रयोग मिलता है इसकी अभिव्यक्ति और सामाजिक महता का दायरा व्यापक है । वर्चुअल रियालिटी का वर्चस्व स्थापित करने पर जोर है । उसके प्रत्येक तकनीकी रूप, ज्ञान, विज्ञान, राजनीति आदि पर अपना वर्चस्व जमाना शुरू कर दिया है।"[1] लगातार व्यापक और पेचीदी होती इन स्थितियों के बीच समकालीन कविता मानवीयता के पक्ष में खडे होकर भरसक अपना प्रतिवर्चस्व ज़ाहिर कर रही है । राजेश जोशी कहते हैं –

"बैठा हूँ तालाब के सूने तटों की उखड़ी हुई सीढ़ियों पर
ज़ोर-आज़माई करके जिन आखाड़ों से लौट चुके हैं पहलवान
उसका घुंदी हुई मिट्टी में लेटा हूँ मैं
तुम्हारे सत्रह इंच के स्क्रीन को डमा देना मुझे आता है

वैसे भी एक कवि तुम्हारे काम का आदमी नहीं
बहुत उठापटक के बाद अगर तुम खोज भी लोगी उसे
तो भी तुम्हारे हाथ कुछ नहीं लगेगा
तुम्हारी दुनिया एक कवि के काम तो आ सकती है
लेकिन एक कवि की दुनिया
तुम्हारी दुनिया में अँट नहीं सकती "[2]

दिनोंदिन जटिल होते आभासी यथार्थ के सामाजिक संदर्भ में डेटा प्रमुख है, उसके आधार पर सब कुछ नियंत्रित होता है । सोशल मीडिया आज हर व्यक्ति के लिए वह छवि प्रदान कर रही है जो दुनिया भर में एक जैसी है । प्रतीकों की इस बृहद

[1] संपादन - जगदीश्वर चतुर्वेदी , सुधा सिंह - भूमंडलीकरण और ग्लोबल मीडिया – पृ.सं 31
[2] राजेश जोशी - ज़िद - पृ.सं 56

प्रणाली ने हमारे बहुत वैयक्तिक लगने वाले स्पेस को इस तरह दबाया है कि पूरी मानवता आज एक ढाँचे में ढली जैसी प्रतीत हो रही हैं। राजेश जोशी कहते हैं –"बिंबों का यह आक्रमण आज के कवि की निजता में दखल दे रहा है और सोचने की स्पेस को सीमित कर रहा है । कविता के लिए यह दिनों दिन जटिल होता समय है । कविता ने बिंबों की जिस भाषा को सदियों से रचा था आज वह संकट में है, क्योंकि बाज़ार और नई प्रौद्योगिकी ने बिंबों की एक प्रतिभाषा तैयार कर ली है । अगर कविता की भाषा इस प्रतिभाषा के निकट जाएगी तो, दोनों एक-दूसरे को नष्ट कर देंगी । कविता जो कि सम्भवतः मनुष्य की सबसे आदिम और सबसे आधुनिक सृजनात्मक गतिविधि है, उसके भविष्य का प्रश्न मनुष्यता के भविष्य से और उसके स्वप्न से भी जुड़ा है।"[1] आभासी यथार्थ मनुष्य को भ्रांति में धकेल देते है, धोखा देते है। जैसे कि महाभारत का 'पानी प्रसंग'। उस दुनिया में सच्चाई और मूल्य नहीं है, भावुकता नहीं है। विज्ञान-प्रौद्योगिकी तथा पूंजी का खेल है। यह मायालोक इन्हीं की सृष्टि है।

4.3.3 विज्ञापन और समकालीन कविता

बाज़ार का सबसे बरोज़ेमन्द औजार है विज्ञापन। बाज़ार केलिए विज्ञापन की अहमियत मछली के लिए जल के समान है । विज्ञापन प्रतीक एवं बिम्ब विधान द्वारा ब्रान्ड को संस्कृति के अनिवार्य घटक के रूप में प्रतिस्थापित करता है । विज्ञापन की इस प्रणाली को रेखांकित करते हुए प्रभा खेतान कहती हैं–"आदमी की जीवन-शैली संस्कृति को प्रभावित करती है । ब्रांड अब जीवन के गहरे अर्थों को संप्रेषित कर रहा है । ब्रांड के प्रचार के लिए सांस्कृतिक घटनाओं को प्रायोजित (स्पांसर) किया जाने लगा था । संस्कृति के परदे पर ब्रांड ने उभरना शुरू किया । यह कहा गया ब्रांड एक विचार है; दृष्टिकोण, मूल्यबोध और अनुभव है । क्या ब्रांड अपने-आप में संस्कृति नहीं

[1] राजेश जोशी - एक कवि की दूसरी नोट बुक: समकालीनता और साहित्य - पृ.सं. 23

है ? इससे अधिक संस्कृति क्या है आप ज़रा समझाइए ? संस्कृति और ब्रांड की भेदक रेखा धीरे-धीरे मिटने लगी । ब्रांड की संस्कृति निर्मित की जाने लगी ।"[1] विज्ञापन हमारे पूरे स्मृति बोध को नये सिरे से रूपायित करता है । मनुष्य के मन पर होने वाले विज्ञापन के असर का सैद्धान्तिक विवेचन हुआ है। इस में सर्वाधिक महत्व पूर्ण सिद्धान्त है प्रैमिंग । प्रैमिंग हमारे मस्तिष्क की स्मरण शक्ति पर आधारित एक प्रकार की ज्ञानात्मक संवेदना है जिसके मुताबिक हम विकल्पों में से चुनाव करते हैं । विकल्पों में से चुनाव करने की दिमाग की इस स्मरण शक्ति पर आधारित प्रणाली को बाहरी उद्दीपन द्वारा वाँछित रूप में अनुकूलित किया जा सकता है । पीट्टर लिन्टलै (Peter Lintelle`) कहते हैं " Mankind consists of individuals in charge of their action and thoughts. They are assumed to have something called the "free will" which separates human from the animal kingdom and turns them into thinking beings responsible for their own behaviour. But everyone has perceived situations where one seems to be controlled by unknown forces. Often it only needs a slight change in a situation and our feelings and reaction change. One of the factors that seem to have its hands in those occurrences is called priming. "[2] अर्थात मनुष्य को अपनी नियति का नियंता कहा जाता है । उसकी स्वायत्त इच्छा (Free Will) उसे अन्य प्राणियों से अलग कराती है । पर हर मनुष्य को इसका अहसास है कि जिस माहौल में वह जी रहा है वह किसी बाहरी शक्ति द्वारा नियंत्रित है । माहौल में किया जाने वाला छोटा सा परिवर्तन मनुष्य की संवेदना और प्रतिक्रिया को प्रभावित करता है । माहौल में परिवर्तन लाने वाले इन कृत्रिम कारकों को प्रैमिंग कहा जाता है । यानी मनुष्य की चुनाव करने की आदत को बखूबी बाहरी उद्दीपनों द्वारा नियंत्रित किया जा

[1] प्रभा खेतान - भूमंडलीकरण ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र - पृ.सं 61

[2] Lintelle` Peter – Sensory Marketing Aspects - Kindle Edition Location 85

सकता है और जिसे मनुष्य अपनी स्वायत्त इच्छा और चुनाव मानता है; वह सुनियोजित रूप से तैयार की गयी प्रणाली के तहत ही अंजाम पाता है ।

प्रैमिंग के चलते लोगों को यह खबर नहीं होती कि उसका चुनाव दरअसल उसका चुनाव नहीं है। बाज़ार पूरे प्रबंन्धन के साथ तैयार किया गया कृत्रिम माहौल है जहाँ मनुष्य की पूरी संवेदनात्मक क्षमताओं को बाज़ार के अनुरूप पूर्वनिर्धारित अंजाम तक सुनियोजित रूप से ले आया जाता है । हमें इसका एहसास होने पर भी कि विज्ञापन कृत्रिम माहौल पर तैयार किया गया है, हमारी स्मरण शक्ति हमें धोखा देती है । विज्ञापन को देखते हुए हमें उसकी कृत्रिमता के बजाय उसमें प्रस्तुत प्रतीक एवं बिंब ज़्यादा लुभावना लगता है । आज चारों तरफ कृत्रिम माहौल द्वारा तैयार किये गये बिंब एवं प्रतीक विधान के बीच हम जी रहे हैं । इसी के चलते हमारी जैविक संवेदनात्मक क्षमताएं लगातार धोखा खाती रहती हैं। विजय कुमार कहते हैं- "कोई भी समाज आधुनिक बनता है तो उसकी एक प्रमुख गतिविधि निरंतर नई-नई छवियों को निर्मित करना और उसका उपभोग करते रहना है। धीरे-धीरे वास्तविकता की ये गढी गई छवियाँ ही वास्तविकता को निर्धारित करने लगती हैं। इन दी हुई छवियों के आधार पर हम वास्तविकता के बारे में अपनी अवधारणाएं बनाते हैं। ये छवियाँ वास्तविकता को लेकर हमारी ज़रूरतों का अनुकूलन और नियंत्रण करती हैं। हर आधुनिक समाज में ये छवियाँ इस संसार के बारे में हमारे प्रत्यक्ष अनुभवों को खारिज करती जाती है "[1] जहाँ पूरी व्यवस्था हमारी संवेदनाओं को धोखा देने के लिए पूरे प्रबन्धन के साथ खडी है वहाँ धोखा न खाने के लिए सतत जाग्रत रहना नितांत ज़रूरी है । भारतीय वैधानिक माप विज्ञान संस्थान (Department of Legal Metrology) का नारा 'जागो ग्राहक जागो' हम से यही कहता है कि सतत जागते रहना नितांन्त ज़रूरी है। मंगलेश डबराल कहते हैं –

[1] उद्धरण - विजय कुमार - जन मीडिया - 2017 - पृ.सं 16

"एक कुशल प्रबंधन के तहत हमारी इमारतें लगातार ऊंची हो रही हैं
उनके अहाते पूरी दुनिया में फैले हुए हैं
हालांकि उनका मुख्य द्वार एक ही है
एक कुशल प्रबंधन के तहत
होटलों दूकानों अस्पतालों में तब्दील हो रहा है संसार
एक-सी ख़ूबी के साथ प्रबंधित किये जा रहे हैं
मल्टिप्लैक्स और मेगामॉल गुआंतनामो और अबु ग्रेब के यातना कक्ष
एक ही सिनर्जी के तहत प्रबंधनीय हो चली है अमीरी और गरीबी
स्वर्गिक सुखों वाली रिहाइशों और उजड़ती हुई बस्तियां " [1]

यह कुशल प्रबन्धन हमारे प्रतिरोध और प्रतिवर्चस्व को लगातार खारिज करते जाते हैं। हत्या, भीषण नरसंहार और सनसनी खेज खबरों के बीच अपने आराम से कोककोला पीने और के एफ़ सी खाने के बारे में हम सोच रहे हैं । मनुष्य से मानवीयता को खारीज करती विज्ञापन की इस प्रायोजित व्यवस्था की ओर इशारा करते हुए लीलाधर मंडलोई कहते हैं –

"पारंपरिक खाद्य वस्तुओं पर मार जमाने की
बाहर के अदृश्य हाथ सक्रिय इतने
कि भर उठे बाज़ार डिब्बा बंद संस्कृति से
जो थोडा खुला छूटा
ले आया असंख्य बीमारियाँ
X X X X X X X X X X X
विश्व बैंक ख़ुश था

[1] मंगलेश डबराल - नये युग में शत्रु - पृ.सं 44

और अंतार्राष्ट्रीय मुद्रा कोष उत्फुल्ल
एक निरीह लोकतंत्र को वे
ख़रीद सकते थे कर्ज से"[1]

लगातार अमानवीय होते महौल में भी विज्ञापन हमें यह प्रतीत कराता है कि दुनिया पिछले युगों से कहीं ज़्यादा भरपूर है। दूसरों के दुख को भूल कर ज़िदगी के अनमोल पलों का लुफ्त उठाकर जश्न मनाना ज़रूरी है। प्रतीक व्यवस्था की इस बृहद चंगुल से बाहर निकलना आसान नहीं है । प्रतीकों के वर्चस्व की सही समझ इस के लिए नितान्त ज़रूरी है। समकालीन कविता को आज यह समझ है और वह लगातार पुक्ता भी होती जा रही है ।

4.3.4 समकालीन कविता में जनप्रिय संस्कृति और लोक संस्कृति

जनप्रिय संस्कृति और लोक संस्कृति में प्रयुक्त 'संस्कृति' शब्द परस्पर भिन्न अर्थ संदर्भ को सूचित कराता है । जनप्रिय संस्कृति अपने आप में कोई संस्कृति है ही नहीं। पोपुलर कल्चर के तर्ज पर उसे हिन्दी में जनप्रिय संस्कृति नाम दिया गया है। जनप्रिय संस्कृति मूलभूत रूप से ही संस्कृति का उल्टा है । इसी कारण शंभुनाथ उसे झुण्ड संस्कृति पुकारते हैं उनके शब्दों में –" किसी भी देश की जनता की संस्कृति उस देश की जनता के आपसी लगाव, सहचारता और विश्वास की मुख्य धुरी है। इसके बिना न मनुष्य-मनुष्य के बीच संबन्ध की कल्पना की जा सकती है, न जीवन के अर्थ और शैली की । संस्कृति इतनी जरूरी है। फिर भी पूरे वातावरण में ऐसे दबाव तेजी से बढ़ रहा है, जो मनुष्य को उसकी संस्कृति से अलग करते हैं। मनुष्य को उसकी संस्कृति से अलग करना वस्तुतः मनुष्य को मनुष्य से अलग करना है। किसी समाज में व्यक्तियों की जो साझा अंतःसंसार है, जो कुछ बहुमूल्य और सुन्दर है, उससे

[1] लीलाधर मंडलोई - मगर एक आवाज़ - पृ.सं. 53-54

उन्हें खींचकर कृत्रिम संस्कृति के एक संकीर्ण उथले संसार में ले जाने की तरह-तरह की कोशिशें हो रही हैं। इन कोशिशों का लक्ष्य जनता की साझा और आत्मनिष्ठ संस्कृति को मिटाकर उस पर एक ऐसी सार्वभौम और भावशून्य यांत्रिक संस्कृति को लादना है, जिनकी अपनी कोई परंपरा, बहुलता और पुनर्रचनात्मकता नहीं है।"[1] कृत्रिम संस्कृति की यह प्रतीक व्यवस्था बहुत जल्दी लोकप्रिय हो जाती है । वह व्यक्ति को स्वतंत्र चेता होने की आभासी यथार्थ मुहय्या कराकर उसे मस्ती और जश्न में मशगुल रखता है। अपनी जडों से कटा हुआ व्यक्ति प्रतिरोध विहीन होकर बाज़ार के इशारों पर नाचना शुरू कर देता है। एडोर्नो का हवाला देकर विजय कुमार कहते हैं "व्यापक समाज में विराट जनसमूहों के मनोजगत का सांस्कृतिक स्तर पर नियन्त्रण किया जा रहा है। एडोर्नो के शब्दों में, यह एक ऐसा युग है जब तमाम तरह की लोकप्रिय सांस्कृतिक गतिविधियाँ पूँजी और शक्ति के केन्द्रों के एकाधिकारवादी वर्चस्व के लिए रास्ता साफ करने में लगी हुई हैं । सारे जनसंचार माध्यम एक ऐसी व्यवस्था को बनाने के काम में लगे हुए है जो हमें सार्वभौमिक लगती हो , जिसका इकहरा अर्थ हो , जो संपूर्ण और खुशहाल प्रतीत होती हे "[2] मस्ती और जश्न के माहौल को बनाये रखकर मीडिया हमें छिछोरी हँसी हँसा रही है । बृहतर यथार्थ से कटकर आज हम लगातार अपनी सुख-सुविधा के खातिर अमानवीय होते जा रहे हैं । भगवत रावत कहते हैं –"इतना शोर गुल, इतनी हाय-तोबा / इतनी भागमभाग, इतनी होडा होडी / इतनी मारकाट, इतनी अफरा-तफरी / इतनी धक्कामुक्की / इतना घमासान / इसके पहले तो कभी हुआ नहीं / इतने हार फूल, इतनी मालाएँ / परदों पर थिरकती इतनी सुरबालाएँ / इतने-इतने संत, इतने उपदेश / इतनी कथा-वार्ताएँ, इतने गौरव गान / इतना गाली-गलौज / इतना धरम-ईमान / इसके पहले तो कभी हुआ नहीं "[3]

---

[1] शंभुनाथ - संस्कृति की उत्तर कथा - पृ सं 178
[2] विजय कुमार - कवित के पते-ठिकाने - पृ.सं 37
[3] भगवत रावत - ऐसी कैसी नींद - पृ.सं .20

जनप्रिय संस्कृति की सबसे बडी विशेषतायें हैं मनोरंजन और तात्कालिक उपभोग । हर चीज़ के मूल्य को तात्कालिक उपयोगिता और मनोरंजन की दृष्टि से निर्धारित किया जा रहा है । इसी कारण जनप्रिय संस्कृति के लिए कविता कोई मायना नहीं रखता, कविता के बजाय जनप्रिय संस्कृति के लिए प्रिय पॉप संगीत ही है। शम्भुनाथ कहते हैं-"आज उपयोगितावाद का मानदंड़ सिकुड़ गया है । लोग पूछते हैं, कविता में क्या रखा है ? उपयोगिता से एक ही अर्थ निकाला जाता है तात्कालिक उपयोगिता । जीवन का संघर्ष इतना बढ़ता जा रहा है और लोगो में इतने निम्न दर्जे की होड़ पैदा कर दी गई है कि उनकी सांस्कृतिक इच्छाशक्ति लगातार कमज़ोर होती जा रही है। उनके सामने जो भी हल्का मनोरंजन परोस दिया जाता है, उसमें वे डूब जाते हैं।"[1] ऐसी स्थिति में कविता का दायित्व बेहद दुष्कर हो जाता है । अयथार्थ के भीहड में से यथार्थ को दिखाने की जद्दोजहद उसे लगातार करनी पडती है । प्रभात त्रिपाठी कहते हैं –

"आखिर किस विचित्र घर को
स्वर्ग बनाने का यह अभियान ?
जबकि समूचा समय लहुलुहान
सारा पथ रक्तरंजित
और अनजान अशोक यह लोक
और बेरोकटोक बेतहाश भागती कार रोक
रोक अपने मन के बेलगाम घोडे को "[2]

समकालीन समय में मन का लगाम टूट गया है। उसे जोडे बिना इसका अन्दाज़ा लगा नहीं सकते कि ज़िन्दगी में मनुष्य होने का अर्थ कितना शेष रह गया है । निरंतर अपने

[1] शम्भुनाथ - संस्कृति की उत्तरकथा - पृ.सं .77
[2] प्रभात त्रिपाठी - वागर्थ जून 2016 - पृ.सं. 54

स्मृतिबोध से बेदखल हो रहे हम यह पहचान नहीं पा रहे है कि हमने क्या कुछ खो दिया है । विस्मृति कविता में मनमोहन कहते हैं –

"तो इस तरह स्पर्श से स्पर्श
यानी जल अलग हुआ
और उसकी जगह
खाली प्यास रह गई

किसी और दिन किसी और समय
मोटे काँच के एक सन्दूक में
बनावटी पानी बरसता है
जिसे वह लालच से देखता है
लगातार

पानी की कोई स्मृति
अब उसके पास नहीं है" [1]

जनप्रिय संस्कृति के स्मृति हीन दौर में अंतरंग संबन्धों की ऊष्मा संजोने का सांस्कृतिक कर्म कविता ही कर सकती है । जनप्रिय संस्कृति की उपभोगवादिता के प्रतिरोध में वह लोकसंस्कृति की जडों को तलाशती है । जिन शब्दों और प्रतीकों को जनप्रिय संस्कृति देशज और गँवारू कहकर टुकराती है उन्हीं शब्दों और प्रतीकों के अर्थ संदर्भ को कविता व्यापक लोकसंस्कृति के धरोहर के रूप में उजागर करके अपने सांस्कृतिक दायित्व को निभाती है । बरसों से जिन देशज शब्दों का प्रयोग हाथ से छूटता आया है उन शब्दों को फिर से प्रयुक्त करके कवि स्मृतिबोध को ताज़ा करते

[1] मनमोहन - जिल्लत की रोटी – प्र.सं 2006 - पृ.सं. 19

हुए अंधाधुंध उपभोगवादी संस्कृति का प्रतिवर्चस्व भी रचते हैं । जितेन्द्र श्रीवास्तव कहते हैं –

"जैसे बहुत दिन हुए
नहीं सुने मैंने
'विसुटुइया' और 'भकजोन्हिया' जैसे शब्द

बहुत दिन हुए
किसी के मुँह से
नहीं सुना 'तरकारी'
बहुत दिन हुए
मुझे भी
'भात' को 'भात' कहे
बहुत दिन हुए
मुझे भी
अपने मन को हाथ दिये "[1]

लोक संस्कृति हमेशा से ही बाज़ार के सस्ते मनोरंजन का प्रतिवर्चस्व रचती आयी है । पर समकालीन दौर में मीडिया की प्रतीक एवं बिंबविधानात्मक प्रणाली लोक संस्कृति को भी स्वयं बाज़ार का माल बना देने की रणनीती चला रही है । शम्भुनाथ कहते हैं – "खुली बाजार व्यवस्था के सामने सबसे बड़ी समस्या उपभोक्ताओं का लोक संस्कृति और राष्ट्रीय संस्कृति से गहरा संबंध है इस देश के उपभोक्ताओं में सांस्कृतिक पहचान की भावना अभी भी काफी मजबूत है । उनका प्रेम, सौंदर्य, नैतिकता, सादगी,त्याग और उच्चतर जीवन को लेकर बनी राष्ट्रीय

[1] जितेन्द्र श्रीवास्तव - असुन्दर सुन्दर - पृ.सं. 102

अवधारणाएं अभी मरी नहीं हैं । यदि ये चीज़ें समाज में जड़ जमाए रहीं, तब बहुराष्ट्रीय कंपनियां उठा चुकी नए आर्थिक सुधार का फायदा ! खुली बाजार व्यवस्था मुंह खोले रह जाएगी और एक मक्खी भी नहीं घुसेगी अंदर । इसलिए तीव्र चालित बाजार-व्यवस्था के हित में ऐसी कृत्रिम समूह संस्कृति का प्रचार जरूरी हो गया, जो उपभोक्ता जनता को लोक संस्कृति और विकासशील राष्ट्रीय संस्कृति की परंपराओं से विच्छिन्न करके एक संकुचित दृष्टिकोण की ओर ले जाए उसे अपने वास्तविक हितों के प्रति अचेतावस्था में फेंककर पहचानविहीन कर दे और उसके ऐतिहासिक हाथों से सामाजिक बदलाव की ताकत छीन ले "[1] लोक संस्कृति के प्रतिवर्चस्व के हर मुहिम को लगातार निरस्त करने की प्रायोजित प्रारूप जहाँ पृष्ठभूमि में तैयार हो रहा है। वहाँ कविता का दायित्व भी जटिल हुए बगैर नहीं रहेगा। समकालीन कविता आज लोक संस्कृति के प्रतिवर्चस्व को व्यापक उपभोगवादी जनप्रिय संस्कृति के विरुद्ध लगातार रणनीति की तरह प्रयुक्त कर रही हैं।

निष्कर्ष

समकालीन सामाजिक संबन्ध इस कदर पेचीदा है कि उसे विश्लेषित करने के लिए कोई तटस्थ जगह कहीं उपलब्ध न होने की स्थिति लगातार पैदा हो रही है । समकालीन कविता के सामने यह सबसे बडी चुनौती भी है । जिन वर्चस्वछवियों का प्रतिवर्चस्व उसे रचना है उसके लिए उसे पहले पूर्वाग्रहों से मुक्त होना चाहिए, नहीं तो वह जिसका प्रतिरोध करना चाहती है उसी का एक अंग बन जायेगी । प्रतीक एवं चिह्न व्यवस्थाओं से लैस समकालीन वर्चस्ववादी मुहिम आज सर्वाधिक संस्कृति, कला एवं साहित्य को अपने चंगुल में फँसाने की ताक में है । ऐसे में कला, साहित्य और संस्कृति का कोई स्वायत्त क्षेत्र शेष नहीं बचेगा। समकालीन हिन्दी कविता वर्चस्व के हर बहरूपिये से लगातार सतर्कता बरत रही है । हर पल बदल रहे समकालीन

[1] शंभुनाथ - संस्कृति की उत्तरकथा - पृ.सं. 177-178

राजनीतिक, अर्थिक और सांस्कृतिक संदर्भों की गहरी पडताल करती हुई वह वर्चस्ववादी बृहतर मुहिम में अकेले पडते जा रहे जन साधारण के पक्ष में खडी होती दिख रही है ।

राजनीति, आर्थिक और सांस्कृतिक संदर्भ में किसी एक में होने वाला एक छोटा सा परिवर्तन भी मानवीय सामाजिक संबन्ध को सिरे से बदलने की क्षमता रखती है। हमारी सोचने और समझने की सारी प्रणाली आज लगभग सुनियोजित रूप से तैयार की जा रही है। तकनीकी क्रांति ने हमें उस मुकाम पर लाकर खडा किया है जहाँ से हमें कुछ भी साफ-साफ दिखाई नहीं देता। हम लगातार 'आक्टीव कन्ज़ूमर' बनकर 'पासीव लाइफ़' गुजारने के लिए अभिशप्त है। हम क्या देखे, क्या खाये, क्या सोचे ये सब आज प्रायोजित रूप से तैयार किये जा रहे हैं। मनुष्य की सहज बुद्धि जहाँ हर स्तर पर धोखा खाती है वहाँ क्रांतदर्शी कवि ही एकमात्र सहारा रह जाता है। कविता आज असली की असलियत के प्रति पिछले किसी भी युग की अपेक्षा सतर्क है। यह सतर्कता ही समकालीन कविता को व्यापक मानव विरोधी मुहिम का प्रतिवर्चस्व रचने का संबल प्रदान कर रही है।

अध्याय पाँच

समकालीन हिन्दी कविता में लिंगभाव का बदलता स्वरूप

हिन्दी में लिंगभाव अंग्रेज़ी के 'जेंडर' का समानार्थी शब्द है । लिंगभाव दरअसल एक सांस्कृतिक निर्मिति है इसी कारण इसे लिंगभेद यानि सेक्स से अलग करके समझा जाता है। लिंगभाव और लिंगभेद को अलग-अलग समझना वैसे तो काफी वाद विवाद का विषय भी रहा है । नारीवाद के दूसरे लहर के साथ लिंगभेद और लिंगभाव को अलग-अलग समझने का सिद्धान्त ज़ोर पकडने लगा था । नारीवाद की दूसरे लहर की यह सबसे बडी कमी थी कि उसने लिंगभाव के सिद्धान्त को स्त्री और पुरुष के देह विभेद तक ही सीमित रखी थी । नब्बे के बाद लिंगभाव संबन्धी अवधारणा स्त्री और पुरुष देह के द्वन्द्व (Binary) से मुक्त होता देखा जा सकता है । समकालीन समय में लिंगभाव अस्मिता विमर्श के विशाल परिदृश्य को अपने में समेटा हुआ है । जूडिथ बटलर जैसे सैद्धान्तिकों ने लिंगभाव के इस बदलते स्वरूप को ठोस सैद्धान्तिक आधार भी प्रदान किया है । समकालीन कविता अब लिंगभाव को स्त्री और पुरुष देह के परे जाकर अभिव्यक्ति दे रही है । इतरलैंगिकता (Heterosexuality) के परे जाकर वह समलैंगिक, लेस्बियन, गे और ट्रान्स जेन्डर अस्मिताओं को भी अपना कन्टेन्ट बना रही है । लिंगभाव के इस बदलते स्वरूप को समग्रता में समझने के लिए पहले उसे स्त्री –पुरुष द्वन्द्व के तहत पहचानना ज़रूरी है ।

5.1 समकालीन कविता में स्त्री देह की राजनीति

जैविक धरातल पर स्त्री और पुरुष होना जीव-जन्तुओं के उत्तर जीवन का सबसे बडा राज़ रहा है । जहाँ एककोशीय जीवाणुओं में प्रजनन कोशिका विभजन से संभव हो सकता है वहाँ बहुकोशीय जीव जन्तुओं में उभयलिंगी प्रजनन व्यवस्था क्यों कर अस्तित्व में आयी यह जीव विज्ञान के लिए एक प्रहेलिका रही थी । जीव विज्ञान रेड क्यून हैपोथिसीस (Red Queen hypothesis) द्वारा इस प्रहेलिका को सुलझाती है । 'रेड क्यून' लूईस करल की विख्यात 'आलीस इन वन्डर लैन्ड' का एक पात्र है जो अपनी जगह पर बने रहने केलिए दौडती रहती है । इस कथा तन्तु के आधार पर

जीवविज्ञान ने रेड क्यून हैपोथिसीस को गढा। इस के मुताबिक जीव जन्तुओं को अपने स्थान पर बने रहने के लिए निरंतर परिवर्तित होते रहना लाज़मी है । कोशिका विभजन से जीव –जन्तु कभी भी नित परिवर्तन की क्षमतायें अर्जित नहीं कर सकते हैं जब कि उभयलिंगी प्रजनन व्यवस्था 23 क्रॉमसोम से 23 क्रॉमसोम मिलकर उत्तरजीवन की नवीन संभावनाओं वाली एक नये वंशज को जन्म देंगे। स्त्री और पुरुष के रूप में दो अलग-अलग संभावनाओं वाले जीव जन्तुओं से उत्पन्न नवीन संभावनाओं वाला वंशज उभयलिंगी प्रजनन व्यवस्था का आधार है ।[1] जैविक धरातल पर रूपायित यह विभेद मानव में पितृसत्ता के कायम होने के साथ स्त्री की जैविक स्थिति को अपदस्थ करने का आधार बना । इस प्रकार पितृसत्ता कायम होने के साथ स्त्री देह की सांस्कृतिक निर्मिति शुरू हुई । कहने का मतलब यह है कि स्त्री के ऊपर पुरुष वर्चस्व का कोई जैविक आधार नहीं है । यह महज़ एक सांस्कृतिक निर्मिति है। समाज विज्ञान विश्वकोश में कहा गया है - "नारीवाद द्वारा सत्तर के दशक में प्रवर्तित जेंडर की अवधारणा इस निष्कर्ष पर आधारित है कि स्त्री–पुरुष की सामाजिक असमानता का कारण केवल उनकी जैविक भिन्नता में ही नहीं देखा जाना चाहिए । इसीलिए नारीवाद सेक्स और जेंडर को अलग-अलग करके समझता है । उसकी मान्यता है कि जैविक भिन्नता के दैहिक और मानसिक प्रभावों को बढ़ा-चढ़ा कर पेश करना एक हथकण्डा है जिसके सहारे पितृसत्ता क़ायम रखी जाती है और स्त्रियों को समझा दिया जाता है कि उन्हें प्रकृति ने घरेलू भूमिकाओं के लिए ही बनाया है।"[2] वैसे तो जेंडर संबन्धी नारीवाद की दूसरी लहर की यह अवधारणा काफी वाद-विवाद का विषय भी रहा है । स्त्री और पुरुष के द्वय (Binary) को ही जेंडर कहना जूडिथ बटलर जैसे समाज शास्त्री स्वीकर नहीं करते हैं । फिर भी समकालीन समय में पुरुष वर्चस्व के प्रतिवर्चस्व में

[1] जीवन जॉब थॉमस - रति रहस्यम् – पृसं -47

[2] समाज विज्ञान विश्वकोश – संपादक – अभय कुमार दुबे – खण्ड 2 - पृ.सं -579

अपनी अवाज़ बुलंद करती स्त्री देह की राजनीति को पहचानने के लिए उसे स्त्री-पुरुष के द्वन्द्व में रखकर परखना नितांत ज़रूरी भी है ।

स्त्री को अपनी यौन दासी बनाये रखने के खातिर पुरुष के लिए स्त्री के देह पर कब्ज़ा करना ज़रूरी था। इसीलिए पितृसत्ता ने प्रारंभ से ही स्त्री देह पर नैतिकता के नाम पर पाबन्दियाँ कसना शुरू किया था । समय के साथ यह पाबन्दियाँ लिंगभाव के रूप में सामाजिक व्यवस्था का अंग बनता गया । समकालीन समय में भी हमारे बहुत सारे कानूनों में पितृसत्ता का यह वर्चस्व स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है । सामाजिक व्यवस्था में अन्तरभुक्त पितृसत्ता के बदस्तूर चले आ रहे इस वर्चस्व को रेखाकिंत करते हुए प्रमीला के.पी कहती हैं-"नागरिकता एवं राष्ट्रीयता को लेकर भी राजनैतिक पार्टियों तथा सत्ताधारियों के स्त्री-पुरुष मानक दोयम हैं । स्थान, मान, सम्मान, राजनीति, राज्य का स्थान आदि को लेकर विद्यमान नीतियां मानव अधिकार के उल्लंघनों की दास्तान हैं। इनको अनुशासित रखने के लिए जो संवैधानिक नियम एवं न्यायव्यवस्था बनाई हैं, वे भी पुरुषवर्चस्व से मंडित हैं। "[1] शारीरिक गढ़न के आधार पर स्त्री को दोयम दर्जे के मानने का सामाजिक रवैया इस कदर प्रत्यक्ष है कि समकालीन जीवन अनुभव में वह बहुत साधारण-सी बात है। पुरुष मानक पर चलने वाली हमारी इसी सामाजिक व्यवस्था पर व्यंग करते हुए हरिशचंद्र पाण्डेय कहते हैं –

"खेल के अंदर भी एक खेल ऐसा कि
महिला एकल के फइनल में जीती एक प्रतिभा
पुरुष एकल फइनल में हार गई प्रतिभा से
कमतर मानी गई है "[2]

[1] प्रमीला के. पी - कविता का स्त्री पक्ष – पृ.सं – 49
[2] हरिशचंन्द्र पाण्डेय – वागर्थ –जनवरी 2017 – पृ.सं 74

नारी की प्रतिभा को उसके शारीरिक गढन के आधार पर सामाजिक स्तर पर मान्यता न देने का रवैया तो समकालीन जीवन में हर कहीं देखा जा सकता है । चाहे खेल हो, सिनेमा हो, कला हो, साहित्य हो या अन्य कोई लोकप्रिय संस्कृति हो, हर स्तर पर उसकी स्थिति देह गढन के कारण दोयम दर्जे की है । सदियों से यह क्रम चली आ रही है और वह समकालीन जीवन परिसर में भी बदस्तूर है । इन्दु जैन कहती है –

"मैं जहाँ जब भी जाऊँगी
औरत की देह में रहूँगी

समझने लगी थी कि
अब मेरी उम्र मेरा कवच है
लेकिन अखबारों ने
बताया
कि औरत की उम्र सिर्फ उसकी देह होती है
वह गर्भवती हो , बच्ची, अधेड या बूढ़ी
इस्तेमाल की चीज़ रहती है । "[1]

इस प्रकार समकालीन जीवन में स्त्री के पास जो भी व्यक्ति वाचक संज्ञायें है उन सब को समाज जाति वाचक में बदल देता है। और उसकी वैयक्तिक सत्ता को उभरने का कोई मौका भी उपलब्ध नहीं कराता है। सर्वव्यापी पुरुषवर्चस्ववादी इस मुहिम के प्रति आख्यान में इन्दु जैन कहती हैं -

"मैं शर्तिया कह सकती हूँ
ऐसे मौकों पर
वह न औरत बनना चाहती है

[1] इन्दु जैन – नया ज्ञानोदय – मई 2003 – पृ.सं 12

न मर्द
कुछ और ही-
जिसे हम सही संज्ञा के अभाव में
इन्सान कह सकते हैं "[1]

इन्सान होने की स्त्री की जैविक सत्तात्मक स्थिति को लिंगभाव की सांस्कृतिक निर्मिति ने तहस नहस कर दिया है । ऐसे में स्त्री देह की यही राजनीति तय होती है कि वह वर्चस्ववादी पुरषसत्तात्मक समाज के प्रतिवर्चस्व में अपने स्वत्व को उभारे । समकालीन कविता स्त्री देह की इस राजनीति को विभिन्न स्तरों पर लगातार अभिव्यक्ति दे रही है । स्त्री शरीर के प्रति पुरुष मानसिकता के विभिन्न वर्चस्ववादी सांस्कृतिक प्रतीकों व छवियों को आज वह स्पष्ट पहचान करती है । वंदना देवेन्द्र कहती हैं –

"हर दफ़ा मेरे लिए
नये झूठ चुनकर रखते हो
ढेरों हैं वे तुम्हारे पास
अपने नैसर्गिक गुलाबी, नीले, पीले,
बहुत पहले, न जाने किस गंगा में धो चुके
तुम्हारे ख़जाने में सिर्फ रंगों की बेझड़ बची है
पहेलियों सी बहुअर्थि, पेचीदा ।

मेरे लिए कुछ नये नमूने रँग कर रखो
अच्छी कलई चढ़ाकर, चमकाकर कि

[1] इन्दु जैन - नया ज्ञानोदय – मई 2003 – पृ.सं 12

सच्चे मोती की आभा में
फिर ठगा जा सके "[1]

जब से मातृवंशीय परंपरा पितृवंशीय परंपरा में तब्दील होनी शुरू हुई तब से दुनिया की आधी आबादी को यौनदासी बनाये रखने के खातिर पितृसत्ता ने झूठ का सहारा लेना शुरू किया था । पर उस झूठ की कलई आज खुलती जा रही है । सदियों से जिन प्रतिकों ,बिंबों प्रत्ययों और उपसर्गों से स्त्री शरीर को महिमामंडित किया जा रहा था उन सब की सच्चाई आज जगज़ाहिर है । मोहनकुमार डहेरिया कहते हैं –

"स्त्री देह के बारे में दी गई है जितनी उपमाएं
सूक्तियों में कहा गया जो
उनसे उनकी देहों के बारे में कम
पुरुषों की मानसिक बनावट का ज्यादा पता चलता है
अब जबकि मैं खुद पुरुष हूं
समझ नहीं पा रहा हूं कैसे रखूं अपनी बात
उनकी देहों के बारे में "[2]

सामाजिक जीवन के व्यावहारिक बुद्धि यानी कॉमनसेन्स में पुंसत्व का वर्चस्व सवालों के परे नज़र आता है । सामाजिक रवैये में इस प्रकार स्थापित मान्यता को चुनौती देना कोई आसान कार्य नहीं है पर समकालीन कविता पूरे जद्धोजहद से इस चुनौती को स्वीकार कर रही है । प्रमीला के.पी कहती हैं – "यह स्त्री के सांस्कृतिक–सामाजिक दाखिले का दौर है । वक्त की विकरालताओं पर झांकते कवि की नज़रों ने एक जमीनी यथार्थ से टकराया कि उनके वर्णित परिणीता, प्रेयसी, देवी, मां,

[1] वंदना देवेन्द्र - आत्महत्या के पर्याय - पृ.सं -73
[2] मोहनकुमार डहेरिया- उनका बोलना – पृ.सं 22-23

सहचारिणी या श्रद्धा और विपरीत में कुलटा, वेश्या, कुलछनी, माया या विनोदिनी जैसे स्त्री प्रत्ययों में कहीं विधवा, मज़दूरिन, कामकाजी औरत, हक बोलनेवाली नारी तथा फैसला करनेवाली कार्यकारिणी आदि के उदाहरण छूट गये थे । आहिस्ते-आहिस्ते, शंकित होकर ही सही, इस प्रस्तुति से साहित्यिक, सांस्कृतिक तद्वारा सामाजिक थल में स्त्रीत्व के नए प्रतिमानों के रूपायन और वाचन होने लगे । सच्चाई यह है कि ये प्रतिमान वैश्विक विकास एवं मानसिक परिवर्तन के कारण संभव हुए थे ।"[1]

पुंसत्व के बने बनाये प्रतिमानों से बाहर आये बगैर स्त्री की यथार्थ स्थिति की सही पहचान मुमकिन नहीं है । समकालीन कविता को आज असली की इस असलियत की सही पहचान है । युवा कवियों की बहुत सारी कविताएं स्त्री को उनकी देह से मुक्त कर पहचानती हैं। इन में भी पुंसत्व के भीतर से स्त्रीत्व की पहचान बहुत महत्वपूर्ण है। पवन करण कहते हैं –

"वह मेरे भीतर उसी तरह खाली हाथ रहती है
जैसे खाली हाथ बाहर दुनिया की सारी स्त्रियाँ
उसे इस तरह रहता देख लगता है जैसे
उसने अपने बदन पर जो कपडे पहन रखे हैं
वे कपडे भी न हों उसके, उसने जो चप्पलें पहन रखी हैं
अपने पैरों में , वे भी न हो उसके नाप की

वह जो मेरे भीतर बैठी है , मुँह सिए चुपचाप
किसी दृश्य के लिए मुझे मानते हुए जिम्मेवार
होते हुए चाहती है देखना मेरे साथ संगसार

[1] प्रमीला के. पी - कविता का स्त्री पक्ष – पृ.सं – 34

किसी घटना के लिए वह थूकना चाहती है मेरे मुँह पर
किसी अन्याय के लिए चढ़ा देना चाहती है मुझे वह फँसी "[1]

सदियों से पुंसत्व ने स्त्री शरीर को जिन वर्जनाओं के बीच जकडे रखा है उससे स्त्री मन भी विशेष प्रकार से अनुकूलित हुआ है। बचपन से ही उसे उठने, चलने, बोलने और हँसने के तरीके सीखाये जाते हैं । लीला दुबे कहती हैं – "लड़की की चाल-ढ़ाल, उसके बैठने, खड़े होने, बात कहने तथा दूसरों के साथ व्यवहार करने के ढंग को काफी महत्व दिया जाता है । लड़की को बहुत हल्के कदमों से चलना चाहिए, इतने हल्के ढंग से कि उनकी पदचाप दूसरों को मुश्किल से सुनाई दे। लंबे-लंबे डग भरना मर्दानेपन का सूचक है। लड़कियों को कूदने-दौड़ने, किसी स्थान तक भाग कर जाने तथा एक टाँग पर फुदकने, उछलने के लिए प्रायः झिड़का जाता है । इन हरकतों को मर्दाने व्यवहार का सूचक तथा स्त्री के लिए अशोभनीय माना जाता है । हालाँकि लड़कियों के यौनत्व के प्रबंधन की दृष्टि से भी उन्हें स्त्रियों के लिए अनुचित माना जाता है –वे अपने शरीर के उभारों को अधिक दर्शनीय बनाने से लोगों का ध्यान आकृष्ट कर सकती हैं । लड़की को अपनी मुद्रा के बारे में सावधान रहना पड़ता है । उसे टाँग पर टाँग चढ़ाकर अथवा टाँगे फैलाकर नहीं बैठना चाहिए । बैठने, खड़े होने अथवा सोते समय दोनों घुटने परस्पर सटाए रखना 'शालीन' है तथा शर्म और भद्रता के भाव का सूचक है । "[2]

सदियों से चली आ रही ये पाबन्दियाँ समकालीन दौर में भी बदस्तूर हैं। नित नवीन तकनीकों से लैस अल्ट्रा मॉर्डेन समकालीन समय में भी भारतीय मध्यवर्गीय परिवार में नारी की स्थिति में कुछ खास परिवर्तन नहीं हुआ है । प्रमीला के.पी कहती हैं – "समय बदल गया है , सुविधाएं परिवर्तित हो गई हैं, पर घर का संगठनात्मक रूप

[1] पवन करण – स्त्री मेरे भीतर – पृ..सं 26
[2] लीला दुबे - (अनु. -वंदना मिश्र) लिंगभव का मानववैज्ञानिक अन्वेषणः प्रतिच्छेदी क्षेत्र – पृ.सं 108

अब भी नहीं बदला है । उस पर प्रश्न करनेवाला कोई नहीं, उसकी पितृदायकता निश्चल है । तभी इसका लोकतंत्रीय सुधार नागरिक कर्तव्य बनता है । समय एवं संस्कृति को सभ्यता के साथ मिला कर हर नागरिक की अदाकारी का सम्मान किसी भी समाज में ग्रहणीय कार्य है।"[1] पर यह यूं ही संपन्न होने वाला कार्य नहीं है । इस के लिए पितृ सत्ता द्वारा स्त्री शरीर पर लगायी जाने वाली हर पाबन्दियों का प्रतिरोध लाज़िमी है । अनामिका कहती हैं –

"कल में सोयी मिट्टी पर
घर सिंगार के नीचे
बीर बहूटी बनकर !
बीर और बहूटी ?
बेमेल लगता है न यह गठबन्धन !
बहु-बहूटी वगैरह को नहीं शोभती वीरताएँ
पर मिट्टी पर यानी खुले आसमान के नीचे
एक अकेली औरत का
ऐसे सो पाना
एक पराक्रम है पूरा !
अंदेसे चपकते रहे जुगुनुओं की तरह रात-भर,
फिर भी मैं सोयी, हाँ सोयी, बीर बहूटी बनकर !
सोयी कि जैसे सोयी थी खुसरों को गोरी –
अपनी सेज पर
मुख पर डारे केस
मैं सोयी सारी दिशाएँ ओढ़कर
चाँद हँस रहा था ऊपर !"[2]

एक अकेली औरत का बीर बहूटी बन कर सारी दिशाओं को ओढ़कर निश्चिन्त सोना पुंसत्व का प्रतिआख्यान है । सदियों से पुरुषवर्चस्व द्वारा अनुकूलित स्त्री मानस

[1] प्रमीला के.पी - कविता का स्त्री पक्ष – पृ.सं – 96
[2] अनामिका - दूब-धान - पृ.सं 32

समकालीन दौर में जाग चुका है । इसीलिए वह अपनी राजनीति तय करने हुए प्रतिवर्चस्व के स्वर को शिद्धत से उभार रही है ।

5.1.1 बाज़ार और स्त्री देह

बाज़ार के लिए स्त्री शरीर सबसे मुनाफेदार चीज़ है । स्त्री शरीर को भोग की चीज़ बनाये रखकर बाज़ार हमेशा यह जताता रहता है कि वह स्त्री मुक्ति के सब से बडा पैरोकार है । वर्चस्व की बृहत् छवियाँ स्त्री शरीर के इर्द-गिर्द रूपायित होती ही रहती हैं । उसे पहचानना पिछले समय के मुकाबले आसान भी नहीं रह गया है । चित्रा मुद्गल कहती हैं – "औरत को उत्पादन से मुक्ति दिलाने के नाम पर से ही प्रोडक्ट के रूप में प्रस्तुत कर रहा है कि औरत इसे समझ नहीं पा रही है । आप पुरुष की जांघिया बेच रहे हैं तो इसमें भी आपको लड़की की जरूरत पड़ती है ।"[1] स्त्री शरीर के इसी बाज़ार संदर्भ को ही मार्गरट अट्वूड (Margaret Atwood) यों रेखांकित करती हैं –"The female body has many uses.... It sells cars, beers, shaving lotion, cigarettes, hard liquor; it sells diet plans and diamonds, feeds desire in tiny crystal bottles. Is this the face that launched a thousand products? you bet it is,"[2] अर्थात स्त्री शरीर के बहुत सारे प्रयोजन हैं । वह कार, बीयर, शेविग्ङ लोशन, सिगरेट, मद्य आदि बेचता है साथ ही वह डयट प्लान और डयमेन्ड को भी बेचता है । यही तो स्फटिक बोतलों से हमारे आग्रहों को उत्तेजित कराता रहता है । यही वह चेहरा है जो बेशक हज़ारों उत्पादों को लॉज करता है ।

पवर शिफ्ट के समकालीन दौर में स्त्री वूमेन से पवर वूमेन बन गयी है । नयी विश्व व्यवस्था ने नारी के सामने अवसरों के नये-नये क्षितिजों को खोल दिया है । आज वह अपनी परिधि से निकल कर उन्नति की बुलंदियों को छू सकती है । वैश्विक नारी

[1] चित्रा मुद्गल - अलका सिन्हा से बातचीत में, नया ज्ञानोदय , नवंबर. 2004 – पृ.सं 83
[2] The female Body – Margaret Atwood – Michigan Quarterly Review April 2016 (492)

आत्मविश्वास से पूरित हो कर आसमान को अपनी मुट्ठीयों में बाँध रही है । विज्ञापनों में यह बराबर दिखाया जाता है कि दुनिया आज स्त्री के कदमों में निछावर है पर वास्तविकता जल्दी पकड में आने वाली चीज़ नहीं है । इन अपदानों के पीछे सक्रिय पुरुष वर्चस्ववाद को पहचानना बेहद ज़रूरी है । नारी मुक्ति की क़सीदा पठने वाला यह बाज़ार उसके जिस्म को बेचने के पूरे प्रबन्धनों से लबरेज़ है । प्रदीम मिश्र कहते हैं -

"ग्रीन रूम से निकलती हैं
रैम्प पर चलती हैं
सधे कदमों से
उनकी खुबसूरती पर पागल हो जाते हैं दर्शक

जज आँकते हैं बहुत कुछ
परिणाम के पन्नों पर
लड़कियों की आत्मा और शरीर की खुबसूरती
हाशिए पर हाँफ रही होती है
और एक वस्तु की गुणवत्ता की तरह
आँक ली जाती हैं सारी लड़कियाँ
X X X X X X X X X
जज की नीगाहों से बाज़ार तक
रैम्प पर चलनेवाली लड़कियाँ
कहीं नहीं पहुँच पाती हैं
हर बार ग्रीन रूम से निकलकर
ग्रीन रूम में पहुँचनेवाली इन लड़कियों को

आम की गुठली समझता है बाज़ार
सदियों से बाज़ार आम का शौकीन रहा है । "[1]

बेशक बाज़ार ने स्त्री को मुक्ति दिलाई है । सदियों से रसोई तक सीमित स्त्री को देहली लाँगने का हौसला समकालीन विश्व व्यवस्था ने ही मुहैया कराई है । अभय कुमार दुबे कहते हैं – "पूँजीवादी आधुनिकता के संसर्ग से महिलाओं के आंदोलन ने हज़ारों साल से चली आ रही स्त्री विषयक धारणाओं पर प्रश्न चिह्न लगाने में सफलता प्राप्त की, पूँजीवाद के विभिन्न चरणों में बाजार के फायदे के लिए महिला श्रम को घर के दायरे से निकालने की शुरुआत हुई ।"[2] पर घर के दायरे से निकल कर क्या स्त्री मुक्त हो पाई है ? आज आभासी यथार्थ का बृहद चंगुल स्त्री के शरीर को छवियों में बदलकर पुरुष कामुकता के सामने उसकी अनुमति के बिना ही परोसता जा रहा है । और आम धारणा भी बन गयी है कि स्त्री 'शरीर' के रूप में ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । प्रमीला के.पी कहती हैं - "सरकार हो या मल्टी नेशनल, मीडिया को अपने प्रभाव में डालने की बराबर कोशिश करती हैं । मीडिया भी मुनाफे की लालच में दायित्व भूलता है । इसलिए आदिवासियों के जीवन संघर्षों तथा मणिपूर की स्त्रियों के यौन-उत्पीड़न से बढ़कर फैशन शो और क्लब की पार्टियों पर कैमरे की आँखें फ्लैश करती है । इनको निजी चैनलों में लगातार दिखाकर अनपढ़ और गरीब किसान और गुलाम स्त्रियों में यह अहसास जताया जाता है कि जीवन का अर्थ इस तरह का मौज-मसाला मात्र है ! "[3] बाज़ार के इस बृहत् चंगुल से समकालीन कविता सचेत है । इसलिए वह स्त्री शरीर को बाज़ार के प्रति आख्यान के रूप में शिद्धत से उभार रही है । रंजना जायसवाल कहती हैं –

---

[1] प्रदीप मिश्र - वागर्थ जानवरी – पृ.सं 83-84
[2] पितृसत्ता के नये रूप – संपादक -राजेन्द्र यादव – पृ.सं 62
[3] प्रमीला के.पी – कविता का स्त्रीपक्ष – पृ.सं 132

"मैं स्त्री हूँ और जब मैं स्त्री हूँ
तो मुझे दिखना भी चाहिए स्त्री की तरह
मसलन मेरे केश लंबे
स्तन पुष्ट और कटि क्षीण हो
देह हो तुली इतनी कि इंज कम न छटाँग ज्यादा
बिल्कुल खूबसूरत डस्टबिन की तरह जिसमें
डाल सकें वे
देह, मन, दिमाग का सारा कचरा और वह
मुस्कुराता रहे –प्लीज यूज मी "[1]

प्लीज यूज मी यह एक वाक्य पूरी कविता के प्रतिवर्चस्व को बहुत सशक्त रूप से उभारता है । तीखे व्यंग्य से स्त्री शरीर को उपभोग की वस्तु बनाये रखने के बाज़ार के हर चंगुल का पोल कवयित्री यहाँ खोलती है । स्त्री को मुक्ति देने के नाम से बाज़ार ने स्त्री शरीर का बाजारू प्रतिमान रचकर उसे उपभोग की वस्तु बनाये रखा है । समकालीन कविता हर संभव स्तर पर इन प्रतिमानों को तोड़कर अपनी प्रतिवर्चस्व की राजनीति तय कर रही है । कात्यायनी कहती हैं –

"देह नहीं होती है
एक दिन स्त्री
और उलट-पुलट जाती है
सारी दुनिया
अचानक !"[2]

[1] प्रगतिशील वसुधा -रंजना जायसवाल – जनवरी-मार्च 2010 – पृ.सं 293
[2] Aajtak. Intoday.in कात्यायनी के जन्मदिन पर 'देह न होना' व उनकी स्त्री केंद्रित 5 कविताएं -

सदियों से सामाजिक निर्मिति के रूप में लिंगभाव ने स्त्री को जकडन में रखा था । समकालीन वैश्विक व्यवस्था ने उसे समाज के बने बनाये लिंगभाव के जकडन से आज़ादी देने की महान घोषणा की । पर वास्तव में हुआ यह है कि बाज़ार ने स्त्री शरीर के नये पैमाने तैयार किया और उसे और अधिक जकडनों में बाँधा । कामकाजी महिला के दैनिक जीवन में भी संचार माध्यमों ने समस्याओं के अंबार खडी की है । भूमंडलीकरण पोर्न इन्डस्ट्री , सेक्स टूरिज़म , ह्यूमन ट्राफिकिग्ङ और विज्ञापनों के माया लोक में स्त्री शरीर को उपभोग की वस्तु बनाकर रखता है । ये समस्यायें किसी भी स्तर पर हल होने के बजाय दिनों दिन जटिल होती जा रही है । डॉ श्यामबाबू शर्मी कहते हैं – "वैश्विकृत मीडिया नारी छवि के नए-नए रूपों को लाता गया है । भूमण्डलीकरण की व्यवस्था में स्त्री के लिए तमाम तरह के व्यवसाय पनपते गए । विज्ञापन जगत में उसे तगड़ी रकम मिलने लगी है । कॉर्पोरेट जगत, फैशन की दुनिया में औरत ने बुलंदियाँ छुई हैं । बाजार की कतर-ब्योंत, काइयांपन और कूटनीति में नारी पुरुष की तरह तिकड़म बिठाने वाली साबित हुई है । बाज़ार ने जिस प्रकार भूख, निद्रा और मैथुन का इस्तेमाल किया है उसमें भोग केन्द्र में रहा है । इन सबको पश्चिम से पूर्व और पूरी दुनिया में फैलाने की चुगलघुट्टी वर्तमान बाजारू इलक्ट्रॉनिक और प्रिंट मीडिया बखूबी कर रहा है । फिल्मों, विज्ञापनों तथा पत्र-पत्रिकाओं में नारी का जो रूप दिखाया जा रहा है वह वास्तव में आभासी और थोथा है।"[1] इन विकट परिस्थितियों में समकालीन नारी विमर्श पहले से अधिक सचेत है क्योंकि आभासी यथार्थ आज नारी मुक्ति के नाम पर पूरे नारी विमर्श के प्रतिवर्चस्व को उलटने की शक्ति रखती है । समकालीन कविता दिनोंदिन जटिल होती जा रही इन परिस्थितियों से वाक़िफ है । इसलिए वह जद्दोजहद से स्त्री को शरीर से मुक्त कर उस के वास्तविक स्वत्व को कविता में उजागर कर रही है ।

[1] डॉ श्यामबाबू शर्मा - भूमण्डलीकरण और समकालीन हिन्दी कविता – पृ.सं 328

5.2 लिंगभाव का बदलता स्वरूप

नारीवाद की तीसरी लहर के साथ लिंगभाव अर्थ विस्तार पाता है। नारीवाद की दूसरी लहर तक लिंगभाव स्त्री और पुरुष के द्वन्द्व यानि बैनरी (Binary) तक ही सीमित था । स्त्री और पुरुष को विभाजित करते हुए मानव समाज में स्त्री के ऊपर अपना वर्चस्व स्थपित करने वाली पितृसत्ता का प्रतिवर्चस्व नारीवाद की दूसरी लहर की सबसे बडी विशेषता थी। पर इस प्रतिवर्चस्व में भी पितृसत्ता द्वारा निर्मित द्विभाजित लिंगभाव केन्द्र में रहा था । अस्सी के बाद सभी केन्द्रीकरणों को प्रश्नांकित करती हुई नारीवाद की तीसरी लहर अस्मिता विमर्श के विशाल परिदृश्य के साथ उपस्थित होती है । अभय कुमार दुबे द्वारा संपादित समाज विज्ञान विश्वकोश के अनुसार – "अस्मिता का सवाल नारीवादी आंदोलन के लिए शुरू से ही केन्द्रीय रहा है । उन्नीसवीं सदी और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में पहली लहर के नारीवाद ने स्त्री को एक सार्वभौम मानव के आईने में देखने की स्थापना की थी । साठ और सत्तर के दशक में दूसरी लहर के नारिवाद ने आलोचनात्मक रुख अपनाते हुए इस सार्वभौम मानव को तत्वतः पुरुष क़रार दिया । यह आलोचना पुरुष और स्त्री के बीच जेंडर-विभेद पर आधारित थी। इस प्रक्रिया में मानव की सार्वभौमिक एकल श्रेणी दुहरी हो गयी । एक सार्वभौम स्त्री बनी और एक सार्वभौम पुरुष बना । अस्सी के दशक में स्त्री की यह सार्वभौम श्रेणी नस्ल, वर्ग, और सेक्शुआलिटी के आधारों पर आड़े हाथों ली गयी । विश्लेषण किया गया कि जिस स्त्री को पुरुष के बरक्स सार्वभौम कहा जा रहा है वह तो अनिवार्यतः श्वेतांग, उच्चवर्गीय और इतरलैंगिक मानकों पर चलनेवाली है । इस स्त्री का प्रभुत्व ग़ैर-श्वेत, निम्नवर्गीय और वैकल्पिक सेक्शुआलिटीज़ के दमन और खामोशी पर आधारित है । यह विमर्श स्त्री के लिए अस्मिता-बहुलता की संभावनाएँ लेकर

आया ।"[1] इस प्रकार नारीवाद की तीसरी लहर ने लिंगभाव के स्त्री -पुरुष द्विभाजन से आगे जाकर हाशिये के विविध अस्मिताओं को अपने में समा लिया ।

इतरलैंगिक संबन्धों के परे समाज में विद्यमान हर संबन्ध को संशय की दृष्टि से देखने वाले सामाजिक रवैये को प्रश्नांकित करते हुए नारीवाद की तीसरी लहर के सशक्त सिद्धान्त बनकर क्वियर सिद्धान्त (Queer theory) नब्बे में सामने आता है । जिस के सश्क्त पैरोकार थे जूडित बट्लर । समाज विज्ञान विश्वकोश के अनुसार – " बटलर का विमर्श क्वियर थियरी से जुड़ा है। एक विचार के तौर पर क्वियर का उभार समलैंगिक सेक्शुआलिटियों की राजनीति और एक हद तक नारीवादी राजनीति के कुछ पहलुओं के मिश्रण से हुआ है । नब्बे के दशक में इसके ज़रिये इयत्ता–रचना के कुछ सम्भव आयाम टटोले गये । क्वियर थियरी के तहत हाशियेकृत सेक्शुअलिटीज़ को अल्पसंख्यक राजनीति की तरह सूत्रबद्ध करने से बचा जाता है । यह थियरी केन्द्र और परिधि के द्विभाजन के पक्ष में नहीं है । क्वियर थियरी भिन्नता के नाम पर बने तरह-तरह के केन्द्रों के ख़िलाफ बग़ावत का संदेश देती है । वह उन भिन्नताओं के पक्ष में है जो आपस में गूँथी हुई है, अस्तित्व-बहुल और अर्थ-बहुल हैं और ठोस न होकर सरंध्र हैं ।"[2] मनुष्य में यौन अभिवांछाएं एक ही तरह रूपायित नहीं होती । जिस प्रकार मनुष्य का चेहरा और अंगूठे का निशान अलग-अलग होता है उसी प्रकार मनुष्य में यौन अस्मितायें विभिन्न प्रकार से रूपायित होती है । इन विभिन्न यौन अस्मिताओं को पितृसत्तात्मक व्यवस्था सदियों तक दबाती हुई आयी है और वह समकालीन दौर में भी बरकरार है । टिम स्मिथ का कहना है – " For butler, assumption about what is "normal" result in "non-normal" people having less fulfilling lives. With gender identities it is viewed as

[1] समाज विज्ञान विश्वकोश – खण्ड 6 – संपादक अभय कुमार दुबे – पृ.सं 2220
[2] समाज विज्ञान विश्वकोश – खण्ड 6 – संपादक अभय कुमार दुबे – पृ.सं 2221

"normal" for men to behave in masculine ways and women in feminine ways. Men who behave in feminine way or women who behave in masculine ways are considered abnormal or strange. They suffer prejudice, ranging from simple stares in the street to actual violence against them."[1] अर्थात् जूडिथ बट्लर के अनुसार जिसे हम मनुष्य के रूप में अपूर्ण मानते हैं उनकी सारी सहज और स्वाभाविक बातें हमें असहज लगती हैं । लिंगभाव के बने बनाये रवैये के तहत पुरुष का पुरुष की तरह बर्ताव करना और स्त्री का स्त्री की तरह बर्ताव करना सहज है । पुरुष का स्त्री की तरह बर्ताव करना और स्त्री का पुरुष की तरह बर्ताव करना उनके हिसाब से असहज है और वे सामाजिक रूप से उत्पीडन का शिकार होते हैं । अस्मिता के इस बृहद संदर्भ को क्रियर थियरी आज हमारे सामने प्रस्तुत करते हुए कह रही है कि हमें अपनी संकुचित समझ को विस्तर देना होगा ।

सामाजिक स्तर पर यौन अभिविन्यास (Sexual Orientation) पितृसत्ता के पूर्वाग्रहों के तहत ही रूपाइत हुआ था । जैविक स्तर पर यौन अभिवाछांएँ वैविद्य पूर्ण हैं । पितृसत्ता की यौन नैतिकता ने उन सब विविधताओं को प्रस्फुटित होने का अवसर न दे कर उन्हें हमेशा से दबाये रखी है । विशेषकर विक्टोरियाई नैतिकता ने पश्चिम के नैतिक वर्चस्व को पूरी दुनिया में थोपने का प्रयास किया है । मिशेल फूको ने पश्चिम के इन सारे हथकण्डों को अपनी 'हिस्टरी ऑफ सेक्शुआलिटी' में पोल खोल के दिखाया है । अभय कुमार दुबे द्वारा संपादित समाज विज्ञान विश्वकोश के अनुसार – "अस्सी के दशक की शुरुआत में मिशेल फ़ूको ने पश्चिमी समाजों में सेक्शुआलिटी का इतिहास तीन खण्डों में पेश किया । उन्होंने मानने से इनकार कर दिया कि होमो / हेटरो द्विभाजन कोई स्थिर और इतिहास से परे जाने वाली परिघटना है। फ़ूको ने बताया कि

[1] Smith –Laing Tim – An Analysis of Judith Butler's Gender Trouble - location 162 kindle edition

1869 से पहले होमोसेक्शुअलिटी और हेटरोसेक्शुअलिटी जैसे पद ही नहीं थे। इस द्विभाजन से पहले अट्ठारहवीं सदी में सेक्शुआलिटी को एक जैविकी आधारित सहज-वृत्ति मानने का आग्रह था । इसी के परिणाम स्वरूप सेक्शुआलिटी को व्यक्ति के स्वास्थ्य, उसकी रुग्णता और अस्मिता की कुंजी समझा जाने लगा । इसी तर्ज पर उन्नीस्वीं सदी में सेक्सोलॉजी का विकास हुआ । जनसंख्या नियंत्रण की विधियाँ निकलीं। सांख्यकी और जनसांख्यकी के अनुशासन विकसित हुए । ..... कुछ सेक्शुअल प्रवृत्तियों को स्वाभाविक माना गया, कुछ को विकृत और पथभ्रष्ट । इन श्रेणियों को यौन व्यवहार के मुताबिक व्यक्तियों पर आरोपित किया जाने लगा। फ़ूको ने दिखाया कि किस तरह इस विकास-क्रम के फलितार्थ ने होमो और हेटरो अस्मिताओं को सुदृढ़ किया । देह के विविध विज्ञानों ने मिल कर ज्ञान की जिस सत्ता का निर्माण किया, वह सेक्स यानि दैहिक आनंद के विज्ञान के साथ घुल-मिल गयी । इस मिश्रण में होमो सेक्शुआलिटी को विकृति के ख़ाने में डाल दिया।"[1] पितृ सत्ता का यह नैतिक वर्चस्व मात्र समलैंगिकता को ही नहीं किन्नर जीवन को भी दूभर कर दिया है । भारत में भी पहले विभिन्न प्रकार के यौन अस्मिताओं को सामाजिक मान्यता प्राप्त थी । खजुराहो के शिल्प कला से लेकर केरल के मंदिरों में चित्रित मुरल पेंटिग्ङ (Mural Painting) तक में यौन विविधताओं को भारतीय समाज किस प्रकार स्वीकार करता था यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित होता है । वेदों और पुराणों में भी यौन अभिवांछाओं की विविधता दृश्यमान है। समाज विज्ञान विश्वकोश के अनुसार "प्राक्-आधुनिक भारतीय संस्कृति में भी विभिन्न यौन पहचानों के लिए कहीं ज़्यादा गुंजाइशें मौजूद रही हैं । उस ज़माने में हिजड़ों को जो सामाजिक स्वीकार्यता प्राप्त थी वह समकालीन समाज में नहीं है। सूफ़ी और भक्त परंपराएँ उभयलैंगिकता पर आधारित

[1] समाज विज्ञान विश्वकोश – खण्ड 6 – संपादक अभय कुमार दुबे – पृ.सं 2082

मानी जाती हैं।"[1] यह जकडन विशेषकर आधुनिक ज्ञान मिमांसा के तहत ही उभरा था । समकालीन साहित्य आज इन यौन अभिविन्यास की सारी पितृसत्तात्मक गढ़त को हर संभव स्तर पर प्रश्नांकित कर रहा है ।

5.3 समकालीन कविता में किन्नर जीवन का यथार्थ

हिन्दी भाषा में ट्रान्सजेन्डर (Trance gender) के लिए समानार्थी शब्द आज भी एक समस्या है । उसे हिजडा , त्रितीय लिंग या किन्नर कहें, इस पर विद्वान एकमत नहीं है । हिजडा कहने पर सदियों से हिजडा शब्द के साथ जुडे हुए बहुत सारे वर्चस्ववादी अर्थ संदर्भ सहज ही उभरते हैं । त्रितीय लिंग कहने पर प्रथम और द्वितीय लिंग की व्याख्या अपेक्षित हो जाएगी । किन्नर कहने पर हिमालय के जनजाति से जुडे शब्द होने पर आपत्ती है । फिर भी किन्नर शब्द आज व्यापक रूप से ट्रान्सजेन्डर के समानार्थि रूप में प्रयुक्त हो रहा है । अन्य शब्दों की अपेक्षा किन्नर शब्द बहुत सारे पूर्वग्रहों से मुक्त भी है । इसीलिए अन्य पूर्वग्रह मुक्त शब्द के अभाव में ट्रान्सजेंन्डर के लिए किन्नर शब्द प्रयुक्त करना समीचीन होगा । अंग्रेज़ी में ट्रान्सजेन्डर शब्द ट्रान्स(Trance) और जेन्डर (Gender) मिलकर बना है । जो दोनों जेन्डरों के बीच होने की स्थिति को द्योतित कराती है।

उद्विकास क्रम में स्त्री और पुरुष के रूप में एक ही प्रजाति के दो अलग-अलग संभावनाएँ रखने वाले जीवों के मिलन से नये जीवन का प्रातुर्भाव उत्तर जीवन के लिए नितान्त ज़रूरी थी । पर यह क्रम प्रकृति ने कोई रैखिक तौर पर विन्यस्त नहीं किया है । विभिन्न संभावनाओं से होकर गुज़रना प्रकृति का चरित्र है । पर समाज के नज़र में किन्नर की यह जैविक स्थिति कोई मायने नहीं रखती । समाज के लिए आज भी किन्नर शरीर में जन्म पाना घोर अपराध है । पहले भारत में यह स्थिति नहीं रही थी ।

[1] समाज विज्ञान विश्वकोश – खण्ड 2 – संपादक – अभय कुमार दुबे – पृ.सं 580

आधुनिकता के बाद ही किन्नरों की स्थिति बदतर होती गयी है । अंग्रज़ों ने उन्हें क्रिमिनल जेन्डर करार दिया था । फ़ूको ने ज्ञान की इस वर्चस्व प्रणाली को अपने 'हिस्टरी ऑफ सेक्शुवालिटी' में स्पष्ट उकेरा है । भारतीय नैतिकता आज बहुत कुछ इन्हीं विक्टोरियाई नैतिकता पर आधारित है और इसी कारण से वह किन्नर अस्मिता को स्वीकार नहीं कर रही है ।

उत्तर औपनिवेशिक विमर्श वर्चस्व के इन सारे संदर्भों से भिडता है । सदियों से मानव जन्म पाकर भी मनुष्य होकर जीने से वंचित किन्नरों को वह अपना सामाजिक हक दिला रहा है । साथ ही यह विमर्श समाज के सामने बहुत बुनियादि सवालों को उभारते हैं । जूडिथ बटलर पूछती हैं – "If I am a certain gender, will I still be regarded as part of the human ? Will the "human" expand to include me in its reach? If I desire in certain ways, will I be able to live? Will there be a place for my life, and will it be recognizable to the others upon whom I depend for social existence? "[1] अर्थात अगर मैं एक विशेष प्रकार का जेन्डर हूँ तो मुझे मनुष्य की तरह देखा जायेगा? "मानवता" का दायरा मुझे भी समाहित करेगा ? अगर मेरी अभिवांछा अलग तरह की है तो मुझे जीने दिया जायेगा ? क्या यहाँ मेरे लिए कोई जगह है ? सामाजिक जीवन के लिए मैं जिस पर निर्भर हूँ वह मुझे मान्यता देगी ? ये सवाल दरअसल मानवता के मुख पर तमाचे की तरह पड रहे हैं । सदियों से किन्नरों के शरीर को अधूरा मानने की सामाजिक निर्मिति बदस्तूर चली आ रही है । वर्चस्व के इन सारे संदर्भों को प्रश्नांकित करना बेहद ज़रूरी है । समकालीन कविता आज यही कर रही है । एक तरफ समकालीन कविता किन्नर जीवन के यथार्थ को बेहद संवेदनात्मक धरातल पर उभारती है तो दूसरी तरफ वह रणनीति की तरह समाजिक निर्मिति के वर्चस्व का प्रतिवर्चस्व भी रच रही है ।

[1] Butler Judith – Undoing Gender - Kindle edition Location 42

समाज किन्नरों से लगातार कह रहा है कि उनकी देह अधूरी है पर इस अधूरेपन का कोई ठोस जीव वैज्ञानिक आधार भी नहीं है । एक जीन में होने वाला थोडा सा परिवर्तन उनके शारीरिक क्षमताओं को कुछ हानि नहीं पहुंचाती; बस उनकी यौन अभिवांछायें और शारीरिक गढ़न कुछ इतर रूपाइत होती है। पर समाज उसे सामाजिक रूप से अपाहिज करार देता है । अपने अधूरेपन की इसी कसक को अभिव्यक्ति देती हुई गीतिका 'वेदिका' कहती हैं –

"अधूरी देह क्यों मुझको बनाया
बता ईश्वर ! तुझे ये क्या सुहाया ?

किसी का प्यार हूँ, न कि वास्ता हूँ
न तो मंजिल हूँ, न मैं रास्ता हूँ
अनुभव पूर्णता का हो न पाया
अजब यह खेल, रह-रह धूप छाया,
अधूरी देह... "[1]

अधूरेपन का यह एहसास पुरुष सत्तात्मक समाज की सामाजिक निर्मिति होने के वजह से किन्नर समाज में बराबर बने रहते हैं । इस मनो ग्रन्थी से मुक्त होना पुरुष सत्ता के वर्चस्व का प्रतिआख्यान के लिए नितान्त ज़रूरी है । अपनी क्रॉसड्रेसर – एक कविता में आर चेतनक्रांति इसी संदर्भ की ओर इशारा करते हैं -

"मैंने उन्हें खूब देखा
जब वे बलात्कार कर रहे थे
गर्भ चीर रहे थे
ओठों और योनियों को भालों से दो फाड कर रहे थे

[1] गीतिका 'वेदिका' – अधूरी देह – पृ.सं 13

X X X X X X X X X X X X X X X X

नहीं , मैं फिर भटक गया
मुझे मर्दों की बात ही नहीं करनी थी
मुझे थोडे कम मर्दों की बात करनी थी
जैसा मैं था
और वे तमाम और जो मेरे जैसे थे

मुझे उनकी बात करनी थी
जो अपने मर्द होने से उकता उठे थे
मर्दानगी के ठसके पर जिन्हें मन्द-मन्द औरताना हँसी आने लगी थी
जो औरतों की सुन्दरता के शिकार हो गए थे
प्रेमी नहीं "[1]

कम मर्द होना कवि के लिए कोई हीनता ग्रन्थि नहीं है । कम मर्द हो कर कवि अपनी मानवीयता को पुरुष वर्चस्व की अमानवीयता के विरुद्ध स्थापित कर रहा है । मर्दानी के ठसके पर औरताना हँसी मर्दानगी की पूरी पोल खोल देती है ।

समाजशास्त्र को प्रायः क्रिटिक ऑफ कोमन सेन्स (Critique of common sense) कहा जाता है । क्योंकि वह हमारे व्यावहारिक बुद्धि में रची बसी मिथ्या संकल्पनाओं को प्रश्नांकित करता है । समाजशास्त्र के अनुसार ज्ञान एक सामाजिक निर्मिति है । उसके पीछे बहुत सारे राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक नियामक तत्व काम करते हैं । इसी कारण उसे सही संदर्भ में समझकर उसके पीछे सक्रिय वर्चस्ववादी रवैयों को पहचानना नितान्त ज़रूरी है । माक्स शेलर (Max Scheler) वह

[1] आर . चेतनक्रांति - GAYLAXYMAG September-24 - 2017 – www.gaylaxymag.com

पहला व्यक्ति है जिन्होंने समाजशास्त्र को इस व्यापक पैमाने पर परखा था । उन्होंने इसे 'ज्ञन का समाजशास्त्र' (Sociology of knowledge) नाम दिया । "Scheler analysed in considerable detail the manner in which human knowledge is ordered by society. He emphasized that human knowledge is given in society as an a priori to individual experience, providing the latter with its order of meaning. This order, although it is relative to particular socio historical situation, appears to the individual as the natural way of looking at the world "[1] अर्थात् शेलर ने पर्याप्त अवधानता के साथ यह परखा कि ज्ञान को समाज किस प्रकार नियंत्रित करता है । उन्होंने ज़ोर दे कर कहा कि वैयक्तिक अनुभव के पहले व्यक्ति को समाज द्वारा दिया जाने वाला ज्ञान अनुभूति के स्तर पर व्यक्ति को दुबारा मिलने वाले ज्ञान को नियंत्रित करेगा । यह क्रम विशेष सामाजिक राजनीतिक संदर्भ से जुडे होने के बावजूद भी व्यक्ति में दुनिया को देखने की सहज दृष्टि के रूप में काम करेगा । ऐसे में हमारे दिमाग में रची बसी इस ज्ञान के वर्चस्व को प्रश्नांकित करना बेहद ज़रूरी हो जाता है । हरीशचन्द्र पाण्डेय मर्दों और औरतों से अटी पड़ी इस दुनिया के इसी ज्ञान को प्रश्नांकित करते हुए कहते हैं -

"एक औरत होने के लिए
कपड़े की छातियाँ उभारे
ये औरतों की तरह चलने लगे हैं
और औरत नहीं हो पा रहे हैं
विद्रुप हारमानों और उदास वल्दियत के साथ
ये दुनिया के हर मेले में शामिल हो रहे हैं समूहों में

[1] Berger .L Peter – The Social Construction Of Reality – Kindle Edition - Page 8

नहीं सुनने में आ रही आत्महत्यायें हिजडों की
दंगे में शामिल होने के समाचार नहीं आ रहे
मर्द और औरतों से अटी पड़ी इस दुनिया में
इनका पखेरुओं की तरह चुपचाप विदा हो जाना
कोई नही जानता "[1]

ज्ञान की सामाजिक निर्मिति व्यावहारिक जीवन में बहुत से पाठ और उपपाठ को जन्म देती है । हिन्दी भाषा की लिंग व्यवस्था इस प्रकार की सामाजिक निर्मिति का एक पाठ है जो बहुत सारे उप पाठों को भी अपने में समाहित करती है । इन सारे पाठों और उप पाठों को विनिर्मित करना समकालीन हिन्दी कविता के सामने सबसे बडी चुनौती है । आर. चेतनक्रांति कहते हैं -

"चकित है हिन्दू
बलात्कार की विधियाँ सोचते, घूरते घात लगाए, चुपचाप देखते, सन्नद्ध
कि भीम के, द्रोण के देश में जनखापन छाया जाता है
कि एक ही आकृति में स्त्री आती है और पुरुष जाता है
कि दृश्य यह अद्‌भुत है
पूछते विधाता से हाथ जोड़कर प्रार्थना में
और शाखा में पवन-मुक्तासन बाँधकर संचालकजी से-
कि इस दृश्य का लिंग क्या है, प्रभो !"[2]

संस्कृति के बहुत सारे वर्चस्ववादी पाठों को विखण्डित करना किन्नर विमर्श के लिए आज बेहद ज़रूरी है । साथ ही उसे समाज की इस गढ़त और पूर्वग्रहों से अपने को मुक्त रखना भी नितान्त ज़रूरी है । एक लोकतांत्रिक जीवन प्रणाली को अपनाने

[1] हरीशचन्द्र पाण्डेय – समय की आवाज़ – संपादक कर्मेन्दु शिशिर – पृ.सं 164-165
[2] आर. चेतनक्रांति – शोकनाच – पृ.सं 49

वाले देश के लिए यह ज़रूरी है कि वह विभिन्न अस्मिताओं को स्वीकार करने में पूर्वाग्रहों से मुक्त रहे । पर दुनिया के सबसे बडा लोकतांन्त्रिक देश कहलाने वाले भारत में आज तक यह लोकतान्त्रिक जीवन प्रणाली विकसित नहीं हुई है । शोभा जैन कहती हैं – " किसी भी रूप में इंसान का होना अपने आप में एक जेंडर है उसे हीन भावना से देखना या फिर उसके प्रति अपनी संवेदनशीलता को छद्म कर देना मानवता और इंसानियत दोनों के लिए अभिशाप है । शायद इंसान होने के नाते इनसान का फर्ज इंसानियत का सम्मान और सुरक्षा होना चाहिए, न कि लिंग भेद जैसी ओछेपन से ग्रसित मानसिकता से उनका आँकलन विश्लेषण कर समाज को प्रदूषित करना।"[1] समाज को इस प्रदूषण से बचाने का दायित्व कला और साहित्य पर विशेष रूप से है । वर्चस्ववादी छवियों और पाठों के विरुद्ध वह नयी छवि और पाठों को गढ़ सकता है । वैसे तो समकालीन कविता में किन्नर विमर्श अपनी शैशवावस्था में है फिर भी जो कविताएं निकल रही हैं वह पुरुष वर्चस्व के मानकों पर चलने वाली यौन नैतिकता का प्रतिवर्चस्व शिद्दत से रूपायित करते हुए मानवता का नया पाठ लगातार रच रही हैं ।

5.4 समकालीन कविता में समलैंगिक संबन्ध

प्रायः यह माना जाता है कि इतरलैंगिक संबन्ध ही स्वाभाविक है और बाकी सभी लैंगिक अस्मिताएँ अस्वाभाविक है । स्वाभाविक और अस्वाभाविक को समाज अपने हिसाब से व्याख्यायित करता है। स्वाभाविक और अस्वाभाविक के इस द्विभाजन को प्रश्नांकित करना बेहद ज़रूरी है । प्रकृति के नियम के अनुसार कहकर हमारी सहज बुद्धि जिस यौन संबन्ध को स्वाभाविक करार देते हैं उसके पीछे बहुत सारी वर्चस्ववादी शक्तियाँ काम करती हैं। यह समझना बेहद ज़रूरी है कि प्रकृति के नियम के अनुसार कुछ भी अस्वाभाविक नहीं है, प्रकृति के नियम के अनुसार जो कुछ अस्वाभाविक होंगे वह घटने की कोई संभावना मौजूद ही नहीं रहेगी । उदाहरण के

[1] शोभा जैन - जनकृति अगस्त 2016 - पृ.सं 18

तौर पर न्यूटन के गति के त्रितीय नियम को लिया जा सकता है । इस नियम के अनुसार प्रत्येक क्रिया की सदैव बराबर एवं विपरीत दिश में प्रतिक्रिया होती है । यह नियम अन्य किसी प्रकार होने की कोई संभावना प्रकृति में मौजूद नहीं है। अगर होगी तो वह अस्वाभाविक होगी । इस दृष्टि से देखा जाए तो मानवीय संबन्धों का हर स्वरूप प्रकृति के नियम के अनुसार बिल्कुल स्वाभाविक है ।

प्रकृति का नियम कोई एकरैखिक नहीं है। वह विभिन्न संभावनाओं से होकर लगातार गुज़रता रहता है। विभिन्न संभावनाएँ अगर संभव हो रहीं हैं तो समझना चाहिए कि वह प्रकृति के नियम के अनुसार है । इस के साथ यह भी समझना ज़रूरी है कि आधुनिक ज्ञान मीमांसा ने ही स्वाभाविक और अस्वाभाविक के द्विभाजन के तहत मानवीय संबन्धों को विश्लेषित करने का प्रयास किया है । उसके पहले सहज स्वाभाविक रूप से ही विभिन्न लैंगिक अस्मिताओं को समाज स्वीकार करता था । मिशेल फ़ूको का संदर्भ देकर समाज विज्ञान विश्वकोश में कहा गया है "देह के विविध विज्ञानों ने मिलकर ज्ञान की जिस सत्ता का निर्माण किया, वह सेक्स यानी दैहिक आनंद के विज्ञान के साथ घुल-मिल गयी । इस मिश्रण में होमोसेक्शुआलिटी को विकृति के ख़ाने में डाल कर उसकी निगरानी और नियंत्रण की संरचनाएँ बनायी गयीं । इतरलैंगिक विवाह और मातृत्व को महिमामंडित करने का दूसरा पक्ष यह था कि पुरुष समलैंगिकता के ख़िलाफ क़ानून बनाये गये, और स्त्री समलैंगिकता को अदृश्य होने पर मजबूर कर दिया गया।"[1]

मनुष्य के दिमाग में यौन अभिविन्यास विभिन्न संभावनाओं के साथ रूपायित होती है जैविक स्तर पर ही विभिन्न संभावनाओं को बनाये रखना उत्तरजीवन के लिए नितान्त ज़रूरी भी है । पर मानव समाज ज्ञान की जो सामाजिक निर्मिति करता है वह

[1] समाज विज्ञान विश्वकोश – संपादक अभय कुमार दुबे – खण्ड – 6 पृ.सं 2082

इन संभावनाओं को रद्द करता जाता है । मनव समाज में व्याप्त समलैंगिकता से जुडी इन पूर्वग्रहों को वैज्ञानिक आधार पर सब से पहले प्रश्नाकिंत करने का कार्य आल्फ्रेड किन्सी ने किया था। "उन्होंने नतीजा निकाला कि अगर एक सिरे पर पूरी तरह हेटरोसेक्शुअल व्यवहार है और दूसरे सिरे पर होमोसेक्शुअल व्यवहार, तो उनके बीच में दोनों जेंडरों के प्रति आकर्षण की नुमांइदगी करने वाली सेक्शुअलिटी भी हैं । किन्सी ने यह भी कहा कि मनुष्य जीवन-भर इन सेक्शुअल श्रेणियों के बीच इधर-उधर होता रहता है । ज़ाहिर है कि किन्सी स्थिर सेक्शुअल अस्मिता को वैध नहीं मानते थे। एक पृथक समलैंगिक अस्मिता निर्मिति उनकी निगाह में समाज द्वारा होमोसेक्शुआलिटी को ख़ारिज करने की प्रतिक्रिया का परिणाम थी । हालाँकि किन्सी स्वयं एक जीवविज्ञानी थे, पर उनके अनुसंधान से सेक्शुअलिटी संबन्धी समाजशास्त्रीय चिंतन को काफी उछाल मिला।"[1] समकालीन कविता आज यौन नैतिकता की हर सामाजिक गढ़त को प्रश्नांकित कर रही है । वैसे तो समकालीन कविता में यह क्रियर विमर्श अपनी शैशवावस्थ में है फिर भी हमारे मन में रची बसी बहुत सारी वर्चस्व छवियों को वह प्रश्नांकित करती है । आर चेतन क्रान्ति कहते हैं-

"यह प्रेम के तरीकों पर शोध का दौर था
देह के देवत्व पर रात दिन काम चल रहा था
वात्सायन की एक टीका रोज बाजार में आती थी
और प्रेम प्रतिभोज में कड़ाहों की तरह जगह-जगह चढा हुआ था
खौल रहा था- पक रहा था "[2]

स्त्री शरीर और पुरुष शरीर के यौन अभिविन्यस का मानक आज बाज़ार तैयार करता है । ब्रान्ड हमें पूर्ण पुरष और पूर्ण नारी बनाने की ठीकों से भरा है । कंप्लीट मैंन और

[1] समाज विज्ञान विश्वकोश – संपादक अभय कुमार दुबे – खण्ड – 6 पृ.सं 2081
[2] आर. चेतनक्रांति – शोकनाच – पृ.सं 55

कंप्लीट वुमन बनने की चक्कर में यौन अभिविन्यास की विभिन्न संभावनाओं की ओर हमारी नज़र कभी नहीं जाती । इसी कारण जूडिथ बटलर पूछती है - "Why we only see two sexes when nature presents a whole spectrum of bodies between the two poles of male and female "[1] अर्थात् जब प्रकृति हमारे सामने देह के अनगिनत वर्णक्रम प्रस्तुत करती है, तब हम क्यों उनमें से सिर्फ दो ध्रुवों में स्थित भेद ही देख पाते हैं ? देह में स्थित वर्णक्रमों की इन अनगिनत संभावनाओं को उजागर करते हुए युवा कवि ऋषि राज कहते हैं –

"मेरा ख़याल ही हैं कुछ यूँ
क्या इसलिए मुझे नहीं स्वीकारा ?
या फिर इसलिए न स्वीकारा
क्योंकि मैं विचित्र हूँ

खुदा की ये परछाई तो देखो
वो कोरा कागज़
और मैं, सतरंगी- सा चित्र "[2]

पर सामाजिक गढ़त सतरंगी वर्णक्रमों को कभी उभरने ही नहीं देती । धार्मिक , सांस्कृतिक राजनीतिक और परंपरावादी बहुत सारी ऐसी जकडनें हैं जो यौन अभिव्यक्तियों पर दिन-रात पहरा रखती हैं । ऐसे में प्रेम पर लगाये जाने वाली इन वर्चस्व प्रणालियों के पहरे का प्रतिवर्चस्व रचना अनिवार्य हो जाता है । अतुल कनक कहते हैं –

[1] Smith-Laing Tim – An analysis of Judith Butler's Gender Trouble - Kindle edition Location 231
[2] ऋषि राज – अर्धनारीश्वर –अक्तूबर 22 -2017 – www.gaylaxymag.com

"कोई पहरा ही तो बैठाएगा मेरी पलकों में छुपी नींद पर
या ख्वाब में मुस्कुराने के अपराध पर जारी कर देगा फ़तवा
बताकर प्रेम को किसी मर्यादा का उल्लंघन
कि जीह्वें नफ़रत की सीयासत ही करनी होती है हमेशा
उन्हें मंज़ूर ही कब होती है प्रेम की कोई पुलक आसानी से ? "[1]

इतर लैंगिकता के परे रूपायित होने वाली हर यौन अभिवांछाओं को सदियों से समाज नफ़रत की दृष्टि से देखाता आया है । भारतीय दण्ड संहिता 377 समलैंगिक संबन्ध को कानूनी अपराध घोषित कर रखा था। हाल ही में उच्चतम न्यायालय ने इस धारा को असंवैधानिक करार देकर उसे रद्द कर दिया था । कोर्ट ने कहा है " एलजीबीटी समुदाय इसे कलंक के रूप में देखती हैं और गे सेक्स की अपराधिकता ख़त्म होने के बाद वे आज़ादी से एक साथ रह सकते हैं । ये कलंक इसलिए है क्योंकि उनके साथ अलग तरह से व्यवहार किया जाता है । एक बार समलैंगिकों के बीच यौन संबन्ध को अपराध की श्रेणी से बाहर कर दिया गया फिर वे सशक्त महसूस करेंगे ।"[2] भारतीय दण्ड संहिता की यह धारा 150 साल पुरानी है । यह विक्टोरियाई नैतिकता का एक अवशेष था जो पूर्ण रूप से अमानवीय था । युवा कवि षनिल राकेश कहते हैं –

"हैलो 377 आज मुझे तुमसे कुछ बातें कहनी हैं
मुझे ये जो ज़रूरत महसूस होती है
अचानक बेबाक कहने की –
मुझे उससे प्यार है, मुझे प्यार है उससे
और यह भी
कि उसके पंखों की उडान

[1] अतुल कनक - क्या होगा ज़्यादा से ज़्यादा – साहित्य वार्षिकी इंडिया टुडे – 2018 पृ.सं 220
[2] उद्दरण – बी.बी.सी न्यूज़ हिन्दी -18 जुलाई 2018 – WWW.BBC.COM

मेरी ही उडान है
वो बारिश भी उसी की है
जो मुझे ओस की तरह छू कर जाती है
X X X X X X X X X X X
तुम्हें हमारा प्यार पसंद नहीं ?
तुम जिस सख्त निगाहों से हमें देखते हो
जैसे हमें कैद कर देना चाहते हो
क्या तुम प्यार के रंगों को
कैद करना भी जानते हो ?
या उस शब्द को
जिसे मैं रोज़ सुबह
अपने जिस्म पर महसूस करता हूँ
क्या आजकल आकर्षण को भी कैद किया जा सकता है ?
तुम जानते हो क्या ?"[1]

आकर्षण को कैद कर रखने की झूठी नैतिकता तो सदियों से चली आ रही है । षनिल राकेश अपनी कविता में समाज की इसी रवैये पर सवालिया निशाना लगाते हैं और तीखे व्यंग से सदियों से अंधकार में रहने के लिए अभिशप्त मानवीय संबन्धों की वर्णराशी की विविधताओं को प्रति आख्यान के तहत उभारते हैं -

"काफी आश्चर्य हुआ था मुझे ये सुनकर
और हंसी भी आयी थी
150 साल की नफरत

[1] षलीन राकेश - हैलो 377 - GAYLAXY February 2014 www. Gaylaxymag.com

प्यार को काबू करने में कम पड़ गयी ?
तुम थक गये होंगे ना ?
तुम्हें आज एक दोस्त चाहिए
मेरा जैसा
X X X X X X X X
मेरे दोस्त
इसमें थकते नहीं
इसमें सिर्फ चलते हैं
बहुत तेज़ बहुत दूर – नफरत से !
नफरत से बहुत दूर
और बहुत आगे "[1]

शायद मनुष्य ने नफरत पर इतनी पाबन्दियाँ नहीं लगायी होंगी जितनी प्यार के रंगीलेपन पर लगायी होंगी । एक लोकतांत्रिक समाज को चाहिए कि वह पूर्वग्रहों से मुक्त हो कर हर किसी को अपनी वैयक्तिक रुचि और पसंद को साधने का मौका प्रदान करे । कहा जाता है कि भारत में अनेकता में एकता है पर व्यावहारिक जीवन में भारतीय समाज विविधताओं को स्वीकार करते हैं या नहीं यह बहुत अहम सवाल है । आज भी भारतीय समाज में समलैंगिक संबन्धों को सामाजिक मान्यता नहीं प्राप्त हुई है । ज्ञान की सामाजिक निर्मिति के बहुत सारे पूर्वग्रहों से हमारी मुक्ति अभी बाकी है । नफ़रत को समझने में हमें वह दिक्कत्त नहीं है जितनी प्यार को समझने में है । ऐसे में हमें लगातार जिरह करते रहना चाहिए कि प्यार की विविधताओं को हम क्योंकर स्वीकार नहीं कर पाते हैं । उत्तर औपनिवेशिक विमर्श आज हमारे इन्हीं पूर्वग्रहों पर सवालिया निशाना लगाते हैं । वैसे तो समकालीन कविता में मानवीय यौन संबन्धों की

[1] षलीन राकेश - हैलो377 - GAYLAXY February 2014 www. Gaylaxymag.com

विविधताओं को दर्शाने वाली कवितायें बहुत कम ही रची गयी है । फिर भी यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि जो कवितायें समलैंगिक संबन्धों पर लिखी जा रही हैं ये हमारे बहुत सारे पूर्वग्रहों को निर्मूल स्थापित करने में सक्षम हैं । ये कवितायें समलैंगिक संबन्ध रखने वालों की कोई अलग ख़ेमा समाज में निर्मित करना नहीं चाहतीं । ये कवितायें लगातार इसी कोशिश में हैं कि समाज बहुत ही सहज स्वाभाविक रूप से इन संबन्धों को स्वीकर कर लोकतान्त्रिक जीवन प्रणाली के तहत उन्हें सामाज में मान्यता प्रदान करें । यह बात भी सत्य है कि उभरता यह विमर्श समकालीन कविता में अपनी बालारिष्टतायें झेल रही है । फिर भी आशा की जा सकती है कि आगे आनेवाली कवितायें लोकतांत्रिक जीवन प्रणाली को मानवीय संबन्धों के विभिन्न रंगतों से सजाकर सौंदर्य चेतना का नया प्रतिमान रचेंगी ।

निष्कर्ष

जैविक धरातल पर किसी भी जीवजन्तु का उभयलिंगी होना उस जीव प्रजाति के उत्तर जीवन के लिए नितांत ज़रूरी है । जैविक विकास क्रम कोई एकरैखिक न होने के कारण ही उभय लिंगी प्रजनन व्यवस्था भी संभव हो सकी है । पर मनुष्य अपनी मिथकीय सामाजिक संरचना के तहत जैविक लिंग की अवस्था को सांस्कृतिक निर्मिति में बदल देता है । लिंगभाव की सांस्कृतिक निर्मिति स्त्री और पुरुष के दो लिंगों को ही मान्यता देती है और पुरुष को वरेण्यता प्रदान करते हुए सामाजिक संरचना के अनुक्रम में उसे सबसे ऊपर का स्थान प्रदान करती है । वैज्ञानिक विकास के इस युग में लिंगभाव की सांस्कृतिक निर्मिति निराधार साबित हो चुकी है। यौन अभिविन्यास जैविक रूप से ही अनेकों संभावनाओं को अपने में समाहित किये हुए है । पुरुष मेधा समाज की यौन नैतिकता के बहुत सारे पूर्वग्रहों के चलते आधुनिकता के प्रदुर्भाव के साथ लैंगिक अभिवांछाओं की विविधताओं को दबाया गया। पर उत्तर

औपनिवेशिक विमर्श ने हाशिये में बदलने के लिए विवश समाज की हर एक अस्मिता को आवाज़ बुलन्द करने का अवसर आज प्रदान किया है और इसी कारण मूलभूत मानवीय संवेदनाओं को वर्जनाओं के परे जाकर समझने का प्रयास साहित्य में भी लगातार उभरने लगा । समकालीन कविता भी मानवीय संवेदनाओं की इस मूलभूत स्थितियों को गहराई से अभिव्यक्त कर रही है। स्त्री देह की सांस्कृतिक निर्मिति से लेकर किन्नर तथा समलैंगिक संबन्धों तक को जिस हीन दृष्टि से समाज देखने को अभ्यस्त हुआ है उसकी सारहीनता को समकालीन कविता गहरी संवेदनात्मक धरातल पर उजागर कर रही है । एक नये विमर्श होने को नाते लिंगभाव के बदलते स्वरूप पर बहुत सारी आपत्तियाँ चस्पा की जा रही हैं, पर एक लोकतांत्रिक समाज को चाहिए कि वह विविध स्वरों को उभरने का अवसर प्रदान करें। समकालीन कविता आज लगातार बहुत सारे पूर्वग्रहों से अपने को मुक्त करती आ रही है । यह विमर्श हिन्दी कविता में अभी अपनी शैशवावस्था में होने के बावजूद सशक्त रूप से वर्चस्व प्रणालियों का प्रति आख्यान रचने में कामयाब हुआ है ।

उपसंहार

कविता को कालयात्री कही जाती है । काल के साथ चलने की कविता की इसी क्षमता ही उसकी जीवंतता का नियामक तत्व है, पर समकालीन समय इतना जटिल बन गया है कि समय को 'लोकेट' करने की सारी प्रविधियाँ लगातार निर्मूल हो रही हैं। सूचना प्रौद्योगिकी के विस्फोट के समकालीन युग में कविताएँ भी सूचनाओं से पार्थक्य नहीं रख सकती हैं । लगातार कविताएँ प्रकाशित हो रही हैं साथ ही कविता के लिए सोशल मीडिया का नया मंच भी उपलब्ध हुआ है । पर सवाल यह उठता है कि लगातार निकल रही इन कविताओं में कितनी कवितायें समय को सही ढंग से पकड पाती हैं ? यानि वर्चुअल दुनिया के वर्चस्व के बाहर कविता मूल मानवीय संवेदनाओं के विकल्प को समय से लडकर प्रतिस्थापित करने की क्षमता कहाँ तक रख सकती है ? वैसे तो इन सवालों का जवाब हाँ या ना में देना नहीं बल्कि वह गंभीरता मांगती है । प्रस्तुत शोध कार्य में मैंने अपनी क्षमता के अनुसार इन्हीं सवालों का जवाब पाने का प्रयत्न किया है ।

मानवीय संबन्धों का मूल आधार तो मिथकीय है। जैविक उद्विकास क्रम में मनुष्य ने अपने संबन्धों के सामाजिक स्वरूप को जैविक ज़रूरतों से बढ़कर इन्हीं मिथकों के आधार पर रूपायित किया था । समय के साथ वह लगातार कृत्रिम होता गया । आज मानवीय संबन्ध इस कदर पेचीदा हो गया है कि उसके भीतर सक्रिय वर्चस्व के बृहत्तर मुहिमों को पहचानना लगभग नामुमकिन-सा होता चला जा रहा है। अध्ययन के दौरान मैंने पाया कि मानवीय संबन्धों का जटिल रूप धारण करने के पीछे मनुष्य मस्तिष्क की अहम भूमिका रही है। एक तरफ मनुष्य में खोपड़ी के आकार ने प्रसव प्रक्रिया को संकीर्ण बनाया वही दूसरी तरफ अन्य जीव जन्तुओं की अपेक्षा विशाल मस्तिष्क ने आपसी संबन्ध को प्रगाढ़ बनाकर प्रसव प्रक्रिया की संकीर्णता को प्यार और आपसी रिश्तों के बलबूते पर मानव राशि के लिए सह्य और सहज बना दिया। उद्विकास क्रम में मनुष्य मस्तिष्क लगातार अद्वितीय क्षमतायें अर्जित करता

रहा । साथ ही मैंने पाया कि मानवीय संबन्ध किसी सुनिश्चित नैसर्गिक चारित्रिक विशेषता तक सीमित नहीं है, यानि उन्हें मूल रूप से क्रूर या करुणार्द्र कह पाना मुश्किल है। मानव मस्तिष्क का यह लचीलापन और सामाजीकृत होकर किसी मिथकीय आधार पर व्यवस्थित होने की प्राणाली ही सांस्कृतिक विविधताओं का मूल आधार है। ऐतिहासिक क्रम में इन सांस्कृतिक विविधताओं के आधार के रूप में धीरे-धीरे पुरुष वर्चस्व उभरकर आया।

पितृसत्ता के इस वर्चस्व के क्रम में रंग, रूप और वंश के आधार पर मनुष्य का विभिन्न खेमों में बंटना शुरू हुआ था। पहले धर्म ने पितृसत्ता के इस हाशिएकरण की प्रक्रिया को वैधता प्रदान करते हुए शुद्ध और अशुद्ध का द्विभाजन किया। बाद में जनपद राज्यों के उदय तथा साम्राज्यवादी आकांक्षा के क्रम में हम और वे में बंटे हुए मनुष्य सार्वत्रिक हो गया। आधुनिकता ने सदियों से चले आ रहे इस क्रम को प्रश्नांकित तो किया पर आधुनिकता भी अपने आप में बहुत सारी वर्चस्ववादी छवियों से लैस थी। उत्तर औपनिवेशिक विमर्श ने ही सबसे पहले हाशिएकरण की हर प्रक्रिया को प्रश्नांकित किया था। उत्तर औपनिवेशिक विमर्श में यह समझ विकसित हुई है कि अपनी जडों को फिर से तलाश कर ही बृहत्तर मानव विरोधी मुहिम का प्रतिरोध जताया जा सकता है।

समकालीन मानवीय संबन्ध आज जटिलताओं का एक पुलिंदा बन गया है। लगातार उभर रहे वर्चस्ववाद को पहचानने तथा प्रतिरोध जताने का हर उपक्रम प्रायोजित बृहत्तर मनव विरोधी बाज़ारू मुहिम के आगे बेअसर हो रहे हैं, पर लाख काहिली के बावजूद भी समकालीन कविता बुनियादी मानवीय संबन्धों की ऊष्मा को बरकरार रखने की ज़िद लिए बैठी है। समकालीन कविता के इस जीवट को नब्बे के बाद की कविताओं के संदर्भ में पहचानकर बृहत्तर मानव विरोधी मुहिम के बरअक्स

वह किस प्रकार अपना प्रतिवर्चस्व जाहिर कर रही है और मानवीय संबन्धों की ऊष्मा को किस प्रकार बरकरार रख रही है, इसे समझने का प्रयास प्रस्तुत शोध कार्य में हुआ है ।

समकालीनता को प्रायः आधुनिकता की अगली कडी के रूप में अभिहित किया जाता है पर यह समझना ज़रूरी है कि समकालीनता आधुनिकता से रैखिक विकास क्रम के रूप में नहीं उपजी है। आधुनिकता से बहुत कुछ आत्मसात करते हुए भी उसके केन्द्रीकृत वर्चस्व को तोडकर ही समकालीन कविता ने अपनी समकालीनता अर्जित की है। अस्सी में समकालीन कविता की भूमिका तैयार होती है और नब्बे के आसपास तब तक नगण्य रही विभिन्न अस्मिताओं को आवाज़ मुहय्या करा कर वह प्रतिवर्चस्व के विशाल परिदृश्य को सामने रख रही है। समकालीन कविता में लगभग चार पीढियाँ सक्रिय हैं । प्रारंभिक पीढ़ि के कवियों में स्मृति बोध से सघन केदारनाथ सिंह, लीलाधर जगूडी, चन्द्रकान्त देवताले, भगवत रावत, अरुण कमल, विनोद कुमार शुक्ल आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। स्मृतिहीनता के समकालीन दौर में इन कवियों ने स्मृति की सघनता से कविता को जडहीनता से बचाया है। नब्बे के बाद बहुत सारे युवा कवि समकालीन कविता के परिदृश्य में आये। अस्सी में जनपक्षधरता और लोक से जो जुडाव कविता में उदय पा चुका था वह इन कवियों के माध्यम से समकालीन कविता में और अधिक सशक्त हुआ। साथ ही कविता के सामने ऐसी चुनौतियाँ उभरकर आयीं जिसकी कल्पना भी नहीं की गयी थी। नब्बे के बाद समकालीन कविता के तेवर में आमूल-चूल परिवर्तन घटित होता नज़र आता है। उदारीकरण का दौर शुरू हुआ और कविता के स्वायत्त क्षेत्र को भी बाज़ार ने लील लिया । बृहत् वित्त प्रणालियाँ, प्रौद्योगिकी क्रान्ति, कार्पोरेट प्रबन्धन का महा अभियान और जनता का 'पैसीव भीड' में तब्दील हो जाने की नियति ने मिलकर जो 'कोलाश' तैयार किया है, उसके सामने कविता निरुपाय-सी प्रतीत होने लगी। कवि

कर्म के सामने उपस्थित हो रही इन उद्विग्नताओं और बेचैनियों से बच जाना कवि के लिए आसान नहीं है, जो कवि सच्चे अर्थ में समकालीन है वे लाख काहिली के बावजूद भी प्रतिवर्चस्व के स्वर को बुलंद करते हैं। वर्चस्ववाद के अनुकूलन और आत्मविसर्जन से बचते हुए जो कवि समकालीन परिदृश्य में रचनारत है उनसे काफी उम्मीद किया जा सकता है। राजेश जोशी, कुमार अंबुज, ज्ञानेद्रपति, वीरेन डंगवाल, मंगलेश डबराल, उदय प्रकाश, एकान्त श्रीवास्तव, विष्णु नागर, बद्री नारायण, पवन करण, ओमप्रकाश वाल्मीकि, अनामिका आदि ऐसे नाम है जो समकालीन विकट परिस्थिति में भी मानवीयता की ऊष्मा को बरकरार रखते हैं।

परिवार सामाजिक संरचना की मूलभूत इकाई है। वास्तव में स्वस्थ सामाजिक संबन्ध परिवार से ही शुरू होता है, पर समकालीन समय में पारिवारिक संबन्धों के बीच बदलाव इस तरह घर कर गया है कि 'घर' का पूरा वातावरण ही बदल गया है। समकालीन कविता पारिवारिक संबन्धों के बीच हुए इस बदलाव को विभिन्न स्तरों पर अभिव्यक्त कर रही है। लगातार कृत्रिम हो रहे पारिवारिक संबन्धों के बीच से अंतरंग संबन्धों की बुनियाद को पकडकर वह लगातार यह जता रही है कि मानवीय संबन्ध 'प्रेम' से पूर्ण रूप से खाली नहीं हुआ है। स्मृतिहीनता के समकालीन दौर में समकालीन कविता स्मृतिपुंज बनकर हमें मनुष्यता के वजूद की याद दिला रही है । समकालीन कविता में शायद ही कोई ऐसा संग्रह निकला होगा जिसमें पारिवारिक संबन्धों का ज़िक्र न हुआ हो ।

आभासी यथार्थ से घिरे हुए हम अपनी जडों से निरंतर कटते जा रहे हैं। ऐसे में कविता ही मूल मानवीय संसक्तियों के स्रोत को बचाए रख रही है। स्मृतिबोध से सघन समकालीन कविता हमें लगातार अपने स्वत्व से रू ब रू करा रही है। केदारनाथ सिंह के 'उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ', एकान्त श्रीवास्तव के 'बीज से फूल तक', विनोद

कुमार शुक्ल के 'अतिरिक्त नहीं', राजेश जोशी के 'चाँद की वर्तनी', अरुण कमल के 'नये इलाके में', नीलेश रघुवंशी के 'घर निकासी'आदि संग्रहों की कविताएँ हमें लगातार भूले हुए को याद दिलाती हैं। स्मृतिबोध से सघन इन कविताओं में उस उर्वर प्रदेश की ओर लौटने का आग्रह बदस्तूर है जहाँ मानवीयता अपने नैसर्गिक रूप में विद्यमान है, पर आभासी यथार्थ के समकालीन दौर में घर से 'प्रेम' बेघर हुआ है। उस प्रेम को फिर से पाकर मानवीय संबन्धों की बुनियाद को फिर से हरा-भरा करने का आग्रह इन कवियों की कविताओं में शिद्दत से अभिव्यक्ति पाती है। समकालीन कविता में घर की हरेक इकाई अपने पूरे वजूद के साथ अभिव्यक्ति पाती है, जिसमें सर्वाधिक सशक्त इकाई 'माँ' की है। दरअसल 'माँ' ही घर को घर बनाती है। हताश और निराश होने पर अनायास माँ की शरण में दौडना तो मनुष्य की फ़ितरत है। संबन्धों के बिखराव के समकालीन दौर में मातृछवि हमें आश्वस्त करती हुई दिल के अतल में कहीं रच बसी हुई है। समकालीन कविता बेहद संवेदनात्मक धरातल पर इस मातृछवि को उभारती है। अशोक वाजपेयी की 'धुँधली तसवीर' ,अनामिका की गृहलक्ष्मी-6 और सद्गृहस्थ, प्रयाग शुक्ल की 'एक रविवार को', सुशान्त सुप्रिय की 'माँ' , प्रियदर्शन की 'जब माँ आई', चन्द्रकान्त देवताले की 'माँ जब खाना परोसती थी' आदि कविताओं में मातृछवि काहिली के बीच समकालीन मनुष्य की आश्रयस्थली के रूप में गहरी संवेदना के साथ अभिव्यक्ति पाई है। समकालीन कविता में 'पिता' 'नॉस्टाल्जिया' बनने से बढ़कर देशज अस्मिता का स्मृतिबोध बनकर उभरा है। केदारनाथ सिंह की 'गाँव आने पर', 'कुदाल' 'बाघ' आदि कविताएँ पिता की इसी आदिम संस्कृति की ओर लौटने के जज़्बे से भरा है। साथ ही समकालीन कविता में पिता वृद्ध जीवन का यथार्थ लेकर भी उपस्थित हुआ है। जितेन्द्र श्रीवास्तव की 'ढूँढ़े तो क्या ढूँढ़ें', विष्णु खरे की 'दूरबीन', एकान्त श्रीवास्तव की 'पिता की घडी' आदि

कविताएं लगातार बदल रहे परिवेश के तहत पिता का स्मृतिबोध अप्रासंगिक होते जाने की त्रासदी का बयान करती है।

स्त्री-पुरष संबन्ध तो मानवीय संबन्धों का मूल आधार है। उत्परिवर्तन के क्रम में अन्य जीव-जन्तुओं की अपेक्षा मानव में स्वच्छन्द प्रेम (Romantic Love) उत्तर जीवन के निमित्त ही प्रगाढ़ रूप से रूपायित हुआ था। स्त्री-पुरुष प्रेम प्रसंग तो सदियों से साहित्य और कला का उपजीव्य रहा है। समकालीन कविता में स्त्री-पुरुष संबन्ध अपने पूरे संवेग, उद्वेग और मांसलता के साथ उपस्थित होकर भी स्त्री को भोग्या मानने की रीतिकालीन अश्लीलता से कोसों दूर है । प्रेम के उद्दाम क्षणों की अभिव्यक्ति समकालीन कविता में कोई वर्जित क्षेत्र नहीं है । वह पुरुषवर्चस्व को चुनौती देते स्त्री लेखन का महत्वपूर्ण हिस्सा है। पर स्वच्छंद प्रेम का समकालीन संदर्भ लगातार कृत्रिम होता जा रहा है। प्रेम के बीच कामुकता और बाज़ार लगातार हस्तक्षेप कर रहे हैं, ऐसे में समकालीन कविता पूरी सतर्कता से बदले हुए इस प्रेम और उसके परिवेश को उजागर कर रही है। अनामिका की 'गृहलक्ष्मी-5', जितेन्द्र श्रीवास्तव की 'किनारे', लीलाधर जगूडी की 'प्रेम का दखल', हेमन्त कुकरेती की ' जो बच सकते हैं', प्रयाग शुक्ल की 'प्रेम से भी बड़ी हो गई चीज़ें', सविता सिंह की 'मुक्ति के फ़ायदे', 'पसंद की जाने वाली स्त्री', रंजना जायसवाल की 'एक खबर को पढ़कर', पवन करण की 'टाइपिस्ट' आदि कवितायें प्रेम तथा उसके उत्तर संदर्भ को बहुत गहराई से संवेदित कराती हैं ।

पति-पत्नी संबन्ध तो स्त्री-पुरुष संबन्धों का संस्थागत रूप है जो पितृसत्ता के आधार पर रूपायित हुआ है। इसी कारण पारंपरिक भारतीय गृहस्थी में पति का वर्चस्व बदस्तूर कायम है । पति-पत्नी संबन्ध के बीच खाली जगह आज दिनोंदिन बढ़ रही है। एक तरफ पुरुष वर्चस्ववाद है तो दूसरी तरफ उसके प्रतिरोध में नव शिक्षित

नारी समाज उभर रहा है। सदियों से प्राप्त वर्चस्व के अहं को छोडने के लिए पुरुष तैयार नहीं हो रहे हैं, वही स्त्री मानवाधिकार की अवधारणायें निजी ज़िन्दगी में पुरुष वर्चस्व के प्रतिवर्चस्व के रूप में अमल में ला रही हैं । एक दूसरे को लोकतांत्रिक दृष्टि से समझे बगैर समकालीन समय में पारंपरिक घर बसाने का इरादा मूल रूप से मानव विरोधी होगा । समकालीन कविता इसी समझ को विभिन्न धरातलों पर उभर कर मानवीय संबन्धों में सबसे अनुपम प्रेम संबन्ध का नया लोकतांत्रिक सौंदर्यशास्त्र ही निर्मित कर रही है । हेमन्त कुकरेती की 'थोड़ा-सा वक्त', 'वह खोलती है दरवाज़ा', जितेन्द्र श्रीवास्तव की 'स्त्रियाँ कहीं भी बचा लेती हैं पुरुषों को', अनामिका की 'लेडीज संगीत', अशोक वाजपेयी की 'अलग-साथ समय', केदारनाथ सिंह की 'नमक', एम. षण्मुखन की 'पति-पत्नी' आदि ऐसी कविताएं हैं जो बदली हुई समकालीन परिवेश में पति-पत्नी संबन्धों को गहराई से संवेदित कराती हैं। साथ ही समकालीन कविता पति-पत्नी संबन्धों के बीच थोपी हुई नैतिकता का पोल भी खोलती है । स्त्री की यौन शुचिता के आधार पर रूपायित हर सांस्कृतिक, सामाजिक निर्मिति को समकालीन कविता ज़बरदस्त ढंग से तोड रही है । समकालीन कविता में जायज़ और नाजायज़ संबन्ध की यही परिभाषा है–जिस संबन्ध में प्यार है वह जायज़ है और जिस संबन्ध में प्यार नहीं है वह नाजायज़ है ।

समकालीन कविता में बदले हुए परिवेश के आधार पर घर की हर इकाई गहरी अभिव्यक्ति पाई है। उन सभी इकाईयों का विश्लेषण अध्ययन के इस छोटे कलेवर में कभी समा नहीं सकते । इसलिए परिवार की सबसे अहम इकाईयों को ही अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से शोध कार्य में शामिल की है । इस दृष्टि से बेटी परिवार की महत्वपूर्ण इकाई है। संवेदनाओं का पुंज होकर भी वह सदियों से वर्जनाओं के बीच पलती आई है। समकालीन हिन्दी कविता भारतीय पारिवारिक संदर्भ में लड़की की महत्वपूर्ण उपस्थिति को विभिन्न धरातलों पर गहरी संवेदनात्मकता के साथ

अभिव्यक्ति दे रही है । एक तरफ संवेदना के पुंज के रूप में उसकी अभिव्यक्ति हुई है तो दूसरी तरफ सदियों से चली आ रही जकडनों को तोडने की तीव्र अभिलाषा भी अभिव्यक्ति पाई है । राजेश जोशी की 'बेटी की विदाई', पवन करण की 'एक ख़ूबसूरत बेटी का पिता', नीलेश रघुवंशी की 'सत्रह साल की लड़की', विमल कुमार की 'ताला,' निर्मला पुतुल की 'बिटिया मुर्मु के लिए-3', सविता सिंह की 'नमन करूँ छोटी बेटियों को', आदि ऐसी कविताएँ हैं जो समकालीन पारिवारिक संदर्भ में संवेदना के पुंज बेटी की सशक्त उपस्थिति को शिद्दत से दर्ज करती हैं। बेटी के साथ समकालीन कविता में भाई-बहन संबन्ध ने भी सशक्त अभिव्यक्ति पायी है। नीलेश रघुवंशी की 'ढाबा आठ कविताएं' में से चौथी कविता भाई-बहन संबन्ध की प्रगाढता को बहुत गहराई से संवेदित कराती है। समकालीन कविता में भाई-बहन संबन्धों की प्रगाढता जहाँ एक तरफ संवेदना की गहराईयों को छूती है वहीं दूसरी तरफ समकालीन समय में कुल की खोखली मान-मर्यादा के खातिर भाई द्वारा गला घोंटकर मार दी जाने वाली बहनों की दारुण स्थिति की अभिव्यक्ति भी गहरी टीस के साथ हुई है। अनामिका की 'प्रेम के लिए फाँसी' कविता में भाई-बहन संबन्ध की इसी दरार को गहरी तल़खी के साथ अभिव्यक्ति मिली है।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से चाहे परिवार खून के रिश्ते पर आधारित हो पर मानवीय संबन्धों का बुनियादी स्वरूप हमेशा इन दायरों को मिटाकर बृहत्तर मानवीय परिवार का सदस्य बनने की ओर प्रवृत्त रहा है । इसी कारण समकालीन कविता दोस्त को परिवार के बाहर नहीं रखती। परिवार वाले जब चुभने लगते हैं तब समकालीन मनुष्य के सामने एक मात्र आसरा अपना पुराना दोस्त ही रह जाता है । भगवत रावत, लीलाधर मंडलोई, राजेश जोशी, अरुण कमल आदि बहुत सारे कवियों की कविता में 'दोस्त' बढती काहिली में एकमात्र आश्रय बनकर उभरा है । दोस्त के साथ समकालीन कविता में ऐसे बहुत सारे अनाम मानवीय संबन्ध भी अभिव्यक्ति पाये हैं जो

निर्धारित किसी संबन्धों की परिभाषा में चाहे न आ पाये, पर मानव होने के नाते बृहत्तर मानवीय परिवार के अंग होने की संवेदना से भरपूर हैं । किसी भी संकट में मानव प्रेम का उभरना अब मानवता का एक मात्र आसरा बन गया है। विनोद कुमार शुक्ल की 'हताशा से एक व्यक्ति बैठ गया था', अनिता वर्मा की 'इसी समय' आदि ऐसी ही कविता है जो पारिवारिक संबन्धों के इस विशाल संदर्भ को रेखांकित करती हैं ।

समकालीन सामाजिक संबन्ध जटिलताओं से इस कदर लैस है कि उसे सही ढंग से विश्लेषित करना भी लगातार दुसाध्य होता जा रहा है। वर्चस्ववाद की अनगिनत छवियाँ समकालीन सामाजिक जीवन में बदस्तूर है । प्रतीक एवं चिह्न व्यवथाओं से भरपूर समकालीन वर्चस्ववादी अमानवीय मुहिम आज संस्कृति, कला एवं साहित्य को अपने चंगुल में फँसा रही है । समकालीन जीवन से प्रतिरोध एवं प्रतिवर्चस्व का आधार लगातार निशेष होता जा रहा है । ऐसे में समकालीन हिन्दी कविता वर्चस्व के हर बहरूपिए से लगातार सतर्कता बरत रही है । हर पल बदल रहे समकालीन राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संदर्भों की गहरी पडताल करती हुई वह वर्चस्ववादी बृहत्तर मुहिम में अकेले पडते जा रहे जन साधारण के पक्ष में खडी होती दिख रही है । राजनीति का संदर्भ आज किसी प्रकार की शासन प्रणाली तक ही सीमित नहीं है । सामाजिक जीवन के हर स्तर आज राजनीतिक है । समकालीन कविता बेहद सजगता से बदले इस राजनीतिक संदर्भ को उजागर कर रही है। राजेश जोशी की 'एक शैतान से मुलाकात', 'इत्यादि', मंगलेश डबराल की 'नये युग में शत्रु', उमाशंकर चौधरी की 'रामदास 2', मदन कश्यप की 'भयावह समय', 'नीम रोशनी में', 'तमाशा' , हरे प्रकाश उपाध्याय की 'राजनीति', बद्रिनारायण की 'अपेक्षाएँ' ,'मोर नाच', नरेश सक्सेना की 'नक्शे' कुमार अंबुज की 'एक राजनीतिक प्रलाप', अरुण कमल की 'कुछ परिभाषायें', विमल कुमार की 'सर्वानुमति', रवीश कुमार की 'कांठ की कुर्सी,

काठ की लाठी' आदि ऐसी कविताएं हैं जो बदले हुए राजनीतिक परिदृश्य में लगातार इत्यादि में बदलने के लिए अभिशप्त मनुष्य के पक्ष में खडी होती हैं ।

उदारीकरण के समकालीन दौर में सब कुछ मुनाफ़े की नज़र से तोला जा रहा है । सामाजिक जीवन का कोई भी स्तर आज बाज़ार से मुक्त नहीं है । इस अर्थ व्यवस्था से आम लोग इस कदर आक्रान्त हैं कि वह सही गलत का निर्णय कर पाने में लगातार असमर्थ होते जा रहे हैं । बाज़ार के बृहत् चंगुल और ज्ञानात्मक प्रपंच की छवियों के बाहर मानवीयता कहीं रूपाकार ग्रहण करता हुआ नहीं दिख रही है । ऐसे में समकालीन कविता भू-मंडी का पोल खोल कर उसके व्यापक मानव विरोधी मुहिम से हमें आगाह कर रही हैं । ज्ञानेन्द्रपति की 'आज़ादी उर्फ गुलामी', 'शीत युद्ध की समाप्ति पर', पंकज राग की 'यह भूमंडल की रात है ', वंदना देवेन्द्र की 'बीच के लोग', भगवत रावत की 'मानो न मानो' , राहुल राजेश की 'झूठा सच', लीलाधर मंडलोई की 'बोध', कुमार अंबुज की 'अतिक्रमण', रंजना जायसवाल की 'आर्यावर्त में स्त्री-विमर्श', ए. अरविंदाक्षन की 'पेरियार का पानी', आदि ऐसी ही कवितायें हैं जो बाज़ार के बृहत्तर मानव विरोधी मुहिम का प्रतिरोध जद्दोजहद से करती हैं ।

समकालीन मनुष्य का सांस्कृतिक संदर्भ छवियों और बिंबों के बृहद संसार में फँसा हुआ है । सांस्कृतिक वजूद अर्जित करने के बदले बाज़ार उसे आज रेडिमेड रूप से मुहय्या करा रहा है । इसीलिए समकालीन मनुष्य के सामने सांस्कृतिक संकट किसी भी युग से बढकर है । समकालीन कविता इन जटिल परिस्थितियों का कोई तयशुदा समाधान पेश नहीं करती । वह लगातार उलझ रहे सामाजिक संदर्भों में से कुछ ऐसी मोहलतों को देती हैं जो मानवीयता से बेदखल हो रहे समाज को कुछ पल ठहरकर अपनी मानवीयता के बारे में सोचने केलिए बाध्य कराती है । भगवत रावत की 'सभ्यता और संस्कृति', ज्ञानेद्रपति की 'मशरूम वल्द कुकुरमुत्ता', संजय कुंदन की

'कालकथा', बद्री नारायण की 'सुभाषनगर', 'चूहे', लीलाधर मंडलोई की 'गुरुदक्षिणा', मनमोहन की 'विस्मृति' आदि ऐसी सशक्त कविताएँ हैं जो बदले हुए सांस्कृतिक संदर्भ को बारीकी से अभिव्यक्त करती हुई हमें संस्कृति के असली वजूद से रू ब रु कराती हैं ।

समकालीन कविता की बहुस्वरता केन्द्रीकरण की हर मुहिम का ज़बरदस्त प्रतिरोध करती हुई हाशिए की आवाज़ को बुलंद कर रही है । इसी कारण सदियों से हाशिए में रह रहे विभिन्न लिंगभाव समकालीन कविता में अभिव्यक्ति पा रहा है । लिंगभाव दरअसल एक सामाजिक निर्मिति है। मनुष्य अपनी मिथकीय सामाजिक संरचना के तहत जैविक लिंग की अवस्था को सांस्कृतिक निर्मिति में बदल देता है । लिंगभाव की सांस्कृतिक निर्मिति स्त्री और पुरुष के दो लिंगों को ही मान्यता देती है और पुरुष को वरेण्यता प्रदान करते हुए सामाजिक संरचना के अनुक्रम में उसे सबसे ऊपर का स्थान प्रदान करती है । इसी कारण ही आधी आबादी को सदियों से शोषण का शिकार होना पडा था। समकालीन कविता हर स्तर पर व्याप्त इस पुरुषवर्चस्ववाद का सशक्त प्रतिरोध कर रही है । हरीश चन्द्र पाण्डे की 'प्रतिभाएँ', इन्दु जैन की 'युद्ध में औरत', वन्दना देवेन्द्र की 'बेझड़', मोहन कुमार डहेरिया की 'स्त्री देह', पवन करण की 'स्त्री मेरे भीतर', अनामिका की 'पूरे चाँद की रात', कात्यायनी की 'देह न होना', प्रदीप मिश्र की 'रैम्प पर चलनेवाली लड़कियाँ' आदि कविताएँ सशक्त रूप से वर्चस्व की हर छवियों को तोड़कर स्त्री के वजूद को पूरी ईमानदारी के साथ अभिव्यक्ति दे रही हैं । ग्लैमरस दुनिया की वर्चस्व छवियों के बीच में यथार्थ और अयथार्थ की सही पहचान करती हुई ये कविताएं समझदारी के साथ अपना प्रतिवर्चस्व रूपायित कर रही हैं । इसके साथ समकालीन कविता में क्वियर विमर्श भी सशक्त अभिव्यक्ति पा रही है । पुरुष मेधा समाज की यौन नैतिकता के बहुत सारे पूर्वग्रहों की वजह से लैंगिक अभिवांछाओं की विविधताओं को दबाया गया है। समकालीन कविता इस

प्रकार दबायी गयी हर आवाज़ को बुलंद कर रही है। वैसे तो समकालीन कविता में किन्नर विमर्श और समलैंगिकता पर बहुत कम कविता ही प्रकाशित हुई है, फिर भी ये कविताएँ सशक्त रूप से पुरुष मेधा सामाज की थोथी नैतिकता को प्रश्नांकित करती हैं। आर.चेतनक्रांति की 'क्रॉस ड्रेसर', 'हिन्दु देश में यौन-क्रान्ति', 'कि जैसे रिक्शेवाले ने प्रेम किय हो', गीतिका 'वेदिका' की 'अधूरी देह', हरीशचंद्र पाण्डेय की 'हिजड़े', ऋषिराज की 'अर्धनारीश्वर', षनिल राकेश की 'हैलो 377' आदि ऐसी सशक्त कविताएँ है जो पुरुष वर्चस्व की थोथी नैतिकता से भिडकर लैंगिक अभिवांछाओं की सतरंगी आभा से हमें रू ब रू कराती हैं । मानव प्रेम को अपने संकुचित दायरे से मुक्त कर ये कविताएँ उसके के विशाल परिप्रेक्ष्य को उद्घाटित करती हैं।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि कविता मानवता का चिरंतन साथी रही है। मनुष्य के मनोविकारों को जितनी संवेदनात्मक अभिव्यक्ति कविता में मिलती है शायद उतनी अन्य किसी विधा से नहीं मिली होगी । मानवीय संबन्धों का हर स्तर कविता में संवेदनाओं की पूरी बारीकी के साथ सदियों से अभिव्यक्त होता आ रहा है । समकालीन हिन्दी कविता को भी मानवीय संबन्धों की यह बारीक पकड़ विरासत के रूप में मिली है। पर सूचना प्रौद्योगिकी से समकालीन समय में बुनियादी मानवीय संवेदनायें लगातार कुंद पडती जा रही है। हर स्तर पर वर्चस्ववाद की अनगिनत छवियाँ समकालीन जीवन में उभर रही हैं । इस छवि संसार में तटस्थ रह कर मूल मानवीय संवेदनाओं को उस के तह में जाकर प्रतिवर्चस्व के ताप को उभारने के कविता के सभी साधन लगातार निर्मूल भी होते जा रहे हैं। आभासी यथार्थ कविकर्म को लगातार शौक़ और 'स्टेट्स' के नये वर्चस्ववादी फँदे में फंसाता भी जा रहा है । पर लाख काहिली के बावजूद भी कविता मूल मानवीय संवेदनाओं से निशेष नहीं हुई है । मानवीय संबन्धों की ऊष्मा संजोकर हमें अपनी मानवीयता का अहसास दिलाती हुई जो कवितायें निकल रही हैं वह अपनी समकालीनता स्वयं सिद्ध कर रही है।

राजेश जोशी ने ठीक ही कहा था कि बाज़ार और हिंसा हमारे समय की आखिरी आवाज़ के रूप में शेष कविता को अभी तक मलिन या गुमराह नहीं कर सकी है। अपनी जीवंतता सिद्ध करती इन कविताओं से काफी आशा बाँधी जा सकती है ।

परिशिष्ट

शोध छात्र द्वारा प्रकाशित शोध आलेख

1 **कुमार विकल की कविताओं का लोकपक्षीय आयाम** – अनुशीलन - **ISSN -2249-2844 ANUSEELAN** – समकालीन साहित्य का लोक पक्ष -वर्ष 44, अंक -31 पृ.सं 68 – कोच्ची विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय कोच्ची -22 , जुलाई -2014

2 **समकालीन हिन्दी कविता में बदलते राजनीतिक संदर्भ** – अक्षर पर्व - **ISSN 2278-9766-** वर्ष 23 , साहित्यिक वैचारिक मासिक- नई दिल्ली 110001 - अंक 5 (पूर्णांक 227) पृ.सं 48 - अक्टूबर 2018

3 **सूचना प्रौद्योगिकी के संदर्भ में समकालीन कविता का उत्तरपाठ** – INTERNATIONAL JOURNAL OF HINDI RESEARCH -**ISSN 2455-2232** – Impact factor – RJIF 5.22 –Volume 4 , Issue 4 पृ.सं 17 .Jul- Aug 2018

4 **केदारनाथ सिंह की कविताओं में बदलते मानवीय संबन्धों का स्मृति चिह्न –**शोध- ऋतु – International Peer Reviewed Journal **– ISSN -2454-6283-** VOL -1 ISSUE -14 IMPACT -1.7216 पृ.सं 17 Oct-Dec 2018

5 **समकालीन मलयालम और हिन्दी कविता में बदलते सामाजिक संबन्ध –** परिवर्तन – साहित्य, संस्कृति एवं सिनेमा की वैचारिकी , त्रैमासिक ई- पत्रिका पांडिचेरी विश्वविद्यालय 605014 – **ISSN 2455-5169 –** पृ.सं 106 - वर्ष-4 अंक 12-13 अक्टूबर- मार्च 2019

6 **समकालीन कविता में सांप्रदायिक राजनीति का प्रतिरोध –** बोहल शोध मञ्जूषा International Multidisciplinary Quarterly Research Journal – **ISSN 2395-7115** Vol. 8 Issue 2. - पृ.सं 99 - October – December 2018 ,

प्रपत्र प्रस्तुति –

1 समकालीन हिन्दी कविता में बदलते सामाजिक संबन्ध – ***Three Day International Seminar On New Literatures, New Issues ,*** Govt. College for women, Thiruvananthapuram – 10-07-2018 to 12-07 2018

2 विज्ञापन की हिन्दी का चिह्न-शास्त्रीय स्वरूप प्रइमिग्ङ के संदर्भ में – ***Two Day International Seminar on National –International Perspective Of Hindi*** - , Department OF Hindi University Of Calicut Kerala , 10-11 August 2017

3 बदलते सामाजिक सम्बन्धों के संदर्भ में शिद्धत से स्वत्व को ढूंढती समकालीन प्रगतिशील कविता U.G.C NATIONAL SEMINAR ***Pragatisheel Chetana : Kavya evam Katha Sahitya mein*** . Department of Hindi SSUS Regional Center Ettumanoor – 16- 17 March 2017

4 समकालीन हिन्दी कविता में सांप्रदायिकता की असलियत का खुलासा – त्रिदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी – ***इक्कीसवीं सदी में हिन्दी साहित्यः प्रवृत्तियाँ एवं संभावनाएँ -*** हिन्दी विभाग, कालिकट विश्वविद्यालय , केरल 7,8,9 फरवरी 2019

संदर्भ ग्रन्थ सूची

अधार ग्रन्थ

1. अतिक्रमण	कुमार अम्बुज राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2002
2. अतिरिक्त नहीं	विनोद कुमार शुक्ल वाणी प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली 11002 प्र.सं 2001
3. अधूरी देह	गीतिका 'वेदिका' क्वालिटी बुक्स पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रिब्यूटर्स कानपूर -208016 प्र.सं 2016
4. अनभै कथा	जितेन्द्र श्रीवास्तव शिल्पायन प्रकाशन शाहदरा, दिल्ली 110032 संस्करण 2003
5. अनंतिम	कुमार अम्बुज राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड नई दिल्ली 110002 प्र.सं 1998

6. अपनी केवल धार	अरुण कमल वाणी प्रकाशन दरियगंज, नई दिल्ली 110002 तीसरा संस्करण .1999
7. अपने जैसा जीवन	सविता सिंह राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड जगतपुरी दिल्ली 110051 प्र.सं 2001
8. अरुण कमल, प्रतिनिधि कविताएँ	अरुण कमल राजकमल प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली प्र.सं 2013
9. अशोक वाजपेयी, प्रतिनिधि कविताएँ	अशोक वाजपेयी राजकमल प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2013
10. असुन्दर सुन्दर	जितेन्द्र श्रीवास्तव भारतीय ज्ञानपीठ 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया नई दिल्ली 110003 प्र.सं 2008
11. अस्पताल के बाहर टेलीफ़ोन	पवन करण राजकमल प्रकाशन प्रा. लि नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2009

12. आत्महत्या के पर्याय	वन्दना देवेन्द्र राजकमल प्रकाशन प्रा. लि नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2010
13. आसपास	ए. अरविन्दाक्षन गोविन्द प्रकाशन सदर बाजार मथुरा उ.प्र 281001 संस्करण 2003
14. इस पौरुषपूर्ण समय में	कात्यायनी वाणी प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली 110002 प्र.सं 1999
15. इस रूट की सभी लाइनें व्यस्त हैं	सुशान्त सुप्रिय अंतिका प्रकाशन ग़ाज़ियाबाद, उत्तर प्रदेश-201005 प्र.सं 2015
16. इन हाथों के बिना	नरेन्द्र पुण्डरीक बोधी प्रकाशन जयपुर राजस्थन 302006 प्र.सं 2015
17. उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ	केदारनाथ सिंह वाणी प्रकाशन नई दिल्ली -110002 प्र.सं 1999

18. उनका बोलना	मोहन कुमार डहेरिया भारतीय ज्ञानपीठ 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया नई दिल्ली 110003 प्र.सं 2004
19. उसके सपने	चन्द्रकान्त देवताले वाणी प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली -11002 प्र.सं 1997
20. एक जन्म में सब	अनितावर्मा राजकमल प्रकाशन प्रा.लि नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2003
21. ऐसी कैसी नींद	भगवत रावत वाणी प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली -11002 प्र.सं 2004
22. कभी जल कभी जाल	हेमन्त कुकरेती भारतीय ज्ञानपीठ 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया नई दिल्ली 110003 प्र.सं 2008
23. कहते हैं तब शाहंशाह सो रहे थे	उमा शंकर चौधरी भारतीय ज्ञानपीठ 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया नई दिल्ली 110003 प्र.सं 2009

24. कहना नहीं आता	पवन करण वाणी प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली -11002 प्र.सं 2012
25. कहती हैं औरतें	सं. अनामिका इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद प्र.सं 2003
26. कहीं नहीं वहीं	अशोक वाजपेयी राजकमल प्रकाशन प्रा.लि नई दिल्ली 110002 प्र.सं 1990, दूसरा सं 1995
27. कबाड़ी का तराज़ू	निर्मला गर्ग राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड जगतपुरी दिल्ली 110051 प्र.सं 2000
28. कवि ने कहा : चुनी हुई कविताएं	विष्णु नागर किताब घर प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली 110002 पेपरबैक संस्करण 2016
29. काला सफ़ेद में प्रविष्ट होता है	नरेन्द्र जैन आधार प्रकाशन पंचकूला, हरियाणा 134113 प्र.सं 2010
30. कुमार अम्बुज, प्रतिनिधि कविताएँ	कुमार अम्बुज, चयन विष्णु खरे राजकमल पेपरबैक्स नई दिल्ली-110002 प्र.सं. 2014

31. खबर का मुँह विज्ञापन से ढ़का है	लीलाधर जगूड़ी वाणी प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली -110002 प्र.सं 2008
32. खिलाड़ी दोस्त तथा अन्य कविताएँ	हरे प्रकाश उपाध्याय भारतीय ज्ञानपीठ 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया नई दिल्ली 110003 प्र.सं 2009
33. खुदाई में हिंसा	बद्री नारायण राजकमल प्रकाशन प्रा.लि नई दिल्ली -110002 प्र.सं 2010
34. घर निकासी	नीलेश रघुवंशी किताबघर प्रकाशन अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली प्र.सं 1997
35. चाँद की वर्तनी	राजेश जोशी राजकमल प्रकाशन प्रा.लि नई दिल्ली -110002 प्र.सं 2006
36. चार मूर्ति भवन	एम. षण्मुखन सूर्य भारती प्रकाशन, नई सडक दिल्ली 110006 प्र.सं 1996

37. चुप्पी का शोर	संजय कुन्दन भारतीय ज्ञानपीठ 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया नई दिल्ली 110003 प्र.सं 2004
38. जवाहर टनल	अग्निशेखर मेधा बुक्स नवीन शाहदरा दिल्ली – 110032 प्र.सं 2009
39. जवान होते हुए लड़के का कबूलनामा	निशान्त भारतीय ज्ञानपीठ 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया नई दिल्ली 110003 प्र.सं 2009
40. ज़िद	राजेश जोशी राजकमल प्रकाशन प्र.लि नई दिल्ली -110002 प्र.सं 2015
41. ज़िल्लत की रोटी	मनमोहन राजकमल प्रकाशन प्रा.लि नई दिल्ली -110002 प्र.सं 2006
42. दुश्चक्र में स्रष्टा	वीरेन डंगवाल राजकमल प्रकाशन प्र.लि नई दिल्ली -110002 प्र.सं 2002, दू. आवृत्ति 2015

43. दूब-धान	अनामिका भारतीय ज्ञानपीठ 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया नई दिल्ली 110003 प्र.सं 2007
44. देखा, बिन नाम के तुम्हें	प्रेमशंकर रघुवंशी नाशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली – 110002 प्र.सं 2010
45. दो पंक्तियों के बीच	राजेश जोशी राजकमल प्रकाशन प्र.लि दरियागंज , नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2000
46. नगाड़े की तरह बजते हैं शब्द	निर्मला पुतुल, रूपान्तर अशोक सिंह भारतीय ज्ञानपीठ 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया नई दिल्ली 110003 प्र.सं 2004
47. नये युग में शत्रु	मंगलेश डबराल राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड जगतपुरी दिल्ली 110051 प्र.सं 2013
48. नये इलाके में	अरुण कमल वाणी प्रकाशन नई दिल्ली 110002 प्र.सं 1996

49. नष्ट कुछ भी नहीं होता	प्रियदर्शन राधाकृष्ण प्रकाशन प्रइवेट लिमिटेड दरियागंज, नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2012
50. पच्चास कविताएँ, नयी सदी के लिए चयन	सविता सिंह वाणी प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली -110002 प्र.सं 2012
51. पत्थर की बैंच	चन्द्रकांत देवताले राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि दरियागंज, नई दिल्ली -110002 प्र.सं 1996
52. पिछला बाकी	विष्णु खरे राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड दरियागंज, नई दिल्ली 110002 प्र.सं.1998
53. बस्स ! बहुत हो चुका	ओमप्रकाश वाल्मीकि वाणी प्रकाशन दरीयागंज, नई दिल्ली 110002 प्र.सं 1997
54. बाघ	केदारनाथ सिंह भारतीय ज्ञानपीठ 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया नई दिल्ली 110003 प्र.सं 1998

55. मगर एक आवाज़	लीलाधर मंडलोई आधार प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड पंचकूला -134113 प्र.सं. 1999 द्व.सं 2002
56. महाकाव्य के बिना	लीलाधर जगूडी किताबघर प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली 110002 प्र.सं 1996
57. मुझे दूसरी पृथ्वी चाहिए	स्वप्निल श्रीवास्तव मेधा बुक्स प्रकाशन शाहदरा, दिल्ली 110032 प्र.सं 2004
58. मैं वो शंख महाशंख	अरुण कमल राजकमल प्रकाशन प्रा.लि नई दिल्ली 11002 प्र.सं 2012
59. यह भूमंडल की रात है	पंकज राग राजकमल प्रकाशन प्रा.लि नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2009
60. यहाँ कहाँ थी छाया	प्रयाग शुक्ल वाग्देवी प्रकाशन सुगन निवास, चन्दनसागर बिकानेर -334001 प्र.सं. 1999

61. रसोई की खिड़की में	सुनिता जैन अंतिका प्रकाशन गाज़ियाबाद, उत्तर प्रदेश – 201005 प्र.सं 2010
62. लिखे में दुक्ख	लीलाधर मंडलोई राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2010
63. वे फिर आये हैं	वंदना मिश्र वाणी प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली 11002 प्र.सं. 2011
64. शोकनाच	आर . चेतनक्रांति राजकमल प्रकाशन प्रा.लि नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2004
65. संशयात्मा	ज्ञानेन्द्रपति राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड नई दिल्ली -110002 प्र.सं 2004
66. सच पूछो तो	भगवत रावत राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड नई दिल्ली 110002 प्र.सं 1996

67. सपने में एक औरत से बातचीत	विमल कुमार आधार प्रकाशन पंचकूला हरियाणा 134109 प्र.सं 1992
68. समय की आवाज़	सं. कर्मेन्दु शिशिर आधार प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड पंचकूला -134113 प्र.सं. 2002
69. समय के पास समय	अशोक वाजपेयी राजकमल प्रकाशन प्रा.लि दरियागंज, नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2000
70. सिर्फ़ काग़ज़ पर नहीं	रंजना जायसवाल वाणी प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2012
71. स्त्री मेरे भीतर	पवन करण राजकमल पेपरबैक्स नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2006
72. स्त्रीशतक	पवन करण भारतीय ज्ञानपीठ लोदी रोड, नई दिल्ली -110003 दू.सं 2019

आलोचनात्मक ग्रन्थ

73. आज की कविता	विनय विश्वास राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2009
74. अतिक्रमण की अंतर्यात्रा -	प्रसन्न कुमार चौधरी वाणी प्रकाशन दयानंद मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2015
75. आलोचना से आगे, उत्तर-आधुनिकतावादि और उत्तर संरचनावादी विमर्श	सुधीश पचौरी राधाकृष्ण प्रकाशन प्रइवेट लिमिटेड दरियागंज,नई दिल्ली 1100022 प्र.सं 2000, पहली आवृत्ति 2006
76. आदिवासी अस्मिता का संकट	रमणिका गुप्ता सामयिक प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2013
77. आदिवासी स्वर और नयी शताब्दि	सं. रमणिका गुप्ता वाणी प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2002

78. इक्कीसवीं सदी का हिन्दी साहित्य: समय और संवेदना	सं.रवीन्द्रनाथ मिश्र राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि दरियागंज, नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2013
79. उत्तर आधुनिक साहित्य विमर्श	सुधीश पचौरी वाणी प्रकाशन दरियगंज, नई दिल्ली प्र.सं 2005
80. उत्तर औपनिवेशिकता के स्रोत और हिन्दी साहित्य	प्रणय कृष्ण हिन्दी परिषद् प्रकाशन इलाहाबाद विश्वविद्यालय वितरक लोकभारती , इलाहाबाद प्र.सं 2008
81. उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श और हिन्दी कविता	सं. पी रवि आधार प्रकाशन पंचकूला , हरियाणा 134113 प्र.सं 2011
82. उत्तर आधुनिकता और दलित साहित्य	सं. कृष्णदत्त पालीवाल वाणी प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2008
83. एक कवि की दूसरी नोट बुक समकालीनता और साहित्य	राजेश जोशी राजकमल प्रकाशन प्र.लि नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2010, दू.सं 2015

84. कविता का थल और काल
डॉ. ए अरविंदाक्षन
किताबघर प्रकाशन
नई दिल्ली-110002
प्र.सं. 2001

85. कविता का यथार्थ
सं. डॉ. ए अरविंदाक्षन
प्रकाशन हिन्दी विभाग
कोच्चिन विश्वविद्यालय
संस्करण 2003

86. कविता की संगत
विजय कुमार
आधार प्रकाशन प्रइवेट लिमिटेड
पंचकूला 134113 हरियाणा
प्र.सं 1995, तृतीय संस्करण 2012

87. कविता के पते-ठिकाने
विजय कुमार
वाणी प्रकाशन दरियागंज
नई दिल्ली 110002
प्र.सं 2014

88. कविता का स्त्रीपक्ष
प्रमीला के.पी
जवहर पुस्तकालय
हिन्दी पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता
मथुरा (उ.प्र) 281001
प्र.सं 2008

89. कविता के सौ बरस
सं. लीलाधर मंडलोई
शिल्पायन प्रकाशन
शाहदरा नई दिल्ली 110032
संस्करण 2013

90. कविता और समय	अरुण कमल वाणी प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली 110002 प्र.सं 1999
91. कवियों के बहाने वर्तमान पर बहस	डॉ.के.जी प्रभाकरन वाणी प्रकाशन ,दरियागंज नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2015
92. कामसूत्र से 'कामसूत्र' तक	सं. मैरी इ. जॉन और जानकी नायर अनुवाद अभय कुमार दुबे वाणी प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्लि 110002 हिन्दी संस्करण 2007
93. गोलमेज	अरुण कमल वाणी प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली -110002 प्र.सं. 2009
94. चिन्तामणी भाग 1	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल विश्वभारती प्रकाशन नागपूर 440002 संस्करण 2007
95. परिवार निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति	फ्रेडरिक एंगल्स अनुवादक नरेश 'नदीम' प्रकाशन संस्थान दरियागंज नई दिल्ली 110002 संस्करण 2014

96. परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम	पूरनचन्द्र जोशी राजकमल प्रकाशन प्रा.लि नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2009
97. पितृसत्ता के नये रूप	सं. राजेन्द्र यादव, प्रभा खेतान, अभयकुमार दुबे राजकमल प्रकाशन प्रा.लि दरियागंज, नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2003
98. प्रारंभिक भारत का परिचय	रामशरण शर्मा ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्रा.लि. नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2004 सातवाँ संस्करण 2015
99. प्रतिरोध की संस्कृति	बद्री नारायण वाणी प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2012
100.भारतीय संस्कृति का विकास (वैदिक धारा)	डॉ मंगल देव शास्त्री समाज विज्ञान परिषद् काशी विद्यापीठ , बनारस प्र.सं 1956
101. भूमंडलीकरण, ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र	प्रभा खेतान सामयिक प्रकाशन दरियागंज , नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2014

102. भूमंडलीकरण और ग्लोबल मीडिया	जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रिब्यूटर्स अंसारी रोड , दरियागंज नई दिल्लि 110002 प्र.सं 2008
103. भूमंडलीकरण और समकालीन हिन्दी कविता	डॉ. श्यामबाबू शर्मा विकास प्रकाशन कानपूर जवाहर नगर कानपूर 208012 प्र.सं 2014
104. मिथक और यथार्थ	दमोदर धर्मानंद कोसंबी अनुवादक नंदकिशोर नवल ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद सुभाष चौक लक्षमी नगर दिल्ली 110092 दूसरा हिन्दी संस्करण 2001
105. राजनीति की किताब: रजनी कोठारी का कृतित्व	सं. अभय कुमार दुबे वाणी प्रकाशन ,दरियगंज नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2003
106. लिंगभाव का मानववैज्ञानिक अन्वेषण: प्रतिच्छेदी क्षेत्र	लीला दुबे अनुवादव वंदना मिश्र वाणी प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्लि 110002 हिन्दी संस्करण 2004, आवृत्ति 2012

107. विकल्पहीन नहीं है दुनिया	किशन पटनायक राजकमल प्रकाशन प्र.लि. दरियागंज, नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2000, दूसरी आवृत्ति 2015
108. विचारधारा नए विमर्श और समकालीन साहित्य	जितेन्द्र श्रीवास्तव किताब घर प्रकाशन नयी दिल्ली 110002 प्र.सं 2013
109. संस्कृति के चार अध्याय	रामधारी सिंह दिनकर उदयाचल प्रकाशन पाटना संस्करण 1995
110. संस्कृति की उत्तर कथा	शंभुनाथ वाणी प्रकाशन दयानंद मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2000
111. समकालीन कविता और मार्क्सवाद	आशुतोष कुमार शिल्पायन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स शाहदरा, नई दिल्ली 110032 संस्करण 2010
112. समकालीन हिन्दी कविता	ए. अरविंदाक्षन राधाकृष्ण प्रकाशन प्रइवेट लिमिटेड नई दिल्ली -110002 प्र.सं 1998

113. समकालीन कविता की भूमिका
सं. विश्वंभर नाथ उपाध्याय, मंजुल उपाध्याय
मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया
प्र.सं 1976

114. सांप्रदायिक राजनीति तथ्य एवं मिथक
राम पुनियानी
वाणी प्रकाशन
दरियागंज, नई दिल्ली 110002
प्र.सं 2005

115. सेपियन्स मानव-जाति का संक्षिप्त इतिहास
युवाल नोआ हरारी
अनुवादक मदन सोनी
मंजुल पब्लिकोशन हाउस
मालवीय नगर, भोपाल-462003
हिन्दी संस्करण 2018

116. सौदर्य का तात्पर्य
प्रभाकर क्षोत्रीय
वाणी प्रकाशन
दरियागंज, नई दिल्ली 110002
प्र.सं 2006

117. स्त्री : उपेक्षिता
सीमोन द बोउवार, अनु. प्रभा खेतान
सरस्वती विहार
शाहदरा, दिल्ली 110095
दू.सं. 1991

118. हिन्दी साहित्य का इतिहास
सं. नगेन्द्र,डॉ हरदयाल
मयूर पेपरबैक्स
दरियागंज ,नई दिल्ली 110002
प्र.सं 1973,
सैंतीसवां पुनर्मुद्रण 2010

119. हिन्दी कविता अभी, बिल्कुल अभी — नंदकिशोर नवल
राजकमल प्रकाशन प्र.लि
दरियागंज, नई दिल्लि 110002
प्र.सं 2014

मलयालम् ग्रन्थ

120. मतवुम् मनुष्यनुम् — डॉ. एन.एम मुहम्मदाली
चिन्ता पब्लिषेर्स
तिरुवनन्तपुरम् ,वन्चियूर 695035
प्र.सं 2008

121. रति रहस्यम् — जीवन जॉब थॉमस
डी .सी बुक्स
कोट्टयम् 686001
प्र.सं 2013, दू.सं 2015

ENGLISH BOOKS

122. An Essay on the History of Civil Society — Ferguson Adam
Published by A. Finely,
North-East
Corner of Chesnut And Fourth Streets
William Fry Printer
Eighth Edition 1819

123. Blood Relations Menstruation and the Origins of Culture	Chris Knight Yale University Press New Haven and London First printed in paperback 1995
124. Contemporary India A sociological view	Satish Deshpande Penguin Random House India Haryana , Gurgaon 122002 First published in 2003
125. Cultural theory And Popular Culture An Introduction	John Storey Arrangement with Pearson Education Ltd. United Kingdome Published by Dorling Kindersley (India) Pvt. Ltd. Noida 201309 Indian Edition 2014
126. Primitive Marriage	J.F Mc.Lennan Publisher Edinburg Adam & Charles Black , First Published in 1865 Library- Cambridge University Library
127. The Eastern Origins Of Western Civilisation	M Hobson John Cambridge University Press Cambridge, CB2 2RU, New York, NY 10011-4211, First Published in 2004

कोश ग्रन्थ

1.अंग्रेज़ी-हिन्दी पारिभाषिक शब्दकोश	डॉ. हरदेव बाहरी राजपाल एण्ड सन्ज़ कश्मीरी गेट –दिल्लि 110006 संस्करण 2014
2.समाज विज्ञान विश्वकोश(6 खंड)	सं . अभय कुमार दुबे राजकमल प्रकाशन प्र.लि दरियागंज , नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2013, दू.सं 2016
3.हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली	डॉ. अमरनाथ राजकमल प्रकाशन दरियागंज , नई दिल्ली 110002 प्र.सं 2009 , दू.सं 2012
4.Oxford Dictionary of Sociology	Edited By John Scott Oxford University Press Great Clarendon Street U.K Forth Edition 2014

पत्र-पत्रिकाएँ

1.आलोचना	-	अप्रैल-जून 2009
2.कृति ओर	-	जूलाई 2004
3.नया ज्ञानोदय	-	मई-2003

4.नया ज्ञानोदय - नवंबर 2004

5.नया पथ - जूलाई- सितंबर

6.प्रगतिशील वसुधा - जनवरी-मार्च 2010

7.जन मीडिया - दिसंबर 2017

8.जन विकल्प - जनवरी 2013

9.पाखी - अप्रैल 2016

10.पल प्रतिपल - मार्च-जून 2004

11.वागर्थ - जून 2010

12.वागर्थ - दिसंबर 2012

13.वागर्थ - जनवरी 2014

14.वागर्थ - दिसंबर 2014

15.वागर्थ - मई 2015

16.वागर्थ - जनवरी 2016

17.वागर्थ - जूलाई 2016

18.वागर्थ - आगस्त 2016

19.वागर्थ - जनवरी 2017

20.वागर्थ - दिसंबर 2017

21.इंडिया टुडे - साहित्य वार्षिकी, 2018-19

22.इंडिया टुडे - साहित्य वार्षिकी, 2017-18

23.हंस - जनवरी 2000

E-BOOKS, E-MAGAZINE

1. भारत का इतिहास	रोमिला थापर राजकमल प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली 110002 प्र.सं 1975 सत्ताइसवाँ संस्करण 2015 Kindle Edition
2. Anatomy Of Love	Fisher Helen w.w Norton & company independent publishers New York – London Kindle edition
3. An Analysis Of Judith Butlers's Gender Trouble	Smith Laing Tim Macat International Ltd Kindle Edition 2017
4. Early India From Origins to Ad 1300	Thapar Romila Penguin Books Ltd, New Delhi Kindle Edition- 2015

5. Foundation of Attachment: theories	Best, Elizabeth Kirkley Department of Psychology University of Florida Paper Presented As part of the Degree program – 1980 Kindle Edition
6. Holy terror	Eagelton Terry- Oxford University press First published in 2005- Kindle edition
7. Homo Deus A Brief History of Tomorrow	Noah Harari Yuval Harper Collins Publishers First Published in 2017 Kindle Edition
8. Origin Of Family, Privet Property And The State	Engels Friedrich Penguin Books Ltd First Published in 1884 Published With New Introduction 2010 Kindle Edition

9. Orientalism, Western Concept Of The Orient	W. Said Edward Penguin Books Ltd First Published in 1978 Kindle Edition 2016
10. Sensory Marketing Aspects: Priming, Expectation, Cross modal Correspondences & more	Lintelle Peter Kindle Edition Publication Date Aug 2014
11. The Naked Man, A Study of the Male Body	Morris Desmond Vintage Books London First Published in 2008 Kindle Edition
12. The Social Construction Of Reality	L. Berger Peter And Luckmann Thomas Open Road Integrated Media Publishers New York First Published in 2011 Kindle Edition
13. The Great Indian Novel	Tharoor Shashi Penguin Books Ltd, New Delhi First Published In 2014 Kindle Edition

14. Undoing Gender — Butler Judith
Routledge Publishers
New York And London
270 Madison
Avenue
First Published in 2004
Kindle Edition

15 हिन्दी साहित्यकोश भाग-1 — सं. धीरेन्द्र वर्मा
http://www.epustakalay.com .

16. http://www.theguardian.com online magazine 18 Jan 2011

17 http://www.bbc.co.uk BBC International Magazine -On Air -July 2004

18. http://quod.lib.umich.edu>mqr Michigan Quarterly Review, Atwood, Margaret, The Female Body , April 2016

19. http://www.gaylaxymag.com/hindi/crossdresser-a-poem क्रॉस ड्रेसर- आर चेतन क्रान्ति

20 http://www.galaxymag.com/hindi/ardhanarishvar/#gs.f2hbz8 कविता अर्धनारीश्व- ऋषि राज

21. http://www.gaylaxymag.com/hindi/hello-377-a-poem/#gs.f2hy82 कविता हैलो 377 -षनिल राकेश

22. http://www.jankrithypatrika.com अगस्त 2019 थर्ड-जेंडर विशेषांक

ऑनलाईन स्रोत

1 http://www.ted.com/talks/vsramachandran the neurons that shaped civilization

2 http://www.simpleypsychology.org/attachment

3 http://baratdiscovery.org/india

4 http://radicalanthropologygroup.org

5 http://www.hindisamay.com नामवर सिंह – हिन्दी नवजागरण की समस्यायें

6 http://www.janjwar.com जन ज्वार ब्लोग स्पाट अप्रैल 2018 ,

7 http://www.bbc.com>hindi 24 मई 2011

8 http://www.m.timesofindia.com 21 May 2013

9 https://hi.wikipedia.org/wiki/ पुनर्जागरण

10 http://samalochan.blogspot 29/05/2012 सबद भेद भगवत रावत की कविता

11 http://aajtak.indiatoday.in/story/katyayani-best-women-poems-on-her-birthday-1-1081839.htm कात्यायनी के जन्मदिन पर 'देह न होना' वा उनकी पाँच कविताएँ